हिन्दी-वाङ्मय का विकास

आदिकाल से लेकर आज तक की साहित्यिक
प्रगति का समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक
डॉ० सत्यदेव चौधरी
शास्त्री, एम. ए (संस्कृत, हिन्दी) पी-एच. डी.
प्राध्यापक–हंसराज कालेज (दिल्ली विश्व-विद्यालय), दिल्ली

प्रकाशक
मेहरचन्द्र लछमणदास,
दरियागंज, दिल्ली–७
सन् १९५७

प्रकाशक
मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास,
दरियागज, दिल्ली-७ ।

190143

प्रथम संस्करण २०००
वि. सवत् २०१४ शकसवत् १८७९

सर्वाधिकार प्रकाशको के अधीन हैं

809-H/585

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दरियागंज
दिल्ली ।

डॉ० नगेन्द्र

को

जिन्होंने अपने जीवन से अध्यवसाय और चिन्तन का पाठ तो पढ़ाया, पर हमने यह पाठ क्यों न स्मरण कर लिया—यह कभी न पूछा।

सादर समर्पित

प्रस्तावना

अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों तथा नवीन अनुसन्धानो के आधार पर हिन्दी-वाङ्मय-सम्बन्धी सामग्री इतनी उपलब्ध होने लगी है कि उसको समक्ष मे रखकर छात्रो के हित के लिए उसे यथासम्भव सकलित करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत प्रयास इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है। परिणामतः इस ग्रथ में न केवल नवीन धारणाओं का सम्यक् समर्थनपूर्वक समावेश किया गया है, अपितु सद्यः प्रकाश में आये प्राचीन कवियों एवं उनकी कृतियों को भी यथोचित उद्धरणो के साथ समुचित स्थान दे दिया गया है। इतना सब होते हुए भी सरलता और सुबोधता के साथ सुव्यवस्था का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। हमारा विश्वास है कि ऐसा एकत्र-सकलन तथा उसका छात्रोपयोगी सुव्यवस्थापूर्ण सम्पादन अन्य उपलब्ध इतिहास-ग्रन्थो में अलभ्य है।

इस ग्रन्थ की अन्य विशेषता है प्रत्येक काल की विशिष्ट तथा उल्लेख्य परिस्थितियों का क्रमबद्ध निर्देश तथा उनका तद्युगीन हिन्दी-साहित्य के साथ समन्वय। साहित्य समाज का कहाँ तक अनुगामी रहता है, अथवा प्रतिगामी तथा कहाँ तक उससे उदासीन भी रहता है—छात्रो को इसका ज्ञान इन स्थलों से भली प्रकार हो जायगा।

खडीबोली को छोड़ कर हिन्दी भाषा के विभिन्न प्रकारो की रूप-रचना के सम्बन्ध में भी परिचिति प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ की अन्यतम विशिष्टता है।

इस ग्रन्थ की अन्तिम विशिष्टता यह है कि इसमें अधिकांशतः उन प्रतिनिधि लेखको तथा उनकी कृतियों की यथावत् समीक्षा प्रस्तुत की गई है, जिनके साथ उनका पाठ्य पुस्तको के माध्यम से प्रायः सम्बन्ध रहता है।

आशा है लेखक का समुचित दिशा में किया गया यह प्रयास न केवल छात्रों की अपितु हिन्दी-साहित्य के मनीषी जिज्ञासुओं की भी ज्ञानवृद्धि मे सहायक सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ-निर्माण में मैंने जिन ग्रन्थकारों की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता ली है, उन सब के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मेरे बाल-मित्र पं० चन्द्रकान्त बाली ने न केवल सामग्री-संचयन मे मेरी सहायता की है, अपितु पंजाब के अप्रख्यात प्राचीन कवियों से भी मुझे अपने अप्रकाशित ग्रन्थ पजाब का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' के माध्यम से परिचित कराया। बाली जी को धन्यवाद देकर मैं अपने मैत्री-सम्बन्ध को हल्का नहीं करना चाहता। श्रीकृष्ण 'विकल' जी के प्रति मै हृदय से आभार प्रकट करता हूँ—जिन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशन-सम्बन्धी साज-सज्जा दी तथा अपने सुझावो से मुझे अनुगृहीत किया।

१५ मई, १९५७ सत्यदेव चौधरी
१३ माल रोड, दिल्ली-८

विषय-सूची

विषय-प्रवेश १

भारतीय भाषाओं का विकास १

हिन्दी-भाषा और उसके विभिन्न रूप ४

हिन्दी-साहित्य का आरंभ ५

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन ... १३

आदिकाल १६

परिस्थितियाँ १६

नामकरण २३

काव्य-रूप तथा भाषा २६

अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी पर प्रभाव ... २६

अपभ्रंश के कतिपय कवियों का परिचय ... ३३

चारण-काव्य ४६

चारण-कवियों का परिचय ५३

आदिकाल के अन्य कवि ७०

आदिकाल की भाषा ७६

भक्तिकाल ८५

परिस्थितियाँ ८५

काव्य-रूप १०७

सन्त-काव्य १०९

सूफी-काव्य १३०

सन्तमत और सूफीमत की तुलना १४७

कृष्ण-काव्य १४९

अन्य कृष्णभक्त कवि १७६

कृष्ण-काव्य की परम्परा १८१
राम-काव्य १८१
कतिपय राम-कवियों का परिचय १८४
रामकाव्य की परम्परा २०२
राम-काव्य और कृष्ण-काव्य की तुलना ... २०२
भक्तिकाल के अन्य कवि २०४
भक्तिकाल की भाषा २२०
उपसहार २२४

रीतिकाल २२८
परिस्थितियाँ २२८
नामकरण २३३
काव्य-रूप २३६
रीतिबद्ध काव्य २३८
रीतिशास्त्र की परम्परा २३९
रीतिबद्ध काव्य की विशेषताएँ २४२
कवि-परिचय—रीतिबद्ध कवि : लक्षणलक्ष्य-ग्रथकार ... २४९
रीतिबद्ध ग्रथो की परम्परा २७५
रीतिबद्ध कवि लक्ष्य-ग्रथकार . .. २७६
लक्ष्यबद्ध ग्रथ की परम्परा २८१
रीतिमुक्त कवि २८१
रीतिकाल के अन्य कवि ३०४
रीतिकाल की भाषा ३०५
उपसहार ३०७

आधुनिक काल ३०९
परिस्थितियाँ ३०९
हिन्दी-गद्य का उन्मेष ३२०

खड़ीबोली : विकास और गद्यबद्ध निर्माण			...	३२५
भारतेन्दु-युग	...	.	...	३४३
भारतेन्दु-युग के लेखक			.	३५०
द्विवेदी-युग		...	...	३६२
द्विवेदी-युग के लेखक		...	..	३७३
प्रसाद-युग		...	.	३८६
१. गद्य-साहित्य				३९४
नाटक	...	...	...	३९४
प्रसाद-युग के नाटककार		...	...	३९९
कहानी तथा उपन्यास		...	.	४२१
निबन्ध तथा समालोचना		...	...	४६१
समालोचक-परिचय	...	...	...	४६५
गद्य-गीत	.	...	...	४८२
रिपोर्ताज	...	..	...	४८४
२. पद्य-साहित्य	...	...	...	४८६
छायावाद	...	...	...	४८६
रहस्यवाद	...	...	..	४९०
प्रगतिवाद	...	...	...	४९५
प्रयोगवाद	..	...		४९९
कवि-परिचय	.	...	...	५०२
३. विविध साहित्य	...	...	...	५२९
उपसहार	...	...	..	५३१

आवश्यक संकेत

इस इतिहास-ग्रन्थ में अधिकांशतः विक्रम-संवत् का प्रयोग किया है, क्योंकि मूल स्रोतों के अनुसार प्राचीन लेखकों के जीवन-सम्बन्धी वर्ष विक्रम-संवत् में उपलब्ध हैं। उनके अनुकूल ईस्वी सन् जानने के लिए ५७ वर्ष कम कर देने चाहिएं। उदाहरणार्थ विक्रम-संवत् २०१४ के अनुकूल ईस्वी सन् १९५७ है।

विषय-प्रवेश

भारतीय भाषाओं का विकास

ससार की प्रत्येक वस्तु के समान भापा भी परिवर्तित अथवा विकसित होती रहती है। उसका यह विकास नितान्त मन्द गति से होता है अत यह तत्काल लक्षित न होकर शताब्दियो के उपरान्त लक्षित होता है। शताब्दियो के उपरान्त भाषा इतनी बदल जाती है कि उसके मूल रूप को सहज समझ लेना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ से विकसित हिन्दी, मराठी, बगला आदि आधुनिक भाषाओ को बोलने वाले हम लोग आज उक्त प्राचीन भाषाओ मे से किसी को भी, यहाँ तक कि अपनी भाषा की जननी अपभ्रश को भी, सहज रूप से समझने मे नितान्त असमर्थ हैं। यह भाषा की परिवर्तनशीलता अथवा विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

हर युग मे भाषा के दो रूप होते है—एक साधारण और दूसरा परिनिष्ठित। साधारण रूप बोलचाल मे व्यवहृत होता है और परिनिष्ठित रूप साहित्य मे तथा विद्वत्समाज की गोष्ठियो मे। साधारण भाषा और परिनिष्ठित भाषा मे पर्याप्त अन्तर रहता है। परिनिष्ठित भाषा साधारण भाषा की अपेक्षा अधिक परिष्कृत एव समर्थ होती है। भाषा का विकास उसके साधारण रूप से होता है, परिनिष्ठित रूप से नही। उदाहरणार्थ, वैदिक युग की वैदिक भाषा का परिनिष्ठित रूप नही, अपितु साधारण रूप ही विकसित होते-होते महात्मा बुद्ध के समय (सातवी-छठी शती ई० पू० तक) भाषा के उस रूप तक पहुँच गया, जिसे आगे चलकर विद्वानो ने 'पालि' नाम दिया। पालि बुद्ध के समय मे साधारण

जन-व्यवहार की भाषा थी। यही कारण है कि उन्होने सामान्य जनता को इसी भाषा के माध्यम से अपने उपदेश दिये और आगे चलकर तीसरी शती ई० पू० मे अशोक ने बौद्धधर्म के उपदेशो को इसी लोकभाषा मे ही शिलाओ पर खुदवाया।

इसी बीच प्राचीन भाषा को भावी परिवर्तनो से बचाने तथा आगत परिवर्तनो से उसे सुरक्षित रखने के भी प्रयास किये गये। सातवी-आठवी शती ईसा-पूर्व मे पाणिनि द्वारा निर्मित अष्टाध्यायी नामक सस्कृत-व्याकरण इसी प्रयास का एक महान्, सफल एव अद्भुत उदाहरण है। पाणिनि ने वैदिककालीन भाषा को 'वैदिक' नाम दिया और अपने समय की शिष्ट समाज की भाषा को 'लौकिक'। व्याकरण द्वारा सस्कार किये जाने के कारण पाणिनि-सम्मत लौकिक भाषा 'सस्कृत' कही जाने लगी। यह भाषा शताब्दियो पर्यन्त शिष्ट समाज एव विद्वज्जनो के व्यवहार की भाषा रही, तथा प्रचुर मात्रा मे निर्मित साहित्य का माध्यम भी। पर साहित्यिक भाषा बन जाने तथा व्याकरणबद्ध होने के कारण इसका स्वाभाविक विकास रुक गया।

उधर लोकभाषा पालि मे भी साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हो गया था और उसे भी व्याकरणबद्ध कर दिया गया। पर पालि का साधारण रूप निरन्तर विकसित होता रहा और कालान्तर मे उसे 'प्राकृत' का रूप मिला। धीरे-धीरे प्राकृत को भी साहित्य मे स्थान मिला तथा इसे भी व्याकरणबद्ध किया गया। बौद्ध और जैन मत के प्राचीन ग्रन्थो तथा शिलालेखो की भाषा प्राकृत है। सस्कृत-नाटको मे भी नारियो तथा निम्नवर्ग के पात्रो द्वारा इसी भाषा का प्रयोग कराया गया है। इस भाषा के प्रधान चार रूप है—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्ध-मागधी।

आगे चलकर इन प्राकृत भाषाओ का साधारण रूप भी विकसित होते-होते एक अन्य रूप धारण कर गया, जिसे विद्वानो ने 'अपभ्रश' (विकृत) नाम दे दिया। पर बाद मे यही नाम इस भाषा के लिए प्रचलित हो गया। प्राकृत भाषा के उपर्युक्त महाराष्ट्री आदि चार भेदो के अनुसार

अपभ्रंश के भी यही चार भेद हैं। आगे चलकर अपभ्रंश भाषा मे भी साहित्य का निर्माण होने लगा। बौद्धो और जैनियो के परवर्त्ती धार्मिक ग्रन्थो तथा नाथ-पन्थियो की वाणियो की भाषा अपभ्रंश है।

इस प्रकार अपभ्रंश भाषा के साहित्यिक रूप धारण कर लेने पर इसके साधारण रूप से १०वी शती के लगभग पजाबी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उडिया, बगाली, असमिया आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ का विकास हुआ।

निष्कर्ष यह कि—

१—वैदिक सस्कृत, सस्कृत, पालि और अपभ्रंश भाषाओ का साहित्य इन भाषाओ के परिनिष्ठित रूपो मे निर्मित हुआ, साधारण रूपो मे नही। आधुनिक भारतीय भाषाओ के साहित्य की भी यही स्थिति है।

२—एक के बाद एक भावी भाषाओ का विकास पूर्व-पूर्ववर्ती भाषाओ के साधारण रूपो से हुआ, न कि इनके परिनिष्ठित रूपो से।

३—एक भाषा और उससे विकसित दूसरी भाषा अथवा भाषाओ के बीच काल-सम्बन्धी कोई विभाजन-रेखा नही खीची जा सकती। एक ही साथ जननी तथा जन्या दोनो भाषाएँ समानान्तर रूप से चलती रहती है। उदाहरणार्थ, पतनोन्मुखी अपभ्रंश भाषाएँ तथा विकासोन्मुखी भारतीय आधुनिक भाषाएँ आठवी-नवी शती मे एक-साथ प्रचलित थी।

४—भारतीय भाषाओ का काल-विभाजन इस प्रकार है—

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल—लगभग २००० ई० पू० से लगभग ५०० ई० पू० तक—इस काल मे अधिकाशत वैदिक सस्कृत तथा सस्कृत के साधारण तथा परिनिष्ठित रूपो का प्रयोग हुआ।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-काल—लगभग ५०० ई० पू० से १००० ई० तक—इस काल मे सस्कृत के अतिरिक्त इन भाषाओ का साधारण व्यवहार मे तथा साहित्य मे प्रयोग हुआ—

(१) बुद्धकालीन तथा अशोककालीन पालि—लगभग ५०० ई० पू० से लगभग १ ई० तक।

(२) साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ तथा उनके साधारण रूप—लगभग १ ई० से ५०० ई० तक।

(३) अपभ्रंश भाषाएँ—लगभग ५०० ई० से १००० तक।

(ग) आधुनिक आर्यभाषा-काल—लगभग १००० ई० से वर्तमान समय तक।

हिन्दी-भाषा और उसके विभिन्न रूप

आधुनिक भाषाओं में हिन्दी अपना विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण स्थान रखती है। इसके प्रमुखतः दो रूप हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। प्रथम रूप का विकास शौरसेनी नामक अपभ्रंश से माना जाता है और द्वितीय रूप का अर्द्धमागधी अपभ्रंश से। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत ब्रज भाषा, कन्नौजी, बुन्देली, बागरू और खड़ीबोली आती हैं, और पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इन भाषाओं में से ब्रजभाषा, खड़ीबोली और अवधी साहित्यिक भाषाएँ हैं, शेष भाषाओं में अभी विशिष्ट साहित्य का निर्माण नहीं हुआ।

इस सम्बन्ध में दो भाषाएँ और भी उल्लेखनीय हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दी के साथ है—राजस्थानी और बिहारी। राजस्थानी भाषा शौर-सेनी अपभ्रंश से विकसित है और बिहारी भाषा मागधी अपभ्रंश से। राजस्थानी भाषा के चार प्रमुख रूप हैं—मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी। इनमें से मारवाड़ी अर्थात् पश्चिमी राजस्थानी हिन्दी से सम्बद्ध है। बिहारी भाषा के भौगोलिक दृष्टि से दो रूप हैं—पश्चिमी बिहारी और पूर्वी बिहारी। पश्चिमी बिहारी के तीन उपरूप हैं—मैथिली, मगही और भोजपुरी। इनमें से मैथिली का प्राचीन साहित्य हिन्दी-भाषा से सम्बद्ध है।

'हिन्दी' शब्द से साधारणतः जो अर्थ लिया जाता है वह उसका

'खडीबोली' नामक रूप है, और यही रूप भारत की राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकृत है। पर 'हिन्दी-साहित्य' शब्द मे 'हिन्दी' का अर्थ पर्याप्त व्यापक है। खडीबोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा, अवधी, पश्चिमी राजस्थानी और मैथिली भाषाओ के साहित्य को भी 'हिन्दी-साहित्य' ही कहा जाता है। ब्रजभाषा मे रचित सूरदास का सूरसागर, अवधी भाषा मे रचित तुलसी का रामचरितमानस, पश्चिमी राजस्थानी अर्थात् डिगल भाषा मे रचित चन्दवरदाई का पृथ्वीराजरासो और मैथिली मे रचित विद्यापति की पदावली—ये सभी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

निष्कर्ष यह कि—

१—शौरसेनी अपभ्रश से विकसित पश्चिमी हिन्दी के दो रूप—ब्रजभाषा और खडीबोली साहित्यिक भाषाएँ है और शेष तीन रूप—कन्नौजी, बुन्देली और बागरू अभी ग्रामीण भाषाएँ है।

२—अर्द्ध-मागधी अपभ्र श से विकसित पूर्वी हिन्दी के अवधी नामक रूप मे साहित्य का निर्माण हुआ है और शेष दो रूपो—बघेली और छत्तीसगढी मे उल्लेखनीय साहित्य का निर्माण नही हुआ।

३—मागधी अपभ्र श से विकसित पूर्वी बिहारी के एक रूप 'मैथिली' का प्राचीन साहित्य हिन्दी भाषा का साहित्य माना जाता है। शेष दो रूपो—मगही और भोजपुरी मे उल्लेखनीय साहित्य का निर्माण नही हुआ।

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ

हिन्दी-भाषा मे साहित्य का निर्माण कब से प्रारम्भ हुआ, इस प्रश्न का समाधान इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थो मे सर्वप्राचीन ग्रन्थ नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव-रासो' है जिसका रचनाकाल एक प्रति के अनुसार १०७३ सवत् माना

जाता है,[1] और एक अन्य प्रति के अनुसार सवत् १२१२ ।[2] इतिहास के अनुसार बीसलदेव का समय सवत् १०५८ माना गया है ।[3] अत: बीसलदेवरासो की प्रथम प्रति के अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल सवत् १०७३ मानना अधिक समुचित है । इसी सम्बन्ध मे दलपतिविजय कृत 'खुमानरासो' का नाम भी उल्लेखनीय है । चित्तौड (राजस्थान) मे, खुमान नाम से तीन राजा हुए हैं । इतिहासकारो ने अनुमान के बल पर उनमे से खुमान द्वितीय को खुमानरासो का चरितनायक माना है । खुमान द्वितीय का समय ९वी शती का अन्तिम चरण है । यदि इस ग्रन्थ की रचना खुमान द्वितीय के समय मे हुई हो, तो इसे ९वी शती की रचना स्वीकार कर लेने से यद्यपि यह ग्रन्थ बीसलदेवरासो से पूर्ववर्ती ठहरता है, पर इस ग्रन्थ की उपलब्ध प्रति मे महाराणा प्रताप तक का वर्णन मिल जाता है, अत यह निश्चित है कि इस ग्रन्थ को वर्त्तमान रूप, विक्रम की १७वी शताब्दी मे ही प्राप्त हुआ होगा । इस ग्रन्थ का कितना भाग ९वी शती मे निर्मित हुआ—यदि हुआ हो तो—और कितना भाग बाद

---

१ श्री गजराज ओझा, बी० ए० बीकानेर ने लिखा है कि बडा उपाश्रय, बीकानेर मे इसकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली है जिसमे इसका रचनाकाल १०७३ लिखा है—

संवत् सहस तिहुतरइ जाणि नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि ।

हि० सा० आ० इ०, पृष्ठ २१० ।

२. "**बारह सै बरहोत्तरा हाँ मंझारि,**
जेठ बदी नवमी बुधवारि ।
"नाल्ह' रसायण आरंभइ ।
सारदा तुठि ब्रह्म-कुमारि ।। बी० रासो (ना० प्र०) १–९ ।

सूचना—डॉ० रामकुमार वर्मा रचित 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' मे, **'जेठबदी'** के स्थान पर **'माघसुदी'** पाठ मिलता है । (पृष्ठ २१०)

३. हि० सा० आ० इ०, पृष्ठ २०८ ।

मे निर्मित हुआ, यह निश्चित कर सकना कठिन है। अत सन्दिग्ध आधारो के बल पर बीसलदेवरासो की तुलना मे खुमानरासो को हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ मानना समुचित नही है।

बीसलदेवरासो की तुलना मे चन्दबरदाई-प्रणीत 'पृथ्वीराजरासो' को भी रखा जा सकता है। इतिहास-प्रसिद्ध पृथ्वीराज का मुहम्मद गौरी के साथ अन्तिम युद्ध 'नबकात-ए-नासिरी' नामक फारसी इतिहास-ग्रन्थ के अनुसार हिजरी ५८८ अर्थात् सवत् १२४८ मे होना माना गया है। अत पृथ्वीराजरासो की रचना का आरम्भ बीसलदेवरासो के निर्माण-काल मे—यदि सवत् १२१२ वाली ही तिथि ठीक मानी जाय तो—हो चुका होगा, पर इस ग्रन्थ की स्थिति भी खुमानरासो जैसी ही है। इस ग्रन्थ मे जैसाकि हम आगे यथास्थान देखेगे, घटनाएँ पृथ्वीराज के कई शताब्दी परवर्ती शासको से भी सम्बद्ध है। इसमे निर्दिष्ट सवत् प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थो से मेल नही खाते। भाषा की दृष्टि से भी ग्रन्थ के कुछ स्थल कई शताब्दी उपरान्त लिखे गये प्रतीत होते है। पर इधर बीसलदेवरासो के विषय मे विद्वानो का विचार है कि "गीनात्मक रहने के कारण इसकी भाषा मे भी अनेक परिवर्त्तन हुए, पर वे परिवर्तन अभी तक सम्पूर्णत प्राचीन भाषा का स्वरूप विकृत नही कर सके।"[१] अत सवत् १०७३ को इसका निर्माण-काल मानने पर इसे ही हिन्दी का आदिग्रन्थ मानना चाहिए। सवत् १२१२ के अनुसार भी, जो कि अन्य ग्रन्थो के रचना-काल की अपेक्षा कही अधिक विश्वसनीय है, इसे आदिग्रन्थ स्वीकार कर लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

पर समस्या का अन्त यही नही हो जाता। विक्रम की आठवी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर बीसलदेवरासो की रचना पर्यन्त, यहाँ तक ही क्यो, इसके आगे भी कई शताब्दी पर्यन्त निर्मित ऐसी रचनाएँ उपलब्ध हुई है जिनकी भाषा है तो अपभ्रंश ही, पर यह भापा प्राचीन अपभ्रंश के समान सस्कृत की ओर उन्मुख न होकर हिन्दी की ओर अधिक उन्मुख

---

१. हि० सा० आ० इ०, पृष्ठ २०८

है। इस सम्बन्ध मे शिवसिह सेगर, राहुल साकृत्यायन और काशीप्रसाद जायसवाल के मन्तव्य उल्लेखनीय है —

(क) 'शिवसिह सरोज' नामक इतिहास-ग्रन्थ के लेखक शिवसिह सेगर ने किसी पुरानी जनश्रुति के आधार पर 'पुप्प' या 'पुष्य' नामक किसी कवि को भाषा का प्रथम कवि माना है जोकि अवन्ती के राजा भोज के मान नामक पूर्वपुरुष का भाट था। उन्होने मान का समय सवत् ७७० वि० दिया है। अत उनके अनुसार हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ विक्रम की ८वी शती से स्वीकार करना चाहिए। पर पुष्य या पुष्प का कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नही हुआ। अत इस सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अनुमानत इस 'पुष्य' और 'पुष्यदन्त' नामक अपभ्रंश-कवि को एक व्यक्ति बताया है। पर इस एकता से हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ तीन शती दूर जा पडता है, क्योकि पुष्यदन्त का समय दसवी शती माना गया है।

(ख) महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य की भाषा को हिन्दी-भाषा का प्रारम्भिक रूप स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध मे उनका यह कथन उल्लेखनीय है—

"अपभ्रंश-उद्धरणो मे थोडे से पुराने शब्दो को हटाकर उनके स्थान पर तत्सम शब्दो के समावेश से अपभ्रंश और हिन्दी का अन्तर बहुत-कुछ मिट जाता है।" इस दृष्टि से उन्होने अपभ्रंश के उत्कृष्ट कवि स्वयम्भू को हिन्दी का प्रथम कवि और उनके सर्वोत्तम ग्रन्थ पउम-चरिउ (पद्म-चरित नामक रामायण) को हिन्दी का सर्वप्रथम ग्रन्थ स्वीकार किया है। स्वयम्भू का समय ७०० वि० सवत् के पश्चात् माना गया है।[१] अत राहुल के अनुसार भी हिन्दी का प्रारम्भ ८वी शती से मानना चाहिए।

(ग) राहुल जी ने सरहपा आदि ८४ सिद्धो मे से कुछेक सिद्धो की रचनाओ पर विचार करते हुए उनकी अपभ्रंश भाषा को संस्कृत की

१ अपभ्रंश-साहित्य, पृष्ठ ५५।

अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट माना है। उनसे सहमत होते हुए काशी-प्रसाद जायसवाल ने सरहपा (सरहपाद) नामक एक प्रख्यात सिद्ध को हिन्दी का प्रथम कवि स्वीकार किया है। राहुल जी के मतानुसार सरहपा का काल सं० ८१७ है। अत जायसवाल के अनुसार हिन्दी का आरम्भ विक्रम की नवम शती से मानना चाहिए।

अभिप्राय यह कि स्वयम्भू अथवा सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि स्वीकार करने का कारण यह दिया जाता है कि इनकी अपभ्रंश भाषा सस्कृत की अपेक्षा विकासोन्मुखी हिन्दी भाषा के अधिक निकट है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम नीचे तीन उद्धरण प्रस्तुत कर रहे है। पहला उद्धरण कालिदास-प्रणीत विक्रमोर्वशीय नाटक (सम्भवत ५वी शती मे निर्मित) से गृहीत है और शेष दो क्रमश स्वयम्भू और सरहपा की रचना के नमूने है। प्रथम उद्धरण और अन्तिम दो उद्धरणो की भाषा मे परस्पर कितना अन्तर है, यह स्पष्ट हो जायगा—

(१) रे रे हसा किं गोविज्जइ।
गइ अणुसारें मइं लक्खिज्जइ॥
कइं पइ सिक्खिउ ए गइ-लालस।
सा पइं दिट्ठी जहणभरालस॥[१] विक्रमोर्वशीय

(२) जह राम हो तिहुयणु उयरि माह, तो रामणु कहि तिय लेवि जाह।
अण्णु विखर दूषण समरि देव, पहु जुज्झइ मुज्झइ भिच्चु केव॥
किह वाणर गिरिवर उव्वहंति, बंधिवि मयरहरु समुत्तरंति।
किह रावणु दहमुहु बीस हत्थु, अमराहिव भुव बधण समत्थु॥[२]
पउमचरिउ।

१ पुरुरवा का उर्वशी के वियोग मे प्रमत्त प्रलाप—रे रे हस! तू मुझ से क्या छिपा रहा है! तेरी गति से ही मैने पहचान लिया है कि तूने मेरी जघनभरालस प्रिया को देखा है, अन्यथा तेरे जैसे गति के लालची को इतनी सुन्दर चाल की शिक्षा किसने दी?

२ अर्थात्, यदि राम के उदर मे तीनो भुवन है, तो रावण उनकी

(३) एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु से गंगा साअरु ।
एत्थु पआग, बणारसि, एत्थु सें चन्द दिवाअरु ।।[1]

× × × ×

घोर अँधारे चदमणि जिमि उज्जोअ करेइ ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ ।।[2]

निस्सन्देह ८वी, ९वी शती तथा इसके उपरान्त निर्मित अपभ्रश-साहित्य हिन्दी के अधिक निकट है। यही कारण है कि उक्त दोनो विद्वानो के अतिरिक्त अन्य विद्वानो ने भी यही धारणा प्रस्तुत की है—

(क) मिश्रबन्धुओ ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध अपने ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु-विनोद' मे अनेक अपभ्रश रचनाओ को भी स्थान दिया है ।

(ख) प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने परवर्ती अपभ्रश-साहित्य की भाषा को 'पुरानी हिन्दी' नाम से अभिहित किया था । उन्ही के शब्दो मे पुरानी अपभ्रंश सस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली (अपभ्रश) पुरानी हिन्दी मे । अपभ्र श कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ प्रारम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन किन्तु रोचक और बडे महत्त्व का है । इन दो भाषाओ के समय और देश के विषय मे कोई स्पष्ट

पत्नी को कैसे हर ले गया । × × कैसे वानरो ने पर्वत को उठाया, समुद्र को बाँध कर उसे पार किया ? कैसे दशमुख और बीस हाथो वाला रावण अमराधिप इन्द्र को बाँधने मे समर्थ हुआ ।

—अपभ्रश-साहित्य (पृष्ठ ५५) से उद्धृत ।

१. अर्थात् यही (काया) यमुना है और यही गगा है, यही प्रयाग और बनारस है तथा यही चन्द्रमा और सूर्य है ।

—अपभ्र श-साहित्य (पृष्ठ ३०७) से उद्धृत ।

२. हि० सा० का इति० (रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ९ से उद्धृत ।

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि घोर अन्धकार मे उजाला कर देती है उसी प्रकार (गुरु) सकल पापो से छुडाकर मोक्षप्राप्ति करा देता है ।

विभाजन-रेखा नही खीची जा सकती । कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हे अपभ्र श भी कह सकते है और पुरानी हिन्दी भी ।[1]

(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी सर्वप्रथम अपभ्र श के परवर्ती साहित्य को हिन्दी-साहित्य का अग स्वीकृत करते हुए अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम सस्करण मे आदिकाल के अन्दर अपभ्र श-रचनाओ की भी गणना की थी, परन्तु ग्रन्थ के अग्रिम सस्करणो मे उन्होने अपभ्र श-ग्रन्थो को देशीभाषा-काव्य अर्थात् हिन्दी-काव्य से अलग स्वीकृत करते हुए उन्हे 'अपभ्र श-काल' शीर्षक के अन्तर्गत निरूपित किया ।

हमारे विचार मे वस्तुस्थिति भी यही है जो आचार्य शुक्ल ने बाद मे स्वीकृत की है । अपभ्र श भाषा का साहित्य विक्रम की ७वी शती से मिलना प्रारम्भ होता है और यह रचना-परम्परा १६वी शती तक चली जाती है । अपभ्र श के उपलब्ध महाकाव्यो के अनुसार इस भाषा का प्रथम कवि पउमचरिउ का कर्त्ता स्वयम्भू (८वी शती) है, और अन्तिम कवि हरिवश-पुराण का कर्त्ता श्रुतकीर्ति (१६वी शती) । पर अपभ्र श-साहित्य का समृद्ध युग ९वी शती से १३वी शती तक है । इस युग मे पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी, कनकामर, धाहिल आदि अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए हैं । यद्यपि यह युग हिन्दी-साहित्य का लगभग आदिकाल ही है और इस युग की अपभ्र श भाषा भी, जैसाकि पूर्व निर्देश कर आये है, हिन्दी की ओर उन्मुख है, पर फिर भी आदिकाल के हिन्दी तथा अपभ्र श भाषा के ग्रन्थो मे भाषा की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है । भाषा-विज्ञान के अनुसार किसी भाषा के मुख्य निर्णायक आधार-तत्त्व दो होते हैं—कारक-चिह्न और क्रिया-रूप । इन्ही आधारो के अनुसार आदिकाल के दोनो भाषा-रूपो मे एक स्पष्ट विभाजन-रेखा खीची जा सकती है । तुलनार्थ, इसी काल मे प्राप्य अपभ्र श-महाकाव्य 'भविसयत्त कहा' और डिगल-महाकाव्य 'बीसलदेवरासो' के उद्धरण प्रस्तुत है—

१. ना० प्र० प० नवीन सस्करण भाग-२ ।

(क) दिसा मंडलं जत्थ गाइ अलक्खं,
पहायं पि जाणिज्जइ जम्मि दुक्ख। (भ० कहा)

(ख) कुहणी फाटइ कांचुवउ।
घोपरि फाटइ धन को चीर।
जाँणे दव दाधी लोकड़ी।
दूबली हुई झूरक ईम नाह।
डावाँ हाथ को मूँदड़उ।
आवण लागौ जीवणी बाँह॥ (बी० रा०)

इन दोनो उद्धरणो पर आपातत एक सामान्य दृष्टिपात करने से पाठक यह मानने को बाध्य हो जाता है कि ये रूप दो विभिन्न भाषाओ के हैं। इनके कारक-चिह्न और क्रिया-रूप भी इसी तथ्य के अनुमोदक है—

प्रथम उद्धरण मे **मण्डलं, अलक्खं, पहायं** और **दुक्ख** मे कारक-चिह्न सस्कृत-भाषा के चिह्नो के समान सश्लिष्ट हैं और द्वितीय उद्धरण मे **धन को, हाथ को** आदि हिन्दी भाषा के चिह्नो के समान विश्लिष्ट। इसी प्रकार प्रथम उद्धरण मे **जाणिज्जइ** क्रिया-रूप प्राचीनता का द्योतक है और द्वितीय उद्धरण मे **फाटई, हुई, लागौ** आदि क्रिया-रूप नवीनता के द्योतक हैं। अत एक ही काल मे दो विभिन्न रूपो मे प्राप्त ग्रन्थो को हिन्दी के ही ग्रन्थ मानना युक्तिसगत नही है।

यही एक बात और—निस्सन्देह अपभ्रंश-ग्रन्थो मे हिन्दी भाषा के, और हिन्दी-ग्रन्थो मे अपभ्रंश भाषा के व्याकरणसम्मत रूप भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिल जाते है, और साहित्य तथा भाषा के उस सन्धिकाल में ऐसा हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था, पर इन रूपो की सख्या अपेक्षाकृत इतनी कम है कि अपभ्रश और हिन्दी के ग्रन्थो को क्रमश इन्ही भाषाओ के ही ग्रन्थ कहा जायगा, न कि केवल हिन्दी भाषा के अथवा केवल अपभ्रंश भाषा के। अत भाषाशास्त्र की दृष्टि से स्वयम्भू, सरहपा अथवा किसी अन्य अपभ्रश-कवि को हिन्दी का प्रथम कवि मानना समुचित नही है, भले ही इनकी भाषा पूर्ववर्ती अपभ्रश-उद्धरणो के असमान

पतनोन्मुखी सस्कृत की अपेक्षा विकासोन्मुखी हिन्दी की ओर अधिक झुकी हुई भी क्यो न हो। अत हमारे विचार मे नरपति नाल्ह ही हिन्दी का प्रथम कवि है।

निष्कर्ष यह कि—

(१) हिन्दी साहित्य की आर्रम्भिक शताब्दियो मे जिस अपभ्र श-साहित्य का निर्माण हुआ उसकी भाषा पूर्ववर्ती अपभ्र श की भाषा की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है।

(२) पर इस अपभ्र श-साहित्य की भाषा अपने समकालीन हिन्दी-साहित्य की भाषा की तुलना मे कही अधिक प्राचीन है, तथा कारक-चिह्नो एव क्रिया-रूपो के आधार पर वह 'हिन्दी' नही कही जा सकती। उसे अपभ्र श ही कहना चाहिए।

(३) अत हिन्दी के ही किसी कवि को हिन्दी-साहित्य का आदि-कवि मानना समुचित हे, न कि अपभ्र श के कवि को। इसी आधार पर नरपति नाल्ह ही प्रथम हिन्दी-कवि ठहरते है। यह अलग प्रश्न है कि अपनी कतिपय विशिष्टताओ के कारण चन्दबरदाई हिन्दी-साहित्य मे आरम्भिक काल के सर्वश्रेष्ठ एव प्रतिनिधि कवि है, पर सम्भवत वे हिन्दी के आदिकवि नही है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन

मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सासारिक अनुभवो के आधार पर अपने हृदय मे उत्पन्न भावावेगो को अभिव्यक्त करना चाहता है। अभिव्यक्ति का सरलतम माध्यम वाणी है और उसे स्थायी बनाने का सरलतम माध्यम है लेखन-प्रक्रिया। पर यह आवश्यक नही कि वाणी अथवा लेखन द्वारा अभिव्यक्त सभी विचार हृदयहारी एव चिरस्थायी हो। इन्हे इन दोनो गुणो से समन्वित बनाने के लिए सुन्दर कल्पना तथा समर्थ भाषा का समुचित योग मिलना सदा अनिवार्य है। साधारण वार्ता तथा साहित्य अथवा काव्य मे अन्तर भी यही है। विचारो को यथावत्

रूप मे अभिव्यक्त करने का नाम साधारण वार्ता है और उन्हे कल्पना के बल पर हृदयाह्लादक और समर्थ भाषा के बल पर चमत्कारक रूप मे अभिव्यक्त करने का नाम साहित्य। वार्ता क्षणभगुर है और सच्चा साहित्य चिरस्थायी। किसी भाषा के साहित्य का कालक्रमानुसार विवरण, समालोचन एव मूल्याकन प्रस्तुत करने का नाम उस साहित्य का 'इतिहास' कहलाता है।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास लगभग एक सहस्र वर्ष का सुदीर्घ आख्यान है। देश की राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक परिस्थितियो का प्रभाव उसके साहित्य पर भी पडना अवश्यम्भावी है। जो साहित्य इनसे अछूता है, भले ही वह कितना चमत्कारपूर्ण हो, पर वास्तविक साहित्य कहाने का अधिकारी नही है। हिन्दी-साहित्य भी देश की विभिन्न परिस्थितियो से प्रभावित होकर समय-समय पर करवटे बदलता चला गया। भाषा और विचारधारा की विकास-परम्परा के सम्बन्ध मे कभी भी इस प्रकार की स्पष्ट विभाजन-रेखा नही खीची जा सकती कि अमुक भाषा अथवा अमुक विचारधारा अमुक काल मे समाप्त हो गई और इसके तुरन्त उपरान्त नई भाषा अथवा नई विचारधारा प्रारम्भ हो गई। भाषा और विचारधारा के सयोग से उत्पन्न साहित्य की भी यही स्थिति होना स्वाभाविक है। इसके किसी भाषा-रूप अथवा वर्ण्य-विषय की गति कहाँ से प्रारम्भ हुई और कहाँ जाकर समाप्त हो गई अथवा हो जायगी—यह निश्चित कर सकना असम्भव है। अत. राजनीतिक इतिहास के समान साहित्य के इतिहास का यथावत् काल-विभाजन सुगम कार्य नही है। फिर भी, जिस कालावधि मे जिस विचार-धारा का साहित्य अपेक्षाकृत अधिक निर्मित होता है, उस अवधि को उसी विचारधारा अथवा उस युग के प्रवर्तक लेखक के नाम पर अभि-हित कर दिया जाता है। हिन्दी-साहित्य के एक सहस्र वर्ष के इतिहास को भी इसी आधार पर विभक्त किया गया है। इस दिशा मे सर्वप्रथम प्रयास मिश्रबन्धुओ का है और दूसरा प्रयास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का।

वस्तुत काल-विभाजन का उक्त आधार भी उन्होने ही सर्वप्रथम हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन को अद्यावधि सभी इतिहासकार नाममात्र के परिवर्तन के साथ स्वीकार करते आये है। निस्सन्देह उनका विभाजन सम्मान्य एव ग्राह्य है भी, जो इस प्रकार है—

१—सवत् १०५० से १३७५ तक (सन् ९९३–१३१८) आदिकाल अथवा वीरगाथा काल।

२—सवत् १३७५ से १७०० तक (सन् १३१८–१६४३) पूर्वमध्यकाल अथवा भक्तिकाल।

३—सवत् १७०० से १९०० तक (सन् १६४३–१८४३) उत्तरमध्यकाल अथवा रीतिकाल।

४—सवत् १९०० से आज तक (सन् १८४३ से आज तक) आधुनिक काल अथवा गद्यकाल।

इस सम्बन्ध मे कुछ बाते उल्लेखनीय हैं—

पहली यह कि प्रत्येक काल मे तत्सम्बन्धी विषयो के अतिरिक्त अन्य विषयो पर भी रचनाएँ होती रही पर अपेक्षाकृत कम। अत उन्हे 'स्फुट-रचना' के नाम से यथास्थान वर्णित किया जायगा। दूसरी बात यह कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वीरगाथाकाल को केवल आदिकाल नाम से अभिहित करना उपयुक्त समझा है। इस सम्बन्ध मे भी हम आगे यथास्थान चर्चा कर रहे हैं। और तीसरी बात यह कि जैसा कि हम आगे देखेगे, आधुनिक काल की लगभग एक शत वर्ष की अवधि को बडी सरलता से चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

भारतेन्दु से पूर्व युग	सवत् १९०० से १९२५ तक (सन् १८४३–६८)
भारतेन्दु-युग	सवत् १९२५ से १९५० तक (सन् १८६८–९३)
द्विवेदी-युग	सवत् १९५० से १९७५ तक (सन् १८९३–१९१८)
प्रसाद-युग	: सवत् १९७५ से आज तक (सन् १९१८ से आज तक)

आदिकाल

विक्रमी सवत् १०५०—१३७५ (सन् ९९३—१३१८)

परिस्थितियाँ

(क) राजनीतिक परिस्थिति—

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की अवधि वि० सवत् १०५० से १३७५ (सन् ९९३–१३१८) तक मानी गई है। भारत के अन्तिम शक्ति-सम्पन्न शासक हर्षवर्द्धन की मृत्यु (स० ७०४, सन् ६४७) के उपरान्त भारतीय इतिहास मे स० ७०७–१२५७ (सन् ६५०–१२००) का समय राजपूत-युग माना गया है और इसके पश्चात् लगभग सवा सौ वर्ष तक स० १३७७ (सन् १३२०) तक दास और खिलजी वश के मुस्लिम शासको ने भारत पर शासन किया है।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की राजनीतिक परिस्थिति को हृदयगम करने के लिए सम्पूर्ण राजपूत-युग पर प्रकाश डालना आवश्यक है। भारतीय इतिहास का यह युग राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विशृखलता, गृहकलह एव पराजय का युग है। हर्ष के राज्यकाल (सन् ६०६–६४७) मे राज्यशासन की जो एकसूत्रता थी, वह उस जैसे पराक्रमी शासक के देहावसान के उपरान्त छिन्न-भिन्न हो गई और उत्तरी तथा दक्षिणी भारत पहले की अपेक्षा अनेक स्वायत्त रियासतो मे विभक्त हो गया। हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध केवल उत्तरी भारत की रियासतो के साथ है, अत· यहाँ प्रमुख रूप से उन्ही की चर्चा करना समुचित है।

इस युग मे उत्तरी भारत की प्रसिद्ध रियासते आठ थी—दिल्ली, अजमेर, कन्नौज, मालवा, बुन्देलखण्ड, बिहार तथा बंगाल, गुजरात और

मेवाड । इन रियासतो पर राजपूत जाति के विभिन्न वशो के अनेक राजा अधिकारी रहे। दिल्ली पर तोमर और चौहान वश के, अजमेर पर चौहान वश के, कन्नौज पर प्रतिहार (परिहार) और राठौर वश के, मालवा पर परमार वश के, बुन्देलखण्ड पर चन्देल वश के, बिहार पर पाल वश के तथा बगाल पर सेन वश के, गुजरात पर चालुक्य वश के और मेवाड पर सिसोदिया वश के शासको ने राज्य किया ।

इस युग के शासको की प्रमुख घटना केवल एक है—युद्ध; उत्तरी और दक्षिणी भारत के विभिन्न वशीय राजाओ के पास-पडौसी राजाओ से युद्ध अथवा बाहर से आये हुए मुस्लिम आक्रान्ताओ के साथ युद्ध । पहले प्रकार के युद्ध का कारण है—गृहकलह, मिथ्याभिमान अथवा राज्य-विस्तार की लालसा, और दूसरे प्रकार के युद्ध का कारण है—भारत मे विदेशी सत्ता के प्रवेश पर प्रतिरोध। सत्य तो यह है कि विभिन्न राजवशो के बीच परम्परागत सघर्ष चलते रहने मे ही राजदूत अपना गौरव समझते थे । विदेशी आक्रान्ताओ के आक्रमण के समय राजपूतो की स्थिति दो प्रकार की थी—कभी वे विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध स्वदेशी राजा की सहायता करते है, और कभी-कभी विदेशी शत्रु के हाथो उसके पिट जाने मे आनन्द लेने के विचार से उसकी सहायता नही करते, भले ही अगली बार विदेशी आक्रान्ता इन पर ही आक्रमण क्यो न कर दे । निस्सन्देह यह उनके पतन की पराकाष्ठा थी । दोनो प्रकार के युद्धो के कतिपय उदाहरण लीजिए—

(१) कन्नौज के प्रतिहार-वश के राजा मिहिर भोज (सवत् ८९७–९४७) ने कालिजर (बुन्देलखण्ड) के चन्देला राजपूतो को और बगाल के वीर शासक देवपाल को पराजित करके अपने राज्य का विस्तार किया । उसने दक्षिण-भारतीय राष्ट्रकूट-वशज अनेक शासको को भी पराजित किया, पर उसके ही वशज महिपाल (स० ९७१–९९७) को राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने परास्त करके कन्नौज की राजगद्दी से उतार दिया । पर उधर राष्ट्रकूटो मे भी गृहकलह की आग भडकी हुई थी,

जिससे लाभ उठाकर महिपाल ने अपना खोया हुआ राज्य पुन प्राप्त कर लिया।

(२) दिल्ली के प्रसिद्ध लौह-स्तम्भ के अनुसार अजमेर के चौहान-वशज विग्रहराज ने सवत् १२२० मे तोमर राजपूतो से दिल्ली को छीन-कर उस पर अधिकार कर लिया। उसी ही वश के प्रख्यात राजा पृथ्वी-राज ने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया और वहाँ के परमाल नामक राजा को परास्त करके सवत् १२३७ मे उसकी राजधानी महोबा उससे छीन ली।

(३) मालवा के परमार-वशज राजा मुज ने गुजरात के चालुक्य-वश के राजा तैलप द्वितीय को छ बार परास्त किया पर सातवी बार चालुक्य-वश के राजाओ के साथ लडता हुआ बन्दी बनाया गया और बाद मे उसका वध कर दिया गया। आगे चलकर इसी वश के प्रसिद्ध राजा भोज ने कल्याण के चालुक्य-नरेश जयसिह द्वितीय को परास्त करके मुज की हार का बदला लिया। उसने बुन्देलखण्ड और ग्वालियर के राजाओ को भी परास्त किया।

अब कुछेक अन्य उदाहरण लीजिए, जिनका सम्बन्ध मुसलमान आक्रान्ताओ के साथ है।

(१) कन्नौज के प्रतिहार-वशज नागभट्ट प्रथम (सवत् ७२५–७४०) ने सिन्ध पर विजय प्राप्त करके अरबो को भी हरा दिया और भारत को इस्लामी आक्रमणो से बचाया। पर इसी ही वश के अन्तिम शासक राज्यपाल (सवत् १०४७–१०७५) ने महमूद गजनवी के आक्रमण के समय उससे लडने की अपेक्षा महमूद के अधीन हो जाना अधिक उचित समझा, पर उस कायरता का कलक अन्य राजपूत न सह सके और इसलिए उन्होने इसे मार डाला और उसके लडके त्रिलोचनपाल को राज्य-सिंहासन पर बिठा दिया। इस पर क्रोधित होकर महमूद ने पुन आक्र-मण किया और त्रिलोचनपाल परास्त हो गया।

(२) कन्नौज की सुकुमारी सयोगिता के कारण पृथ्वीराज चौहान

और जयचन्द्र राठौर का परस्पर गृहकलह एव वैरभाव, पृथ्वीराज के विरुद्ध जयचन्द्र द्वारा विरोधी आक्रान्ता मुहम्मद गौरी की सहायता, तथा सन् ११६२ (सवत् १२५६) और सन् ११६४ (स० १२६१) मे एक-एक करके पृथ्वीराज और जयचन्द्र की मुहम्मद गौरी के हाथो पराजय तथा मृत्यु—ये सब इतिहास एव लोक-प्रसिद्ध घटनाएँ हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कालिजर (बुन्देलखण्ड) का चन्देल-वंशज परिमाल अथवा परमर्दन नामक शासक पृथ्वीराज और जयचन्द्र दोनो से शत्रुता रखता था। जब मुहम्मद गौरी ने इन पर आक्रमण किया तो इसने किसी की भी सहायता न की। इधर इनकी भी बारी आई। स० १२६१ मे मुसलमानो ने कालिजर पर चढाई की और उसे जीत लिया।

(३) यही अवस्था बिहार और बगाल, गुजरात तथा मालवा रियासतो की भी हुई। विक्रम की १३वी शती मे मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी ने बगाल और बिहार को, अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात को और इसके सेनापति ऐन-उल-मुल्क ने मालवा के बहुभाग को जीत लिया।

इस प्रकार की अनेक रक्तरजित घटनाओ से राजपूत-युग भरा पडा है। एक-एक करके प्राय सभी राजपूत रियासते मुसलमानो के अधीन हो गई। और इस काल के अन्तिम लगभग सवा सौ वर्षो (स० १२६३—१३७७) मे भारत पर दास तथा खिलजी वश के शासको ने शासन किया।

इस राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव साहित्य पर भी पडना अवश्यम्भावी था और वह पडा। आदिकाल का देशभाषा-काव्य राजपूत-युग की घटनाओ से आप्लावित है।

(ख) सामाजिक परिस्थिति—

अपने जातीय सम्मान और कुल-प्रतिष्ठा पर सहर्ष प्राण बलिदान कर देनेवाले राजपूतो के युग मे जाति-पाँति सम्बन्धी भेदभाव तथा नीची जाति के प्रति घृणा की भावना का बढ जाना स्वाभाविक था। नीची जाति के लोगो मे अपनी कन्या के विवाह को वे अपना घोर अपमान समझते थे। पर फिर भी शक्ति के बल पर ऐसे विवाह सम्पन्न हो ही

जाते थे। परिणामस्वरूप राजपूत जाति अनेक उपजातियो और वर्गो मे विभक्त होती चली गई और यही विभाजन उस-जैसी शक्ति-सम्पन्न जाति के पतन का कारण बना।

राजपूतो की उल्लेखनीय विशेषता थी—वीरता और आत्मोत्सर्ग। यही विशेषता राजपूत नारियो मे भी पूर्ण रूप से विद्यमान थी। पवित्र आचार और पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली ये कोमलागिनियाँ समय पडने पर जौहर द्वारा शत्रुओ तक को आश्चर्यचकित कर देती थी। राजपूतो के हृदय मे भी नारी-जाति के प्रति अधिक सम्मान की भावना थी। वे उनकी सुरक्षा मे प्राणपण की बाजी लगा देते थे। स्वयवर-प्रथा उस युग की एक अन्य सामाजिक विशेषता थी। राजपूत दृढप्रतिज्ञ, स्वामि-भक्त, देश-भक्त तथा ईमानदार थे। साहसी और युद्धप्रिय तो थे ही, पर साथ ही उनकी रुचि हर प्रकार के भोग-विलास की ओर भी थी, जो समय पडने पर साहस एव शौर्य-प्रदर्शन मे तुरन्त ही परिवर्तित हो जाती थी। इसी सामाजिक अवस्था का चित्र तत्कालीन हिन्दी-साहित्य मे पूर्ण सजीवता के साथ चित्रित हुआ मिलता है।

(ग) धार्मिक परिस्थिति—

विक्रम की ११वी और १४वी शती के बीच की भारतीय धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव आदिकालीन हिन्दी-साहित्य पर तो लक्षित नही होता, पर इस काल मे निर्मित अपभ्र श-साहित्य पर साक्षात् रूप से तथा भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य पर असाक्षात् रूप से इसका प्रभाव अवश्य पडा है। इस दृष्टि से इस परिस्थिति पर सक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक है। इस काल की धार्मिक परिस्थिति को दो रूपो मे विभक्त कर सकते है—बौद्ध-धर्म की विकृत स्थिति और वैष्णव-धर्म की परम्परागत स्थिति।

शकराचार्य (वि० स० ८४५–८७७) के विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थो और गम्भीर भाष्यो ने एक ओर बौद्ध-धर्म के प्रति जनता की शताब्दियो से परिपुष्ट श्रद्धा को भस्मसात् किया और दूसरी ओर वेदान्त-दर्शन का प्रचार करके जनता की श्रद्धा को ब्राह्मण-धर्म की ओर फिर से मोड दिया।

इधर बौद्ध-धर्म कुछ तो अनुयायियो के दुराचारो, बाह्याडम्बरो एव अन्ध-विश्वासो के कारण और कुछ शकराचार्य जैसे प्रकाण्ड महारथियो के विरोध के कारण धीरे-धीरे अपने मूलभूत सिद्धान्तो से हटकर विकृत होने लगा। वह महायान और हीनयान शाखाओ मे तो पहले ही विभक्त हो चुका था। अब महायान शाखा धीरे-धीरे मन्त्रयान मे, मन्त्रयान से वज्रयान मे, वज्रयान से सहजयान मे और सहजयान से नाथ-सम्प्रदाय मे परिवर्तित हो गई। अपभ्र श और पुरानी हिन्दी मे लिखित ८४ सिद्धो और नाथ-पन्थियो का साहित्य बौद्ध-धर्म से विकृत इन्ही सम्प्रदायो की धार्मिक रूढियो का परिचायक है। इसी साहित्य का प्रभाव आगे चलकर कबीर आदि सन्तो के साहित्य पर पडा।

इसी काल मे भक्ति-आन्दोलन ने खूब जोर पकडा। यह आन्दोलन शकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप चला था। पर इस आन्दोलन का प्रभाव आदिकालीन साहित्य पर विशेष रूप से नही पडा, भक्तिकालीन साहित्य पर पडा है, अत इसकी चर्चा आगे यथास्थान की जायगी।

इसी काल मे इस्लाम-धर्म भी अपने अनुयायियो की विजय-प्राप्ति तथा आतक के फलस्वरूप पनपने लग गया था, पर इसका प्रभाव भी आदिकाल के हिन्दी-साहित्य पर नही पडा। हाँ, फारसी और अरबी शब्दो का समावेश इस साहित्य मे अवश्य होने लग पडा था।

(घ) साहित्यिक परिस्थिति—

हिन्दी-साहित्य की आदिकालीन राजनीतिक अवस्था निस्सन्देह रक्त-रञ्जित घटनाओ से परिपूर्ण है जो तत्कालीन राजाओ की युद्धपिपासु प्रवृत्ति की सुपरिचायक है, पर फिर भी उसी काल मे धारा के शासक भोज जैसे गुणग्राही राजा भी विद्यमान थे, जो युद्ध की अपेक्षा ऊँचे कार्यो मे अपनी शक्ति का सदुपयोग करते थे। भोज न केवल उच्चकोटि के विद्वानो एव कवियो का आश्रयदाता तथा पालक था, अपितु स्वय भी प्रकाण्ड पण्डित एव उत्कृष्ट लेखक था। उनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ सरस्वती-

कण्ठभरण और शृगार-प्रकाश सस्कृत-काव्यशास्त्र की अमर निधियाँ है। धारा नगरी की राजसभा मे पद्मगुप्त, धनजय, धनिक जैसे विद्वान् मौजूद थे।[1] इसी प्रकार महाराज श्री हर्ष का 'नैषधचरित' काव्य सस्कृत-साहित्य की अमूल्य देन है। जयदेव जैसे सुकवि, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ जैसे तत्वविद् आचार्य[2], बिल्हण और कह्लण जैसे इतिहासज्ञ तथा सोमदेव जैसे कथाकार[3] भी इसी काल की उपज हैं। पर विवेच्यकाल के हिन्दी-साहित्य पर इन ग्रन्थो का कुछ भी साक्षात् अथवा असाक्षात् प्रभाव लक्षित नही होता।

इस काल मे अपभ्र श-साहित्य का भी निर्माण हुआ, जिस पर आगे यथास्थान प्रकाश डाला जायगा।

निष्कर्ष यह कि—

१ हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थिति लगभग वही है जो सम्पूर्ण राजपूत-युग की है।

२ इस काल की धार्मिक परिस्थिति को प्रमुखत दो रूपो मे विभक्त किया जा सकता है—बौद्धधर्म की विकृत स्थिति और वैष्णव धर्म की परम्परागत स्थिति।

३ राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव तत्कालीन हिन्दी-साहित्य पर पडा और धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव इस काल के अपभ्र श-साहित्य पर तथा परवर्ती भक्तिकालीन साहित्य पर।

---

१. पद्मगुप्त का प्रख्यात ग्रन्थ **नवसाहसांकचरित** है, और धनञ्जय का **दशरूपक**। धनिक दशरूपक के टीकाकार हैं।

२. जयदेव का प्रख्यात ग्रन्थ **गीतगविन्द** है, कुन्तक का **वक्रोक्ति-जीवित**; महिमभट्ट का **व्यक्तिविवेक**; क्षेमेन्द्र का **औचित्यविचार-चर्चा**, मम्मट का **काव्यप्रकाश**, हेमचन्द्र का **सिद्धशब्दानुशासन**; और विश्वनाथ का **साहित्यदर्पण**।

३. बिल्हण-कृत **विक्रमांकचरित**, कल्हण-कृत **राजतरगिणी** और सोमदेव-कृत **कथासरित्सागर**।

४ इस काल मे तीन भाषाओ मे साहित्य का निर्माण हुआ—सस्कृत, अपभ्र श और देशी भाषा अर्थात् हिन्दी अथवा डिगल भाषा ।

५ इस काल मे निर्मित सस्कृत तथा अपभ्र श-साहित्य का प्रभाव इस काल के हिन्दी-साहित्य पर नही पडा, भक्तिकाल तथा रीतिकाल पर पडा है ।

नामकरण

हिन्दी-साहित्य के प्रथम काल को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'वीर-गाथाकाल' नाम दिया है, राहुल साकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामन्तकाल', और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'अपभ्र श काल' अथवा 'आदिकाल' । पहले कह आये है कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन प्रमुख प्रवृत्तियो के आधार पर किया है । इस काल को 'वीरगाथाकाल' कहने का आपने यह कारण बताया है कि उस समय की प्रमुख साहित्यिक पुस्तको मे से अधिकाश पुस्तके वीरगाथाओ से सम्बद्ध है । इनमे चार पुस्तके अपभ्र श भाषा की है और शेष पुस्तके तत्कालीन देशी भाषा की—

(क) अपभ्र श के काव्य—

(१) विजयपालरासो
(२) हम्मीररासो (शार्ङ्गधर)
(३) कीर्तिलता (विद्यापति)
(४) कीर्तिपताका (")

(ख) देशीभाषा के काव्य—

(१) खुमानरासो (दलपति विजय)
(२) वीसलदेवरासो (नरपति नाल्ह)
(३) पृथ्वीराजरासो (चन्दरबरदाई)
(४) जयचन्द्रप्रकाश (भट्ट केदार)
(५) जयमयक-जसचन्द्रिका (मधुकर कवि)
(६) परमालरासो (परमालरासो के आधार पर निर्मित जगनिक कृत आल्हाखण्ड)

(७) पदावली (विद्यापति)

(८) खुसरो की पहेलियाँ, मुकरियाँ आदि

इनमे से अन्तिम दो तथा वीसलदेवरासो को छोडकर शेष नौ ग्रन्थ वीर-गाथात्मक है। अत उन्होने इस काल को 'वीरगाथाकाल' नाम दिया है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे वीर-गाथाकाल नाम देने के पक्ष मे नही है। उनके कथनानुसार खुमानरासो, वीसलदेवरासो, हम्मीर-रासो और विजयपालरासो प्रामाणिक ग्रन्थ नही है। ये रचनाएँ पीछे की हैं। पृथ्वीराजरासो और परमालरासो (आल्हाखण्ड) अर्द्ध-प्रामाणिक ग्रन्थ है। जयचन्दप्रकाश और जयमयक-जसचन्द्रिका आज तक अनुपलब्ध है, उनका उल्लेख केवल सिघायत दयालदास कृत 'राठौडा री ख्यात' मे मिलता है। इस प्रकार इन अप्रामाणिक, अर्द्ध-प्रामाणिक ग्रन्थो अथवा कतिपय ग्रन्थो के 'नोटिस-मात्र' होने के आधार पर किसी काल को विशिष्ट नाम दे देना युक्तिसगत नही है।

इस तर्क के अतिरिक्त डॉ० द्विवेदी ने लगभग उसी काल मे निर्मित अनेक ऐसे अपभ्रंश-ग्रन्थो का उल्लेख किया है, जो जैनधर्म के ग्रन्थ-होते हुए भी काव्यरस की दृष्टि से किसी भी रूप मे हीन नही है। उनमे से ये ग्रन्थ उल्लेखनीय है—

पुष्पदन्त कृत (१) णायकुमारचरिउ (नागकुमार-चरित)

" (२) जसहरचरिउ (यशोधर-चरित)

" (३) महापुराण

धनपाल कृत (४) भविसयत्तकहा (भविष्यदत्त-कथा)

कनकामर कृत (५) करकण्डुचरिउ (करकण्डु-चरित)

हरिभद्र कृत (६) नेमिनाहचरिउ (नेमिनाथ-चरित)

निस्सन्देह ये सभी ग्रन्थ जैनधर्म से सम्बद्ध है, पर यदि इन्हे धार्मिक ग्रन्थ समझकर किसी साहित्य के इतिहास में स्थान नही मिलेगा तो तुलसी-कृत रामचरितमानस, जायसी-कृत पद्मावत आदि अनेक ग्रन्थ साहित्यिक कोटि मे नही आ पायेगे और इसी प्रकार इन्हे भी हिन्दी-

साहित्य के इतिहास मे स्थान नही मिल सकेगा। उक्त अपभ्र श-ग्रन्थो के अतिरिक्त अद्दहमाण (सम्भवत अब्दुल रहमान) कृत सन्देशरासक नामक अपभ्र श-ग्रन्थ भी इसी काल का एक अद्भुत प्रेमाख्यानक काव्य उपलब्ध हुआ है।

इन अपभ्र श-ग्रन्थो के अतिरिक्त स्वय आचार्य शुक्ल ने अन्य निम्न-लिखित अपभ्र श-ग्रन्थो का भी उल्लेख किया है—

हेमचन्द्र कृत	(१)	सिद्ध हेमचन्द्र-शब्दानुशासन
”	(२)	कुमारपालचरित
सोमप्रभसूरि कृत	(३)	कुमारपाल प्रतिबोध
”	(४)	प्रबन्धचिन्तामणि नामक सस्कृत-ग्रन्थ के अन्तर्गत उपलब्ध अपभ्र श के पद्य
शार्ङ्गधर कृत	(५)	शार्ङ्गधर-पद्धति
विद्यापति कृत	(६)	कीर्तिलता
”	(७)	कीर्तिपताका

इनके अतिरिक्त सिद्धो और नाथ-पन्थियो का साहित्य भी इसी काल मे निर्मित हुआ था जिसकी भाषा अधिकाशत अपभ्र श है।

निष्कर्ष यह कि इस काल मे रचित अपभ्र श-साहित्य की तुलना में चारण-प्रणीत साहित्य सख्या की दृष्टि से तो कम है ही, साथ ही पूर्णतया प्रामाणिक भी नही है। अत इस काल को 'वीरगाथाकाल' के स्थान पर राहुलसाकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामन्तकाल' कहा है। यहाँ 'सामन्त' शब्द वीरगाथा-काव्य का द्योतक है, और 'सिद्ध' शब्द अपभ्र श का। पर इस काल मे केवल सिद्धो ने अपभ्र श मे रचना नही की, अत यह नाम पूर्णत समुचित नही है। डॉ० द्विवेदी ने इसे 'अपभ्र श-काल' अथवा 'आदिकाल' नाम दिया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की दृष्टि से इसे 'अपभ्र श-काल' नाम देना समुचित नही है। यद्यपि 'आदिकाल' नाम मे 'आदि' शब्द और उसका पर्यायवाचक 'आरम्भिक' शब्द भी किञ्चित् भ्रामक है क्योकि इससे अत्यधिक प्राचीनता का बोध होता है परन्तु सवत्

१०५० की पूर्व-सीमा नियत कर देने से यह बाधा अधिकाश रूप मे दूर हो जाती है। अत वर्तमान परिस्थिति मे 'आदिकाल' नाम से ही सन्तोष करना पडेगा।

काव्य-रूप तथा भाषा

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल मे प्रमुख रूप से दो प्रकार का साहित्य निर्मित हुआ—

(१) अपभ्रंश भाषा मे लिखित काव्य, जिन्हे तीन रूपो मे विभक्त कर सकते हैं—

(क) जैन-धर्म से सम्बद्ध साहित्यिक ग्रन्थ

(ख) सिद्धो और नाथ-पन्थियो का साहित्य

(ग) फुटकर ग्रन्थ—सन्देशरासक, कीर्तिलता, कीर्तिपताका

(२) देशी भाषा मे लिखित काव्य, जिन्हे दो रूपो मे विभक्त कर सकते हैं—

(क) चारण-प्रणीत वीरगाथात्मक काव्य, इसकी भाषा डिंगल है।

(ख) फुटकर रचनाएँ—विद्यापति की पदावली और अमीर खुसरो की विनोदात्मक रचनाएँ। इनके अतिरिक्त सिखो के धार्मिक 'आदिग्रन्थ' मे उपलब्ध फरीद-उद्दीन शकरगज की रचनाएँ भी इसी काल की उपज हैं। इनका मूल विषय प्रेम की व्यञ्जना है। विद्यापति की भाषा मैथिली है, अमीर खुसरो की खडीबोली, और फरीद-उद्दीन की मुलतानी-मिश्रित ब्रजभाषा।

अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी पर प्रभाव

(क) अपभ्रंश-साहित्य—

पीछे लिख आये हैं कि विक्रम की ७वी–८वी शती से १६वी तक अपभ्रंश भाषा का साहित्य निर्मित होता रहा। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से

निस्सदेह यह साहित्य हिन्दी-साहित्य नही है। पर वर्ण्य-विषय एव कला की दृष्टि से इस साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव पडा है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार के लिए इसकी चर्चा करना अनिवार्य हो जाता है।

अपभ्र श-साहित्य को सुरक्षित रखने का श्रेय जैन-पुस्तकालयो एव जैन सज्जनो को है और इसे प्रकाश मे लाने का श्रेय जर्मन के विद्वान् पिशेल और हर्मन याकोबी तथा भारत के विद्वान् प० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० शहीदुल्ला, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची और प० राहुल साकृत्यायन को है।

अपभ्र श-साहित्य का अधिकाश भाग जैनाचार्यो द्वारा निर्मित है। जैनेतर लेखको मे सख्या की दृष्टि से बौद्धो तथा ब्राह्मणो का नाम क्रमश. उल्लेख्य है। अब तक के अनुसन्धानो के अनुसार अद्दहमाण नामक एक मुसलमान की भी 'सन्देशरासक' नामक एक अपभ्र श-रचना उपलब्ध हुई है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यद्यपि जैनियो तथा बौद्धो की रचनाएँ धार्मिक दृष्टिकोण से लिखी गई हैं, पर उनका साहित्यिक महत्त्व भी किसी दृष्टि से कम नही है। इधर ठीक यही स्थिति हिन्दी-साहित्य की भी है। कबीर, जायसी, तुलसी, सूरदास आदि की रचनाएँ मूलत धर्मप्रधान होते हुए भी साहित्यिक दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। अत हिन्दी की इन रचनाओ के समान बौद्धो और जैनियो की रचनाएँ भी साहित्य मे स्थान पाने योग्य हैं।

अपभ्र श-साहित्य ने हिन्दी-साहित्य के विकास मे क्या योग दिया, इस पर प्रकाश डालने से पूर्व इस साहित्य का सामान्य परिचय देना आवश्यक है। अपभ्र श भाषा मे गद्यबद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ की अद्यावधि उपलब्धि नही हुई। इसके पद्यबद्ध साहित्य को प्रमुखत दो रूपो मे विभक्त कर सकते है—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-काव्य के दो रूप है—महाकाव्य और खण्डकाव्य। मुक्तक काव्य को भी दो रूपो मे विभक्त किया जा सकता है—जैन तथा बौद्ध-धर्म सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थ तथा विविध

साहित्यिक ग्रन्थ ।[1]

(ख) अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव—

भारतीय साहित्य की यह विशेषता रही है कि माध्यम रूप से भले ही विभिन्न भाषाओ को स्वीकृत किया गया हो पर उसकी गतिमय भाव-धारा अविच्छिन्न रूप से सदा प्रवाहित होती रही है । यही कारण है कि सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श तथा आधुनिक आर्य-भाषाओ मे निर्मित साहित्य

---

१. इस साहित्य के कतिपय उल्लेखनीय कवियो एव ग्रन्थो की सूची इस प्रकार है—

(क) प्रबन्ध काव्य—

(अ) महाकाव्य—

कवि	**ग्रन्थ**	**समय (वि० सं०)**
स्वयभू	पउमचरिउ (पद्मचरित)	अनुमानत ८वी शती
पुष्पदन्त	तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालकार (त्रिषष्टि-महापुरुष-गुणालकार) अथवा महापुराण	१०१६
धनपाल धक्कड	भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त-कथा)	१०वी शती
धवल	हरिवश पुराण	११वी शती
यश कीर्ति	हरिवश पुराण	१५००
श्रुतकीर्ति	हरिवश पुराण	१५५३

(आ) खण्डकाव्य—

पुष्पदन्त	णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित)	
	जसहरचरिउ (यशोधरचरित)	१०-११वी शती
नयनदी	सुदसणचरिउ (सुदर्शनचरित)	११००
कनकामर	करकडचरिउ (करकडु-चरित)	११२२
दिव्यदृष्टि धाहिल	पउमसिरीचरिउ (पद्मश्रीचरित)	११९१
अद्दहमाण	सदेशरासक	अनुमानत ११वी से १४वी शती के बीच

एक-दूसरे से उत्तरोत्तर प्रभावित हैं। हिन्दी का साहित्य वर्ण्य-सामग्री तथा शैली दोनो दृष्टियो से अपभ्रंश-साहित्य का ऋणी है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम तीन कालो—आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल—पर ही इस साहित्य का प्रभाव पडा है, आधुनिक काल पर इसका प्रभाव लक्षित नही होता। इस प्रभाव का किंचित् दिग्दर्शन इस प्रकार है—

(१) आदिकाल पर प्रभाव—

१—आदिकाल मे चारणो द्वारा निर्मित पृथ्वीराजरासो आदि ग्रन्थो मे

विद्यापति	कीर्तिलता	१४वी–१५वी शती
लखमदेव	णेमिणाहचरिउ (नेमिनाथचरित)	सम्भवत १५वी शती का अन्तिम चरण
यश कीर्ति	चदप्पहचरिउ (चन्द्रप्रभचरित)	अज्ञात
भगवतीदास	मृगाकलेखाचरिउ	१७००

(ख) मुक्तक काव्य—

(अ) जैनधर्म-सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थ—

योगीन्दु (योगीन्द्र)	परमप्पयासु (परमात्मप्रकाश) योगसार	११वी शती
जिनदत्त सूरि	उपदेश-रसायन-रास	१२वी शती
महेश्वर सूरि	सयम-मजरी	१४वी शती

(आ) बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थ—

सरहपा	काया-कोष, दोहा-कोष चर्चापद आदि	७वी–८वी शती
कण्हपा	कान्हपाद–गीतिका, दोहा-कोष आदि	९वी शती

(इ) विविध साहित्यिक मुक्तक काव्य—

अपभ्रंश का साहित्यिक मुक्तक काव्य किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे उपलब्ध नही है। सस्कृत एव प्राकृत के ग्रन्थो मे उपलब्ध मुक्तक रचनाएँ,

वीर और श्रृगार रस का मिश्रण है। यही प्रवृत्ति अपभ्र श-महाकाव्यो मे भी मिलती है पर थोडे अन्तर के साथ। इनमे श्रृगार और वीर के अतिरिक्त शान्त रस का भी मिश्रण है। एक और अन्तर यह है कि एक ओर रासो-काव्यो मे वीर-नायको द्वारा भोगो का त्याग युद्ध-भूमि मे होता है और दूसरी ओर चरित-काव्यो मे चरित-नायको द्वारा भोगो का त्याग ससार से विरक्ति मे।

२—रासो-ग्रन्थो मे छन्दो की विविधता है जोकि हमे सन्देशरासक नामक अपभ्र श काव्य मे भी लक्षित होती है। भावी अनुसन्धानो द्वारा निस्सन्देह ऐसे अन्य अपभ्र श-ग्रन्थो के भी मिलने की आशा की जा सकती है, जिनमे यह प्रवृत्ति भी पाई जायगी।

३—कुछेक रासो-काव्यो का आरम्भ भी अपभ्र श-काव्यो के समान हुआ है। उदाहरणस्वरूप, पृथ्वीराजरासो और सन्देशरासक के आरम्भिक पद्य उल्लिखित किये जा सकते है।

४—वीसलदेवरासो पर 'उपदेश-रसायन रास' नामक अपभ्र श-काव्य का प्रभाव लक्षित होता है। दोनो मे कथा सक्षिप्त है। दोनो गीतात्मक काव्य हैं और दोनो काव्यो मे एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है।

जिनका विषय श्रृगार तथा वीर रस है, इस साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। इनमे से कतिपय ग्रन्थो के नाम ये हैं—

१. हेमचन्द्र	शब्दानुशासन	(८म अध्याय, ४र्थ पाद)
	कुमारपालचरित अथवा द्वयाश्रयमहाकाव्य (२८वाँ सर्ग, १४-८२ पद्य),	१२वी शती
२. सोमप्रभ	कुमारपाल-प्रतिबोध,	१२वी शती
३ मेरुतु ग	प्रबन्ध चिंतामणि	१४वी शती
४. अज्ञात	प्राकृत पैगल,	अनुमानन १४वी–१५वी शती

५—रासो-काव्यो तथा चरित-काव्यो मे उद्धत शब्द-योजना, समस्त-पदता तथा भाषा के धारा-प्रवाह की इतनी समानता है कि दोनो भाषाओ के महाकाव्यो मे भाषा की एकता का भ्रम होता है।

(२) भक्तिकाल पर प्रभाव—

१—कबीर आदि सन्तो के काव्यो मे सद्गुणो के ग्रहण एव बाह्य कर्मकाण्ड के परित्याग का उपदेश जैन-धर्म के आचार्यो तथा विशेषतः बौद्ध-धर्म के सिद्धो के उपदेशो से प्रभावित है।

२—इसी प्रकार जाति-पॉति का विरोध, गुरु की महत्ता आदि के लिए सन्त-काव्य सिद्ध-साहित्य का ऋणी है।

३—सन्तो की सध्या-भाषा, उलटबासियो का प्रयोग, रहस्यपूर्ण उक्तियॉ तथा रूपकमयी रचना भी सिद्ध-साहित्य से प्रभावित है। इसी प्रकार सूर-काव्य के दृष्टकूटो का बीज भी सिद्धो की सध्या-भाषा के अनेक पदो मे मिल जाता है।

४—जैनो और सिद्धो ने अपने उपदेशात्मक विचारो को दोहो और गीतो के माध्यम से अभिव्यक्त किया। उन्ही के अनुकरण मे सन्तो ने भी इसी विषय को दोहो और गेय पदो मे प्रकट किया। सिद्धो की गेय-पदता का (जिसका प्रयोग उन्होने अपने चर्या-गीतो मे किया है) प्रभाव जयदेव और विद्यापति के माध्यम से सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियो की रचनाओ मे भी स्वीकार किया जा सकता है।

५—जायसी आदि सूफी कवियो के काव्यो की विशिष्टता है—प्रेमाख्यानो द्वारा आध्यात्मिक तत्त्व की ओर सकेत। उधर जैनियो के अपभ्र श-काव्य मे भी प्रेम-कथाओ को स्थान मिला है। पर दोनो काव्यो की परिणति मे अन्तर अवश्य है। अपभ्र श मे जैनियो की प्रेमकथाओ का पर्यवसान वैराग्य मे होता है और हिन्दी मे सूफियो की प्रेमकथाओ का पर्यवसान आध्यात्मिक प्रेम मे।

६—सूफी-काव्यो मे नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को सिहल-यात्रा आदि कराई गई है। उसी प्रकार की प्रवृत्ति अपभ्र श-काव्यो मे

भी उपलब्ध है। उदाहरणार्थ, करकडुचरिउ का नायक करकडु, जिनदत्त-चरिउ का नायक जिनदत्त सिहल द्वीप मे जाकर वहाँ की राजकुमारियो को प्राप्त करते हैं।

७—जायसी के पद्मावत का मगलाचरण तथा वियोग-वर्णन सन्देश-रासक से प्रभावित जान पडता है। जायसी ने अपने काव्य मे अनेक प्रकार के व्यञ्जनो, पकवानो आदि की लम्बी सूचियाँ प्रस्तुत की हैं, उधर सन्देश रासक मे भी अनेक प्रकार के वनस्पतियो की नामावलि दी गई है।

८—तुलसी का रामचरितमानस तथा सूफियो के काव्य दोहा-चौपाई पद्धति मे लिखे गये हैं यद्यपि उपलब्ध अपभ्र श-महाकाव्यो मे पूर्ण रूप से यही पद्धति तो नही अपनाई गई, पर उनकी पद्धति को हिन्दी की इस पद्धति का स्रोत अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। अधिकाश अपभ्र श-काव्यो मे चौपाई का प्रयोग न होकर १६ मात्राओ वाले पादाकुलक, पद्धडिया, पज्झटिका आदि छन्दो का प्रयोग हुआ है, तथा कडवक (सर्ग) के अन्त मे धत्ता का, जो दोहा छन्द के ही लगभग समान है। इधर हिन्दी-महाकाव्यो मे कई चौपाइयो के उपरान्त दोहा की प्रयोग-प्रणाली को उपर्युक्त पद्धति से प्रभावित मानना असगत प्रतीत नही होता।

(३) रीतिकाल पर प्रभाव—

हिन्दी के रीतकालीन कवियो ने अपने आश्रयदाताओ की प्रशसा की है। यह परिपाटी नूतन नही है। अपभ्र श-साहित्य के चरित-ग्रन्थो मे भी प्राय कवियो ने अपने आश्रयदाता का पूर्ण वर्णन किया है। रीति-कालीन ग्रन्थो की प्रमुख विशिष्टता है—नायक-नायिका-भेद, षड्ऋतु-वर्णन, नखसिख-वर्णन आदि के माध्यम से शृगार रस का विविध रूपो से निरूपण। यद्यपि यही प्रवृत्ति अपभ्र श-साहित्य मे प्रमुख रूप से नही पाई जाती क्योकि अधिकाश ग्रन्थ धार्मिक दृष्टि से लिखे गये है पर गौण रूप से अवश्य लक्षित हो जाती है। उदाहरणार्थ, नयनदी कृत 'सुदसण चरिउ' मे ऋतु, विवाह, नखसिख, रति, शृगार आदि का वर्णन भी उपलब्ध होता है। सन्देशरासक मे षड्ऋतु-वर्णन तथा विनयचन्द्र सूरी

कृत 'नेमिनाथ चतुष्पादिका' मे बारहमासा का लगभग वही रूप दिखाई देता है जैसाकि हिन्दी के रीतिकाव्यो मे। इनके अतिरिक्त अपभ्रश के मुक्तक काव्यो मे शृगार-रस की चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ हिन्दी रीतिकालीन शृगार-रस की स्मृति दिलाती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रीतिकालीन कवियो अथवा आचार्यो ने अपभ्र श-साहित्य का शायद ही अध्ययन किया हो। पर अपभ्र श-साहित्य मे भी उक्त प्रवृत्तियो का पाया जाना भारतीय विचारधारा की तथा उसके स्रोत की एकता का सबल प्रमाण है।

निष्कर्ष यह कि

(१) जो अपभ्र श-साहित्य हिन्दी-साहित्य से पूर्व निर्मित हुआ है उसका प्रभाव तो हिन्दी-साहित्य पर किसी-न-किसी रूप मे पडा ही है पर जो अपभ्र श-साहित्य हिन्दी-साहित्य का समकालीन है, उसके विषय मे निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि कौन किसका ऋणी है।

(२) हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन कालो मे से आदिकाल अपभ्र श-साहित्य का सर्वाधिक ऋणी है। इस दृष्टि से उसके पश्चात् भक्तिकाल का स्थान है और उसके पश्चात् रीतिकाल का। वस्तुत स्थिति होनी भी यही चाहिए थी—पतनोन्मुख साहित्य का प्रभाव उत्तरोत्तर कम होता जाता है। वर्ण्य-सामग्री तथा शैली—दोनो दृष्टियो से अपभ्र श-साहित्य तथा हिन्दी-साहित्य मे ऐक्य को देखकर यह मानना पडता है कि अपभ्र श अथवा हिन्दी भाषा के माध्यम पर ध्यान न दिया जाय, तो दोनो साहित्य एक ही भावधारा के द्योतक हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रथम तीन कालो के साहित्य को पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य का ही विकसित रूप समझना चाहिए।

अपभ्रंश के कतिपय कवियों का परिचय

१ सरह पा

सिद्ध-परम्परा मे सरह पा का प्रथम स्थान है। विनयतोष भट्टाचार्य

इनका समय सवत् ६६० मानते है और महापण्डित राहुल साकृत्यायन सवत् ८१७ (अर्थात् ७६० ई०)।

सरह पा जन्म मे ब्राह्मण थे। ये सस्कृत के भी पण्डित थे। सिद्ध-भिक्षु बनकर बहुत समय नालन्दा मे भी रहे। राहुल भद्र और सरोजवज्र भी इनके नाम बताये जाते है। इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ ये हैं—कायाकोष, अमृतवज्र-गीति, चित्तकोष-अज-वज्र-गीति, डाकिनी-गुह्य-वज्र-गीति, दोहा-कोष, तत्त्वोपदेशशिखर, उपदेशगीति, भावनाफल-दृष्टचर्या, वसततिलक, चर्यागीत, महामुद्रोपदेश और सरहपादगीतिका।

इन ग्रन्थो के वर्ण्य विषय ये है—रहस्यवाद, कर्मकाण्ड की निन्दा, मन्त्र-देवतादि की व्यर्थता, सहज मार्ग, योग से निर्वाण और गुरु-महिमा। इधर हिन्दी-साहित्य मे कबीर, दादू, पल्टू, मलूकदास आदि सन्तो के विषय भी प्राय यही है। सरह पा की भाषा तथा विचारधारा के कुछ नमूने प्रस्तुत है

कर्मकाण्ड के विरोध मे—

बह्मणहि म जाणन्त हि भेउ। एवइ पढ़िअउ ए चउवेउ॥
मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त। घरही बइसी अग्गि हुणन्त॥
कज्जे विरहइ हुअवह होये। अक्खि डहाविअ कडुएं धूये॥

भोग मे योग की साधना—

खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्का वि भरन्ते।
अइस धम्म सिज्झइ पर लोअह। णाह पाए दलीउ भअलोअह॥

गुरु की महत्ता—

गुरु उवएसे अमिअ रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु-सत्थत्थ-मरुत्थलहिं, तिसिए मरिअउ तेहि॥

२ कण्ह पा

कण्ह पा के दो नाम सुनने मे आते हैं—कर्ण पा और कृष्ण पा। कर्णाटक निवासी होने से पहला नाम और कृष्ण वर्ण होने से दूसरा नाम रूढ बताया जाता है। राहुल जी ने इन्हे ब्राह्मण-कुलोत्पन्न कहा है।

महाराज देवपाल के (८०९—८४९ ई०) समय ये एक ब्राह्मण भिक्षु थे और बाद मे जालन्धरपाद के शिष्य हुए।

श्री राहुल जी ने आपके दर्शनशास्त्र पर लिखे छ और तन्त्रशास्त्र पर लिखे चौहत्तर ग्रन्थो की सूचना दी है। कुछ रचनाओ के नाम ये हैं—कन्हपादगीतिका, महाढुण्ढनमूल, वसततिलक, असम्वन्ध्वदृष्टि, वज्र-गीति, दोहाकोष आदि।

कबीर आदि सन्तो के साहित्य मे जिस सहज साधना की चर्चा की जाती है उसका मूल सिद्ध-साहित्य मे मिल जाता है। कण्ह पा के एक पद्य से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। यथा—

जइ पवण गमण दुआरे, दिढ तालावि दिज्जइ।
जइ तसु घोरान्धारें, मण दिवहो किज्जइ॥
जिण रअण उअरें जइ, सो वरु अम्बरु छुप्पइ।
भणइ काण्ह भव भज्जन्ते, णिव्वाणो वि सिज्झइ॥

कण्ह पा ने राग भैरवी, मल्लारी, मालसी आदि गेय पद भी लिखे हैं। यही पद-रचना-परम्परा भक्तिकाल तक अक्षुण्ण रूप से चली आई है।

३ स्वयभू

'कविराज चक्रवर्ती' और 'छन्दश्चूडामणि' पदवी-विभूषित स्वयभू अपने युग के महाकवि कहे जाते है। ये प्राकृत और अपभ्रंश के पण्डित थे। इनके पिता का नाम मारुन और माता का नाम पद्मिनी था। इनके दो विवाह हुए थे। त्रिभुवन कवि इनके पुत्र थे। स्वयभू की कृतियाँ ये है—पउम-चरिउ, रिट्ठणेमि-चरिउ, स्वयभू-छन्द, पचमी-चरिउ और व्याकरण। अन्तिम दो रचनाएँ नोटिसमात्र हैं, इनका पउमचरिउ मे उल्लेखमात्र मिलता है। पुष्पदन्त ने स्वयभू को ससम्मान स्मरण किया है और स्वयभू ने अपने से पूर्ववर्ती कवियो को। अत इसका समय सवत् ७०० वि० के पश्चात् माना जाता है।

पउमचरिउ—इस रचना मे रामकथा का प्रसग है। इनसे पूर्व रविषेणाचार्य ने सस्कृत मे 'पद्मपुराण' लिखा था और विमल सूरि ने

प्राकृत मे 'पउमचरिउ'। सस्कृत और प्राकृत के पश्चात् स्वयभू ने 'पउमचरिउ' लिखकर अपभ्र श की कडी भी जोड दी। इन तीनो काव्यो मे रामकथा जैनधर्म मे रूढ रामचरित के आधार पर है। पउमचरिउ मे पाँच काण्ड है—विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड। इस रचना मे महाकाव्योचित सभी विशेषताएँ है। वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत ऋतुवर्णन, जलक्रीडा, सध्या, समुद्र, वन, युद्ध आदि के प्रसग बडे सुन्दर बन पडे हैं। इसमे वीर, शृगार, करुण और शान्त रस का सफल परिपाक हुआ है। भाषा प्रसगानुसार सुघटित, सानुप्रास और प्रवाहपूर्ण है।

रिट्ठणेमिचरिउ—'अरिष्टनेमिचरित्र' का इसका सस्कृत-नाम है। अरिष्टनेमि जैनियो के २२वे तीर्थकर हो चुके है। यह पउमचरिउ की अपेक्षा विशालकाय ग्रन्थ है। इसमे ११२ सन्धियाँ है। ९३ सन्धियो के पश्चात् इसके शेष भाग का निर्माण त्रिभुवन कवि ने किया है। 'जस्सकित्ति' (यशकीर्ति) नामक जैन मुनि का भी इसमे सहयोग बताया जाता है। यह रचना चार काण्डो मे विभक्त है—यादवकाण्ड, कुरुकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड। काव्य की भाषा सरस, समास-रहित, अलकृत और व्याकरण-सम्मत है। इसमे पज्झटिका, भुजगप्रयात, मत्तगयद, कामिनी-मोहन, नाराचक, केतकीकुसुम, द्विपदी, हेला आदि छन्दो का प्रयोग हुआ है।

स्वयभू की काव्यकला का आस्वादन करने के लिए कतिपय प्रसग प्रस्तुत है। युद्ध का सजीव वर्णन देखिए—

भज्जंत समाउइं। जुज्झंत सुहडाइं।
णिग्गंत अताइं। भिज्जंत गत्ताइं।
लोटत चिंधाइं। तुट्टंत छत्ताइं।

नाना वाद्ययन्त्रो के अनुरणन के अनुरूप कोमल शब्द-नाद सुनिए—

दुमु दुमु दुमत दुंदहि व मालु। घुमु-घुमु घुमंत घुमुक्क तालु॥
झिं-झिं करन्ति सिविकरि णिणाउ। सिमिसिमि सिमत झल्लरि णिहाउ॥

सल-सल सलंत कंसाल हुयलु । गु ंगु जमाण गुजन्तु मुहलु ।।
कण-कण कणन्तु कणइ कोसु । डम-डम डमंत डमरु वणि घोसु ।।
और अब धनुष की टकार और तलवारो की खनखनाहट तथा अन्य शस्त्रो के अनुरूप कठोर शब्द-झकार का श्रवण कीजिए—

हण हण हणंकार महारउद्दू । छण छण छणन्तु गुणंपि पछि सद्दू ।।
कर कर करन्तु कोयंड पवरु । थर थर थरन्तु णाराय णियरु ।।
खण खण खणतु तिक्खग खग्गु । हिल हिलि हिलतु हय चंचलग्गु ।।
गुलु गुलू गुलंत गयवर विसालु । "हण हण" भणतु णर वर विसालु ।।

इस प्रकार प्रवाहपूर्ण कथा, मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण, सजीव प्रकृति-चित्रण और मर्मस्पर्शी उक्तियो के कारण स्वयभू अपने काल के जैन कवियो मे उत्कृष्ट कवि गिने जाते हैं ।

४ पुष्पदंत

पुष्पदत मान्यखेट (वर्तमान मल्खेड) के प्रतापी राजा कर्ण के महामात्य भीत के सभाकवि कहे जाते हैं । इनका समय विक्रम की १०वी शती है । इनकी अनेक उपाधियाँ थी—अभिमान-मेरु, कविपिशल, कवि-कुलतिलक, काव्यरत्नाकर आदि । शिवसिह सेगर ने मान राजा के जिस दरबारी हिन्दी-कवि पुष्य या पुष्प का उल्लेख किया है, सभव है वह यही हो । इनके एक ग्रन्थ 'महापुराण' से इतना पता चलता है कि पुष्पदत कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण केशवभट्ट तथा माता मुग्धादेवी के पुत्र थे । ये पहले शैव थे, बाद मे जैनधर्म मे दीक्षित हुए । विरोधियो से सताये जाने पर मान्यखेट पहुँचे । वहाँ के नरेश की प्रेरणा से इन्होने महापुराण लिखा । पुष्यदत की अपभ्र श रचनाएँ ये हैं—तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालकारु, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ ।

तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकारु—इसको 'महापुराण' भी कहते है । यह महाकाव्य है । इसका कथानक विस्तृत और विश्रृखल है । इसके तीन खण्ड है—आदिपुराण, उत्तरपुराण पूर्वार्ध तथा उत्तरपुराण उत्तरार्ध । आदिखण्ड मे जैनो के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवजी और प्रथम चक्रवर्ती

भरत का चरित्र है। कवि ने इस खण्ड को राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण (तृतीय) के आश्रय मे रहकर लिखा। इसे लिखकर कवि हतोत्साह हो गया और बाद मे सरस्वती की प्रेरणा से इसने शेष खण्ड लिखे। प्रथम खण्ड की रचना सवत् १०१६ मे तथा शेष भाग की रचना सवत् १०२२ मे हुई।

जसहरचरिउ—यह एक खण्डकाव्य है। इसमे चार सधियाँ हैं। इसका कथानक जैन समाज के चिरप्रसिद्ध जसहर (यशोधर) के चरित्र पर आधारित है। इससे पूर्व इसी चरितनायक पर सस्कृत के तीन महाकाव्य मिलते हैं। यथा—वादिराजकृत यशोधरचरित्र, सोमदेवकृत यशस्तिलक चम्पू तथा माणिक्य सूरिकृत यशोधरचरित।

पुष्पदत को काव्यकला का निपुण शिल्पी कहना चाहिए। इनके वस्तुवर्णन इतने अधिक और सजीव है कि सस्कृत-परिपाटी पर लिखे होने पर भी उनमे नवीनता है। मानव-शरीर का वर्णन देखिए—

माणुस सरीरु दुहपोट्टलउ। धोयउ धोयउ अइ विट्टलउ॥
वासिउ वासिउ ण उ सुरहि मलु। पोसिउ पोसिउ णउ धरइ बलु॥
तोसिउ सोसिउ ण उ अप्पणउ। मोसिउ मोसिउ घर भायणउ॥
भूसिउ भूसिउ ण सुहावणउ। मंडिउ मडिउ भीसावणउ॥
बोल्लिउ बोल्लिउ दुक्खावणउ। चच्चिउ चच्चिउ चिलिसावणउ॥

सूर्योदय का वर्णन भी कितना मनोरम है—

इय मह चिंततहो अरुणयरु। णव पल्लव णं कंकेल्लितरु॥
उग्गमिउ दुयणि जणु रंजियउ। सिंदूर पुंजु णं पुंजियउ॥
अरुणायवत्तु णं णह सिरिहि। णं चूडारयणु उदयगिरिहि॥
लोहिय लुद्धं जगु फाडियउ। णं कालि चक्कु भमाडियउ॥
कुंकुम पिंडु व दिसिकामिणिहिं। रत्तुपलु संझा पोमिणिहिं॥

५ कनकामर

कनकामर की प्रसिद्ध रचना 'करकडुचरिउ' अपभ्रंश का खण्ड-काव्य है। इस ग्रन्थ का समय स० ११२२ माना जाता है। इस काव्य मे

१० सन्धियाँ हैं। इसमे सभी पात्रो के विकासशील चरित्रो का निरूपण हुआ है। करकडु मे धीरता, वीरता, स्वाभिमान, उत्साह आदि गुणो का यथेष्ट विकास है। शीलगुप्त मुनि मे जैन साधुओ के योग्य सभी गुण विद्यमान है। पद्मावती मे नारी के सहज स्वभाव के विपरीत वात्सल्य और नारीत्व-भावना से पलायन-वृत्ति अधिक चित्रित हुई है।

कवि की वर्णन-शैली अद्भुत है। युद्ध का एक सजीव वर्णन प्रस्तुत है—

ता हयइ तूराइ । भुवणयल पूराइं ।
वज्जंति वज्जाइं । सज्जंति सेण्णाइं ।
आणाए घडियाइ । परबलइं भिडियाइं ।
कुताइं भज्जंति । कुंजरइं गज्जति ।
रहसेण वग्गति । करि दसणी लग्गति ।
गत्ताइं तुट्टति । मुंडाइं फुट्टति ॥

इस रचना मे शब्दचयन भी भावानुरूप है। इसकी शब्दाडम्बर-शून्य भाषा सरल और सयत बन पडी है। अभिव्यक्ति गहन और शैली समर्थ है।

६ अद्दहमाण

अद्दहमाण, सम्भवत अब्दुल रहमान ने 'सन्देशरासक' लिखकर विचारको को एक नया विचार-बिन्दु दिया है कि भारतीय साहित्य मे मुसलमानो का कितने चिर से सम्बन्ध चला आ रहा है। इनके ग्रन्थ से इस सम्बन्ध की ऊर्ध्वकाल-वर्त्ती एक नई कडी जुड गई है। कबीर की भाँति अद्दहमाण जुलाहा-परिवार से सम्बद्ध हैं।

सन्देशरासक कब लिखा गया, इस विषय मे विभिन्न मतभेद है। डॉ० कात्रे ने इसका रचनाकाल ११वी शताब्दी और १४वी शताब्दी के मध्य माना है। इस ग्रन्थ के टीकाकार ने टीका का रचना-काल विक्रम सवत् १४६५ लिखा है। अत सन्देशरासक का निर्माण इससे पूर्व हो चुका होगा। मुनि जिनविजय जी ने १२वी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १३वी शती के पूर्वार्ध तक इस रचना का समय कूता है। अगरचन्द नाहटा

इसे सवत् १४०० के आसपास रचा मानते हैं। पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उक्त सभी धारणाओ के विपरीत एक अखण्डनीय तर्क उपस्थित किया है। वह यह कि हेमचन्द्र ने अपनी रचना मे सन्देशरासक के पद्य उद्धृत किये हैं। अत इस रचना का हेमचन्द्र से पहले लिखा जाना सिद्ध हो जाता है। हेमचन्द्र का जन्म सवत् ११४५ मे तथा मृत्यु १२२९ सवत् मे हुई। अत अब्दुल रहमान को ११वी शताब्दी का मानना युक्तिसगत प्रतीत होता है।

ग्रन्थकर्ता ने अपने विषय मे केवल इतना लिखा है—"मै म्लेच्छदेश वासी तन्तुवाय मीरसेन का पुत्र हूँ।" यह कवि प्राकृत काव्य और प्राकृत गीतियो मे निपुण था। सस्कृत और प्राकृत का अच्छा पण्डित था। नल-चरित्र, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थो का स्मरण करके उसने यह निर्देश किया है कि उसे भारतीय साहित्य और सस्कृति मे गहन आस्था एव रुचि थी।

सन्देशरासक खण्डकाव्य है। इसमे तीन प्रक्रम है। पहले प्रक्रम मे मगलाचरण, कवि-परम्परागत अन्य चर्चाएँ और प्रस्तावना है। दूसरे मे मूलकथानक है और तीसरे मे षड्ऋतुवर्णन है। इसकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्र श है। इसमे १७ प्रकार के मात्रिक तथा वर्णिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

सन्देशरासक एक प्रेमकाव्य है। उसकी नायिका अहर्निश पिय-वियोग के कटु अनुभवो से चलायमान हो रही है। कितने मार्मिक परन्तु सरल शब्दो मे वह अपने दिल की गाँठ खोलती है। यथा—

तुह विरह पहर संचरिआइ विहडंति जं न अगाइं।
त अज्ज कल्ल सघडणं ओसहे णाह तग्गति॥

इस प्रकार ऋतुवर्णन के पद्य देखिए—

उल्हवियं गिम्हहवो धारा निवहेण पाउसे पत्ते।
अच्चरियं मह हियए विरहग्गी तिवबई अहिययरो॥

वर्षा के कारण ग्रीष्मताप मे सर्वत्र कमी हुई है, पर यदि कही गर्मी की कमी नही हुई तो वह विरहदग्धा विरहिणी का हृदय है ।

शरद् ऋतु मे नदियो मे दुबलापन आ रहा है तो विरहिणी नायिका भी दुबली पडती जा रही है—

झिज्झउ पहिय जलिहि झिज्झतिहि ।

७ सोमप्रभ सूरि

सोमप्रभ सूरि का जन्म प्राग्वाट नाम से विख्यात वैश्यकुल मे सर्वदेव के घर हुआ । ये सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श के प्रकाण्ड पण्डित थे । कुमारावस्था मे इन्होने जैनधर्म की दीक्षा ली । इनकी रचनाएँ ये है— कुमारपाल-प्रतिबोध, सुमतिनाथचरित, सूक्तिमुक्तावली और शतार्थकाव्य ।

'कुमारपालप्रतिबोध' सस्कृत-प्राकृत काव्य है । इस रचना का निर्माण सवत् १२४१ मे हुआ । इसमे हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल को दिये गये उपदेश गद्य-पद्य शैली मे वर्णित हैं । मुक्तक शैली के सुभाषित, प्रेमप्रसग, समाजनीति आदि के पद्य इस ग्रन्थ मे मिलते हैं । ऋतुवर्णन हृदयग्राही है । कुछेक, पद्य समस्यापूर्ति शैली के भी हैं । एक समस्यापूर्ति देखिए—

रावणु जायउ जहिं दियहि दह-मुहु एक्क-सरीरु ।
चिंताविय तइयहिं जणणि कवणु पियावउं खीरु ।।

एक शृगार रस का उदाहरण लीजिए—

पिय हउ थक्किय सयलु दिणु तुह विरग्गि किलत ।
थोडइ जल जिमि मच्छलिय तल्लोविल्लि करत ।।

८ धनपाल

धनपाल धक्कड वैश्यकुल मे उत्पन्न हुए थे । इनके पिता का नाम मायेश्वर तथा माता का नाम धनश्री था । वैश्यकुलोत्पन्न होने पर भी अपनी विद्वत्ता पर बद्धमूल आत्मविश्वास से इन्होने अपने-आपको सरस्वती-पुत्र कहा है ।

इनका समय निश्चित रूप से नही कहा जा सकता । डॉ० याकोबी

ने इसे १०वी शती का माना है। श्री दलाल तथा श्री गुणे इसे हेमचन्द्र से पूर्व का कवि मानते हैं। श्री भायाणी इसे स्वयभू के बाद का कवि मानते है।

धनपाल रचित 'भविसयत्त कहा' अपभ्र श का महाकाव्य है। इसका मूल उद्देश्य श्रुतपचमी व्रत का माहात्म्य प्रतिपादन करना मालूम पडता है। इसका कथानक लौकिक है। कथानक मे घटना-बाहुल्य है। इस जगत् के पात्रो के साथ दिव्य पात्रो का सम्बन्ध-स्थापन कवियो मे चिरकाल से रूढ चला आता है। इस ग्रन्थ मे भी चरितनायक भविष्यदत्त को यक्ष की सहायता मिलती है। इस काव्य के वस्तुवर्णन हृदयग्राही है। इसके अलग-अलग खण्डो मे शृगार, वीर और शान्त रस की प्रधानता है। भाषा साहित्यिक अपभ्र श है। उसमे लोकोक्तियो और मुहावरो का यथेष्ट प्रयोग दीख पडता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, विरोधाभास, अतिशयोक्ति आदि के प्रयोग बहुलता से किये गये हैं। भुजगप्रयात, लक्ष्मीधर, मदार, चामर, शखनारी, पज्भटिका, अडिल्ला, काव्य, प्लवगम, सिहावलोकन कलहस आदि वर्णिक तथा मात्रिक छन्दो का प्रयोग इसमे हुआ है।

मुहावरो और लोकोक्तियो के सुन्दर प्रयोग देखिए—

'कि घिउ होइ विरोलिए पाणिए।'

'जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चितंतहो।'

'कलुणइ सुमीस करयल मलंति विहुणंति सीस।'

शब्दचित्रो के उतारने मे कवि कितना समर्थ है, देखिए—

सोहइ दप्पणि कील करती चिहुर तरग भंग विवरति।

नारी के वर्णन मे एक रूपचित्र भी देखिए—

ण वम्मह भल्लि विधणसील जुवाण जणि।

६. महेश्वर सूरि

महेश्वर सूरि कृत 'सयममजरी' नामक ग्रन्थ मुक्तक दोहो का सग्रह है। 'कालकाचार्य' कथानक भी इसी कर्ता के नाम से प्रसिद्ध है। इनका

रचनाकाल विक्रम की १४वी शती है। उक्त दोनो पुस्तके जैन धर्म से सबद्ध है। 'सयम मजरी' का प्रधान विषय जैन-धर्म की शिक्षा देना है। उदाहरणार्थ—सयम से रहने से मोक्ष मिल सकता है। मनुष्य को मनोदण्ड, वाग्दण्ड, जिह्वादण्ड से बचना चाहिए, हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग करना चाहिए, आदि-आदि। इन्द्रिय-निग्रह का एक उपदेश पढिए—

गय मय महुअर झस सलह नियनिय विसय पसत्त।
इक्किक्केण इ इन्दियण दुक्ख निरन्तर पत्त॥
इक्किणि इन्दिय मुक्कलिण लब्भइ दुक्ख सहस्स।
जसु पुण पचइ मुक्कला कह कुसलत्तण तस्स॥

१०. हेमचन्द्र

हेमचन्द्र का जन्म वि० सवत् ११४५ मे गुजरात के जैन-परिवार मे हुआ। इनका सम्बन्ध गुजरात के सिद्धराज जयसिह और कुमारपाल नामक दो बडे राजाओ से बताया जाता है। आप जैनमठ के अधीश भी रहे। चौरासी वर्ष की अवस्था मे सवत् १२२९ मे इन्होने शरीर-त्याग किया। इनका नाम जन्म से चगदेव था। जैनधर्म मे दीक्षित होने पर इनका नाम हेमचन्द्र पडा, और सूरि (जैन साधु) बनने पर ये 'हेमचन्द्र सूरि' नाम से प्रसिद्ध हुए।

हमारे सामने हेमचन्द्र दो रूपो मे आते हैं—'हेमचन्द्र शब्दानुशासन' (प्राकृत व्याकरण) तथा 'छन्दोऽनुशासन' लिखकर आचार्य के रूप मे और 'कुमारपालचरित' लिखकर कवि के रूप मे। इनके शब्दानुशासन के अन्तिम अध्याय के अन्तिम भाग मे अपभ्र श के नियम निरूपित हैं। छन्दोऽनुशासन मे कुछ पद्य अपभ्र श के भी मिल जाते हैं। इन अपभ्र श पद्यो के विषय सयोग, वियोग, वीर, उत्साह, हास्य, अन्योक्ति, नीति, प्राचीन कथानक-निर्देश, सुभाषित आदि हैं।

हेमचन्द्र की तीसरी रचना 'कुमारपालचरित' है। इसमे कुमारपाल

के चरिताख्यान के साथ-साथ कवि का ध्यान व्याकरणसम्मत शुद्ध रूपो का प्रतिपादन करना भी है। इस दोहरे उद्देश्य के कारण इस ग्रन्थ को 'द्वयाश्रय काव्य' भी कहा जाता है। इस काव्य के २८ सर्ग है। अन्तिम सर्ग के १४ से ८२ तक के पद्य अपभ्रंश भाषा मे रचित है। इन पद्यो मे धार्मिक उपदेश-भावना प्रधान है।

इनके व्याकरण से कुछ उदाहरण लीजिए—

प्रिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व।
मइ विन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥
जइ ससणेही तो मुअइ अह जीवइ निन्नेह।
बिहिं वि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह ॥
आयहिं जम्महि अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु।
गय मत्तहं चत्तकुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु ॥

११ नल्लसिह भट्ट

नल्लसिह भट्ट की रचना 'विजयपालरासो' है। इसमे उन्होने विजयपाल के युद्धो का ओजस्वी भाषा मे वर्णन किया है। विजयपाल करौली के राजा थे और १२वी शताब्दी मे विद्यमान थे। इस ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश है। पर उपलब्ध प्रति मे वह अपना वास्तविक रूप खो चुकी है। काव्यत्व की दृष्टि से उक्त रचना साधारण है। मिश्रबन्धुओ ने इसका रचनाकाल सवत् १३५५ ठहराया है।

१२. शार्ङ्गधर

शार्ङ्गधर शाकभरीश्वर रणथम्भौर के प्रसिद्ध शासक हम्मीरदेव के सभासद् और राघवदेव के पौत्र थे। हम्मीरदेव अलाउद्दीन खिलजी से युद्ध करते समय सवत् १३५७ मे वीरगति को प्राप्त हुए थे। अत· शार्ङ्गधर का जीवनकाल विक्रम की चौदहवी सदी का अन्तिम चरण माना जाता है। इनका आयुर्वेद का ग्रन्थ 'शार्ङ्गधरसहिता' बडा प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनकी दो रचनाएँ और भी है—

(१) **शाङ्‌र्गधरपद्धति**—यह एक सुभाषित सग्रह है। इसमे बहुत से शाबर मन्त्र हैं और भाषासमक के उदाहरण दिये गये हैं। यथा—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दखरः,
शत्रु' पाड़ि लुटालि तोड़े हनिसौं एव भणन्त्युद्‌भटाः।
झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे—
कठे पाग निवेश जाह शरण श्रीमल्लदेवं विभुम्।।

उक्त पद्य मे सस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा और खडीबोली के पदो का प्रयोग हुआ है—

ब्रजभाषा छाइ खेइ, पसरी, पाडि, लुटालि, हनिसौ आदि।

खड़ी बोली. रे कन्त मेरे कहे, झूठे गर्व भरा आदि।

(२) **हम्मीररासो**—यह ग्रन्थ देशीभाषा का वीरगाथात्मक महाकाव्य बताया जाता है। यह रचना आज तक उपलब्ध नही हुई। आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि 'प्राकृत पिगलसूत्र' मे कुछ पद्य 'असली हम्मीररासो' के है। उनमे से दो पद्य लीजिए—

(१)

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छिउ मेच्छ-शरीर।
पुर जज्जला मतिवर चलिअ बीर हम्मीर।
चलिय बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अधार धूलि सुररह आच्छाइहि।
दिगमग णह अंधार आण खुरसाणुक उल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला।

पअभर दरमरु धरणि-रह घुल्लिअ झंपिअ।
कमठपिट्ठु टरपरिअ मेरु मदर सिर कंपिअ।
कोहे चलिअ हम्मीर बीर गअजुह सजुत्ते।
किअउ कट्ठ हा कंद! मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते।

चारण-काव्य

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल मे राजपूत राजाओ के आश्रित चारण-कवियो द्वारा निर्मित काव्य 'चारण-काव्य' कहलाता है। इसका प्रधान विषय वीरगाथाओ से सम्बद्ध है अत इसे वीरगाथा-काव्य भी कहते है।

इस काल मे निर्मित चारण-काव्यो मे केवल चार ही उपलब्ध हैं—खुमानरासो, वीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो और परमालरासो। ये सभी ग्रन्थ पूर्णत अपने मूल रूप मे विद्यमान नही है। उनकी भाषा, शैली तथा विषय-सामग्री को देखते हुए कहना पडता है कि इनमे शताब्दियो पर्यन्त परिवर्तन एव परिवर्द्धन होता रहा। उपलब्ध 'परमालरासो' तो किसी भी रूप मे अपना मूल रूप प्राचीन 'आल्हाखण्ड' नही हो सकता। खुमानरासो मे भी १६वी शती तक की सामग्री का सकलन हो गया है। पृथ्वीराजरासो की भी यही स्थिति है। सम्भवत. वीसलदेवरासो ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अधिक हेरफेर नही हुआ। उसका लघुकाय ही इस कथन का साक्षी है। पर उसकी कथा मे भी असम्बद्ध घटनाओ का अभाव नही है।

इस प्रकार इन ग्रन्थो का कौनसा स्थल चरितनायक के समकालीन मूल-लेखक अथवा परवर्ती मूल-लेखक द्वारा लिखित है, और कौनसा परवर्ती अज्ञात भाटो द्वारा—यह जानने के लिए अनुमान के अतिरिक्त और कोई साधन आधुनिक गवेषणाओ के पास नही है। उदाहरणार्थ—

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पृथ्वीराजरासो के उन स्थलो को प्रमाणित मानने की सम्भावना प्रकट की है, जिनकी भाषा मे प्राकृत और अपभ्रंश शब्दो के रूप और विभक्तियो के चिह्न पुराने ढग के है।

(ख) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की इस सम्बन्ध मे स्थापना है कि "चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी-सवाद के रूप मे लिखा गया था और जितना अश इस सम्वाद के रूप मे है उतना ही वास्तविक है।"

इस प्रकार की अनेक अनुमानाधृत धारणाओ द्वारा इन ग्रन्थो के मूल रूप को पकडने की चेष्टा की जा रही है, पर मनस्तोषक निष्कर्ष

शायद ही प्रकाश मे आ सके। इस दृष्टि से ये ग्रन्थ अधिकाशत अनैतिहासिक है।

इनके अनैतिहासिक होने का एक कारण और भी है। तत्कालीन कवियो ने अपनी कल्पना एव अतिशयोक्ति के बल पर अपने चरितनायको को सर्वविजेता और उनके चरित्र को अत्यधिक उदात्त और उत्कृष्ट घोषित किया है। यहाँ तक कि पृथ्वीराजरासो मे पृथ्वीराज को उन राजाओ का भी विजेता कहा गया है जो इससे कई शताब्दी पूर्व अथवा पश्चात् विद्यमान थे। जिन समकालीन राजाओ का भी इस ग्रन्थ मे उल्लेख हुआ है उनमे से कतिपय के अस्तित्व का इतिहास साक्षी नही देता। इस प्रकार की अतिरजना एव अतिशयोक्ति का मूल कारण है कवियो का राजाश्रित होना और अपनी आजीविका के लिए उनकी प्रशसा के पुल बाँध देना। आजीविका-प्राप्ति के लिए उन्हे अनधिकारी राजाओ एव सामन्तो की भी प्रशसा करनी पडती थी। पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए मुहम्मद गौरी को निमन्त्रण देने वाले अथवा आक्रमण के समय पृथ्वीराज की सहायता न करने वाले जयचन्द्र के भी गुणानुवादक उस युग मे विद्यमान थे। भट्ट केदार ने 'जयचन्दप्रकाश' लिखा और मधुकर ने जयमयक-जसचन्द्रिका। आज ये दोनो ग्रन्थ उपलब्ध नही हैं। पर इनका नाम ही जयचन्द्र की गुणोत्कृष्टता का सूचक है।

इससे प्रतीत होता है कि उस युग मे राष्ट्रीयता का अर्थ सकुचित था। 'राष्ट्र' शब्द समूचे देश का सूचक न होकर अपने-अपने प्रदेश एव छोटे-छोटे राज्यो का सूचक था। अजमेर और दिल्ली के राजकवि को कन्नौज, कालिजर (महोबा) अथवा किसी अन्य रियासत के समृद्ध अथवा नष्ट-भ्रष्ट होने से कोई सुख अथवा दु ख नही था। एक नृप के छोड जाने पर वे सम्भवत उनके राज्य को पराया राज्य समझने लग जाते होगे। मिथ्याभिमान एव प्रतिशोध-भावना से पूर्ण उस युग के राजाओ से परिपालित कवियो की इस सकुचित वृत्ति पर न आश्चर्य होता है और न उसके प्रति घृणा के भाव जगते है। हाँ, दुर्भाग्य पर दया अवश्य आती है।

ये राजकवि केवल, राजसखा और सामन्त ही नही थे अपितु इनमे से अधिकतर योद्धा भी थे। युद्ध का ऐसा सजीव वर्णन इस तथ्य का प्रमाण है कि इन्होने युद्ध की भीषणता को स्वय अपनी आँखो से देखा और शायद स्वय युद्ध लडा भी है। यदि इन कवियो का दृष्टिकोण ऐतिहासिक होता, कोरी प्रशसा के लिए ये अतिरजना से काम न लेते, तो इनका काव्य 'राजपूत युग' को 'अन्धकारयुग' कहने से बचा लेता। ये ग्रन्थ काव्यात्मक इतिहास होते पर अब तो कोरे भट्टभणन्त हैं। हाँ, इन चारण-कवियो की प्रशसा से श्रोता-सामन्तो को उत्साहवर्द्धक प्रेरणा अवश्य मिलती होगी—विजेताओ को भी और विजितो को भी। क्योकि विजेता राजाओ की तो ये चारण प्रशसा करते ही थे, विजित राजाओ की भी करते थे।

यदि इस अनैतिहासिकता, प्रक्षिप्तता तथा अप्रामाणिकता पर ध्यान न दिया जाय तो साहित्यिक दृष्टि से ये काव्य अति सुन्दर हैं। इनमे वीर-रस का प्रौढ परिपाक हुआ है। युद्धवीर-रस की काव्य-शास्त्रीय सम्पूर्ण सामग्री का ऐसा एकत्र अभिनव समन्वय भारतीय आधुनिक भाषाओ के किसी भी काव्य मे शायद ही उपलब्ध हो सके। चतुरगिनी सेना की साजसज्जा, दोनो एक-समान प्रबल दलो की गुत्थमगुत्थी दर्प-पूर्ण शब्दावलि, सेना-प्रस्थान, असि-प्रहार एव शस्त्रो की झकार और शत्रुपक्ष के पलायन का प्रभावपूर्ण चित्रण इस काव्य की प्रमुख विशिष्टता है। सजीव शब्द-गुम्फ वीर-रस तथा तदनुकूल ओज, गुण और गौडी वृत्ति का पोषक है। वीर-रस के साथ गौण रूप से रौद्र, बीभत्स तथा भयानक रसो का स्वाभाविक समावेश है। अत इनका भी सुन्दर परि-पाक इन ग्रन्थो मे हुआ है। वाक्प्रहार का एक उदाहरण लीजिए। पृथ्वीराज का सन्देशवाहक चन्द उसके पिता सोमेश्वर के घातक भीमसेन को अपने स्वामी का सन्देश देता हुआ विभिन्न अस्त्रो को भी दिखाता जा रहा है—

एन जाल संग्रहौ जाम जल भीतर पड्यौ।
इन नीसरनी ग्रहौ जाम अकासत चढ्यौ।
इन कुद्दालै षनौ, जाम पायाल पलट्टौ।
इन दीपक संग्रहौ, जाम अंधारै नट्टौ।
इन अंकुश असि बसि करौं, इन त्रिशूल हनि हनि सिरौं।
जगमगै जोति जग उप्परै, तो उर प्रथम नरिंदरै।[1]

पृ० रा० ४४–१०३

अब भीमसेन का दर्पपूर्ण उत्तर सुनिए—

जाल ज्वाल करि भसम करस नीसरनी कट्टौं।
घन भंजों कुद्दाल, दीप कर पवन झपट्टौं।
अंकुस अकुर मोड़ि तिनह त्रिशूल सकोड़ौ।
हनन कहै ता हनौं, जोति जग मच्छर मोड़ौ।
हो भीम भीम कंदल करो, मो उर डक अचभ नर।
मम करइ ग्रब्ब धरि लज्ज अब, बित्तक पुब्ब परच्चि पर।

वही, १०४

रणभूमि का एक चित्र प्रस्तुत है। युद्ध-वाद्य बज उठे। हथनाल, आतसझार, बाण आदि शस्त्रो का उन्मुक्त प्रयोग होने लगा। शिर चीख उठे, कबन्ध हहक पडे, इधर-उधर बिखरी आँते पैरो मे उलझने लगी—

बज्जे बज्जन लाग दल, उभै हुंकि जगि बीर।
विकसे सूर सपूर बढि, कपि कलत्र अधीर।

---

१. अर्थात् यदि भीमदेव जल मे जायगा, तो इस जाल से पकडूँगा, यदि आकाश मे जायगा, तो यह नसेनी लगाऊँगा, यदि पाताल मे जायगा तो इस कुदाल से खोद निकालूँगा, यदि अँधेरे मे छिपेगा तो इस दीपक से खोज लाऊँगा, इस अकुश से उसे अपने वश मे करके इस त्रिशूल से उसे मार डालूँगा।

—चन्दवरदायी और उनका काव्य, पृष्ठ १३४

छुट्टियं हथनारि धुम्र दलगोम व्योमह गज्जियं ।
उड्डियं आतसझार, झारह धोम धुंधर सज्जियं ।
छुट्टियं बान कमान पानह, छाह आयस रज्जियं ।
निरषंत अच्छरि सूर सुब्बर, सज्जि पारथ मज्जियं ।

× × ×

परि सीस हवकहि धर हहक्कहि अत पाइ अलुज्झरं ।
उठि उट्ठि झक्कसि केस उझसि सांइ सुथ्थल जुझ्झरं ।
एकेक चंपहि पीठ नषहि धरनि धर परिपूरयं ।।
हकियं सुवेग अलिय महमद करिय द्रग्ग करूरयं ।।[१]

पृ० रा० ४४।२२६–२२७, २३१

इसी प्रकार शत्रु-सेना के पलायन का एक दृश्य देखिए—

भगी अनी तत्तार लखि, दल पामारह चंपि ।
धक्यो राज पृथिराज तत, लेहु लेहु मुख जंपि ।।[२] पृ० रा० १०-५०

इन काव्यो मे श्रृगाररस का भी समावेश है । वीरता के साथ-साथ राजपूत राजाओ की विलासिता भी इतिहास-प्रसिद्ध है । युद्ध-श्रान्त इन योद्धाओ की विश्रान्ति के लिए यदि नारी का अक ही सुखद शय्या थी तो यह कोई अस्वाभाविक भी नही था । इधर चारण आखिर कवि थे । उन्होने राजपूतो के परस्पर संघर्ष की पृष्ठभूमि के लिए श्रृगार से सम्बद्ध कथानको का आश्रय लिया । यद्यपि ये सभी घटनाएँ इतिहासख्यात नही हैं, तथापि चरितनायक तथा शत्रुपक्ष की ईर्ष्या तथा क्रोध की अग्नि के भडकाने और कथानक को सजीव बनाने और उसमे प्रवाह लाने मे ये सहायक सिद्ध हुई है । कभी चरितनायक तलवार के बल पर शत्रुदल

---

१ चन्दवरदाई० (वि० बि० त्रि० से) पृष्ठ १३६ उद्धृत ।

२ उस समय तत्तार सेना भागने लगी । यह देख परमार सेना ने शत्रु-सेना को धर दबाया । उसी समय शाह का पीछा करते हुए पृथ्वी-राज ने, शत्रु को 'पकड लो, पकड लो' ऐसी आज्ञा दी ।

पृ० रासो० (सा० स० उदयपुर) पृष्ठ-२३८

को घोडे की टापो के नीचे रौदते-कुचलते हुए लावण्यमयी कामिनियो को खीच के ला रहे होते है, और कभी युद्ध-समाप्ति के उपरान्त वे उनके पास अनायास खिचे चले आते है। इन कामिनियो मे से इच्छनी नामक कामिनी की वय सन्धि का रूप-सौन्दर्य निहारिए—

बालप्पन तन मध्य जोवन इमं, सरसी अ अग्गी जलं।
अंग मध्यसु नीर झलमल ससी, सुब्भे सु सैसव्वयं॥[1]

पृथ्वी० रासो० १४।५

उधर शत्रुपक्ष भी विलास मे इन राजपूतो से कम नही है। सुलतान मुहम्मद गौरी चित्ररेखा के वश मे इस प्रकार हो गया था जिस प्रकार पतग डोरी के, मनुष्य विधाता के और शिशुओ की वाक्शक्ति स्वर के वश मे हो जाती है[2]—

बसि कीनौ सरतान, चंग जिम भ्रमं डोरि कर।
ज्यों भावी बसि लोइ, बचन उद्योत बाल सुर॥

पृ० रा० १३।१३

चारण-काव्य दो रूपो मे उपलब्ध है—प्रबन्ध काव्य के साहित्यिक रूप मे और वीरगीतो के रूप मे। प्रथम रूप का प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराजरासो' है और दूसरे रूप का प्राचीन ग्रन्थ 'वीसलदेवरासो'।

इन चारण-काव्यो की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है—इनकी भाषा। विद्वानो ने इसे 'डिगल' भाषा का नाम दिया है। साहित्यिक राजस्थानी मिश्रित पुरानी हिन्दी को 'डिगल' कहते है। इस भाषा की रूप-रचना के सम्बन्ध मे हम आगे इसी अध्याय मे विशिष्ट प्रकाश डाल रहे है। इन काव्यो मे संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दो के अतिरिक्त अरबी और

---

१ उसके शरीर मे शिशुत्व और यौवन का समावेश जल-मध्य कमल और ज्वलित अग्नि के रूप मे है। अब उसके शरीर मे शिशुत्व केवल जल-मध्य झलमलाते हुए चन्द्रमा के सदृश है।

पृथ्वी० रा० (सा० स०) पृष्ठ २९४

२ पृ० रा० (सा० स०) पृष्ठ २९१।

फारसी के भी शब्द पाये जाते है। बहुलता तद्भव शब्दो की है, जिनकी व्याकरण-सम्मत रूप-रचना डिगल भाषा के अनुरूप है। सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के समान इस भाषा के अधिकाश शब्द-रूप सश्लिष्ट हैं। **निष्कर्ष यह है कि—**

(१) चारण-काव्य ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वहीन है क्योकि आजीविका-प्राप्ति की दृष्टि से इनमे अतिरजना से काम लिया गया है, और कवित्व की दृष्टि से कल्पना से। इधर शताब्दियो पर्यन्त इनमे परिवर्तन तथा परिवर्द्धन भी होता रहा है।

(२) इन काव्यो से तत्कालीन संकुचित राष्ट्रिय भावना का आभास मिलता है; पर साहित्यिक दृष्टि से यह उत्तम कोटि के काव्य हैं, जिनमे प्रधान रस वीर है और उसके पोषक रस रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि हैं। कथानक की पृष्ठभूमि के रूप मे शृगार रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है।

(३) चारण-काव्य दो रूपो मे उपलब्ध हैं—प्रबन्धात्मक रूप मे और वीरगीतो के रूप मे।

(४) इन काव्यो की भाषा 'डिगल' है।

(५) वीर-काव्य की यह परम्परा इसी काल मे समाप्त नही हो गई, शताब्दियो पर्यन्त आगे भी चलती रही। आदिकालीन सभी वीरगाथा-काव्य भाटो के हाथो परिवर्द्धित होते रहे। यह तो इस विकास-परम्परा का प्राचीन रूप था, पर इसे नवीन रूप भी मिलता गया। भक्तिकाल मे पृथ्वीराज, दुरसा जी, बाकीदास, सूर्यमल्ल आदि ने डिगल भाषा मे वीरकाव्य प्रस्तुत किये। इनके अतिरिक्त तुलसी के 'रामचरितमानस' और 'कवितावली' तथा केशव की 'रामचन्द्रिका' के युद्ध-वर्णनो मे वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इस दिशा मे रीतिकाल मे भूषण, लाल और सूदन के अतिरिक्त पद्माकर, गुरु गोविन्दसिह, सबलसिह, गोकुलनाथ, श्रीधर, जोधराज और चन्द्रशेखर के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में देशानुराग ने राष्ट्रियता का आवरण धारण कर लिया। मैथिलीशरण

गुप्त और रामधारीसिंह 'दिनकर' 'राष्ट्रकवि' कहे जाते हैं। वियोगी हरि, श्यामनारायण पाण्डेय वीररस के अमर गायक हैं।

चारण-कवियों का परिचय

१. दलपत विजय

'खुमानरासो का मूल-लेखक कौन है ?'—यह प्रश्न अभी तक समस्या बना हुआ है। शिवसिंह सेंगर इसके रचयिता के विषय मे मौन हैं। हस्त-लिखित ग्रन्थो की खोज मे 'खुमानरासो' की जो प्रतियाँ मिली हैं, उनमे से कुछ प्रतियो मे लेखक का नाम 'दलपत विजय' अंकित है। पर अभी तक यह निश्चित नही हो सका कि दलपत विजय रचना का मूल-लेखक है अथवा उसका उद्धर्ता है।

राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक जनरल टॉड ने चित्तौड के खुम्मान नाम के तीन शासको का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ मे जिस खुम्मान का चरित्र है वह अनुमानत खुम्मान द्वितीय है।[1] क्योकि इस रचना मे बगदाद के खलीफा (धर्मगुरु) का उल्लेख है। इस खलीफा ने चित्तौड पर आक्रमण किया था और जिस खुम्मान ने उसे परास्त किया था, वह खुम्मान द्वितीय ही हो सकता है क्योकि उक्त खलीफा संवत् ८७० से ८९० तक अलमामूँ बगदाद के धर्मगुरु रहे और खुम्मान द्वितीय का शासनकाल भी अनुमानत संवत् ८७० से ९०० तक माना जाता है। अत इस अनुमान से 'खुमानरासो' का चरितनायक खुम्मान द्वितीय ही हो सकता है। पर चूँकि इस ग्रन्थ मे प्रताप तक का वर्णन है, अत. इसे परवर्ती अर्थात् १७वी शताब्दी की रचना मानने को बाध्य होना पडता है। अनुमान यह भी है कि दलपत विजय खुमानरासो का मूल-लेखक रहा होगा। वह या तो खुम्मान द्वितीय का समकालीन होगा या कुछ काल परवर्त्ती।

---

१ वंशावलि कालभोज बाप्पा→खुम्माण प्रथम→मत्तट→भर्तृपट-सिंह→खुम्माण द्वितीय→मयायक→खुम्माण तृतीय।

श्री मोतीलाल मेनारिया ने दलपत विजय के सम्बन्ध मे लिखा है कि दलपत विजय तपागच्छीय जैन-साधु शान्तिलाल के शिष्य थे। जैन-दीक्षा लेने के बाद इसका नाम दौलत विजय पडा।

२. नरपति नाल्ह

आदिकाल के गेय साहित्य मे नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेवरासो' की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। गेय साहित्य होने के कारण वस्तुत 'बीसलदेवरासो' ही 'रासो' कहाने योग्य है। अन्य पृथ्वीराजरासो आदि ग्रन्थो मे 'रासो' शब्द का व्यवहार रूढ अर्थ मे किया जाता है। आदिकालीन अन्य ग्रन्थो की भाँति इस ग्रन्थ के भी रचयिता, रचना-काल और चरितनायक के सम्बन्ध मे सभी इतिहासकार एकमत नही है।

रचयिता—इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध मे अधिक चर्चा तब चली जब श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'अजमेर' के नरपति नाल्ह को 'गुजरात' के नरपति नाल्ह से अभिन्न मान लिया। इस सम्बन्ध मे उनका प्रमुख तर्क यह है कि दोनो कवियो के ग्रन्थो मे भाव-साम्यता है। पर विद्वानो ने प्रथम का समय तेरहवी शताब्दी माना है और दूसरे का समय सोलहवी शताब्दी। अत मेनारिया जी की धारणा सगत प्रतीत नही होती। शायद इस सम्बन्ध मे आगे अधिक चर्चा न चलती, पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "वे (मेनारिया जी के तर्क) हँसकर उडा देने योग्य नही है" —कहकर मेनारियाजी के तर्को और प्रमाणो का अपरोक्ष रूप से समर्थन किया है। वस्तुत देखा जाय तो केवल भाव-साम्य से किसी रचना तथा रचयिता के सम्बन्ध मे ऐकान्तिक निर्णय नही दिया जा सकता क्योकि मानव-मन की एकता के कारण इस साम्यता का पाया जाना नितान्त सभव है। इधर स्वय कवि ने अपने ग्रन्थ का रचनाकाल 'बारा सौ बहोत्तराँ' दिया है। इसमे 'बहोत्तराँ' पाठ तो भ्रमपूर्ण हो सकता है, पर 'बारह सौ' तो स्पष्ट है। अत १६वी शती के कवि को १३वी शती के कवि से अभिन्न मानना समुचित नही है।

रचनाकाल—इस ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध मे उठा प्रश्न भी

अकारण प्रतीत नही होता । रासो के पाठ—

बारह सौ बहोत्तराँ मझारि जेंठ बदी नवमी बुधवारि ।
नाल्ह रसायण आरभई सारदा तूठी ब्रह्म-कुमारि ।।

—के अनुसार ग्रन्थ का रचनाकाल सवत् १२१२ कहा गया है । यह शक-सवत् है या विक्रम सवत् ?—इस समस्या का समाधान श्री सत्यजीवन वर्मा को म० म० ओझाजी द्वारा लिखे पत्र मे इस कथन से कि "राजस्थान मे विक्रम सवत्सर का प्रचलन था" किंचित् सरल हो गया है । ऐसी समस्याओ का समाधान प्राय प्रचलित रूढियो के आधार पर ही किया जाता है । 'बहोत्तरा' से तात्पर्य द्वादशोत्तर (१२) न लेकर बहत्तर (७२) लेने से इस ग्रन्थ का रचना-काल स० १२७२ भी माना गया है । पर यह समुचित प्रतीत नही होता, क्योकि इस काल मे बीसलदेव चतुर्थ का—जिसका कि कवि समकालीन है—होना इतिहास-सम्मत नही है ।

इधर श्री गजराज बी० ए० (बीकानेर निवासी) ने 'बीसलदेव-रासो' की एक प्राचीन प्रति के अनुसार उसका निर्माण-सवत् १०७३ माना है—

सवत सहस तिहत्तर जाणि, नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि ।

अब दो सवतो की समस्या उपस्थित है । सवत् १२१२ और सवत् १०७३ । इसका निर्णय ग्रन्थ की भाषा को देखकर किया जा सकता है । यद्यपि भाषा के सबध मे भी विद्वानो के मदभेद हैं जिसकी चर्चा हम आगे यथा-स्थान कर रहे हैं । 'बीसलदेवरासो' की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश नही है । यदि सवत् १०७३ सूचित करने वाली प्रति परिनिष्ठित अपभ्रंश का रूप उपस्थित करती है तो उसे मूल मानना चाहिए, पर सभवत 'सवत सहस तिहत्तर' पाठ भी किसी भट्ट की कृपा से प्रक्षिप्त हो गया है । अत हमारे विचार मे स० १२१२ ही ठीक प्रतीत होता है । इस धारणा के समर्थन मे यह तर्क भी उपस्थित किया जा सकता है कि बीसलदेव (विग्रहराज) चतुर्थ का शासन-काल सवत् १२१० से १२२० माना जाता है, और यह कवि इसका समकालीन था ।

चरितनायक—इसके चरितनायक के विषय मे भी विवाद है। नरपति

नाल्ह विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन है, यह हम ऊपर कह आये है। पर इसका चरितनायक विग्रहराज चतुर्थ है, यह मानने के लिए हमारे सम्मुख कोई आधार नही है। इस ग्रन्थ के कथानक के अनुसार एक तो विग्रहराज चतुर्थ का विवाह परमारनरेश भोज की पुत्री राजमती से होना सभव नही है, क्योकि भोज का शासनकाल विक्रम की ११वी शती है, न कि १३वी शती। यदि विग्रहराज तृतीय को रासो का चरितनायक मान लिया जाय तो इस समस्या का समाधान हो जाता है। विग्रहराज तृतीय का शासनकाल सवत् १०३० से स० १०५६ माना जाता है। इधर म० म० ओझाजी भी यह सिद्ध कर चुके हैं कि भोज की पुत्री विग्रहराज तृतीय से ही विवाहित थी। कोई आश्चर्य नही यदि मुस्लिम आक्रमणो के भय से हिन्दू राजा विग्रहराज तृतीय के नेतृत्व मे सगठित होने लगे हो और भोज ने अपनी पुत्री देकर उसकी राजनयिक अधीनता पुष्ट की हो।

निष्कर्ष यह कि—

(१) 'बीसलदेवरासो' का रचयिता नरपति नाल्ह विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन और उसका सभाकवि है। इसका आधारभूत तर्क सवत् १२१२ का उल्लेख है।

(२) वह गुजरात के नरपति नाल्ह से सर्वथा भिन्न है।

(३) रासो का रचना-काल सवत् १२१२ विक्रमी है, आगे-पीछेकी तिथियाँ भ्रष्टभरणान्त प्रतीत होती हैं।

(४) बीसलदेवरासो का चरितनायक 'बीसलदेव' चतुर्थ (स० १२१०–१२२०) नही है, बल्कि बीसलदेव तृतीय (स० १०३०–१०५६) है, ऐतिहासिक घटनाएँ इस धारणा की पुष्टि करती हैं।

भाषा—इस ग्रथ की भाषा ने एक ओर अपभ्रशपन नही छोडा, तथा दूसरी ओर उसका हिन्दीपन भी—चाहे उसे प्रक्षिप्त समझा जाय—पूरी तरह से विकसित नही हुआ। इस प्रकार इस ग्रथ की भाषा को उस युग की भाषा का सधिस्थल कह सकते हैं। वस्तुत भाषा का यही सन्धिस्थल ही

उसे सवत् १२१२ की कृति सिद्ध करता है। ग्यारहवी शती की अधिकाश रचनाएँ परिनिष्ठित अपभ्रंश मे है और चौदहवी शती की रचनाएँ ठेठ डिंगल या पिंगल मे लिखी गई हैं। अत यह रचना १३वी शती की प्रतीत होती है।

इस ग्रन्थ की भाषा के संबंध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० रामकुमार वर्मा के निम्न कथन उल्लेखनीय है—

"भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नही है, राजस्थानी है। ....इस ग्रन्थ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि शिष्ट काव्य-भाषा मे ब्रज और खडीबोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान मे भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा हिन्दी ही थी जो 'पिंगल' भाषा कहलाती थी। 'बीसलदेवरासो' में बीच-बीच मे बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिन्दी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पडता है।" —प० रामचन्द्र शुक्ल।

"बीसलदेवरासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमो का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओ और सज्ञाओ के रूप अपभ्रंश भाषा के ही है। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्य विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही होनी चाहिए।"

—डॉ० रामकुमार वर्मा।

इस ग्रन्थ का काव्य-सौन्दर्य अनूठा है। इस काव्य का कथानक नवोढा प्रोषितपतिका की विरह-व्यजना पर आधारित है। काव्य के कतिपय पद्य देखिए—

हू बराकी धणी। मोकियउ रोस।
पाव की पाणही सु ं कियउ रोस॥
मे य हसती बोलीयो।
आपणइ मान हतौ मानस छइ सॉस॥
उभी मेल्हे चालीयौ।
जल विण राजा क्यु ं जीवइ ह्वॉस॥

३. चदवरदाई

चारण-साहित्य के प्रसग मे कविवर 'चद' तथा उसकी महाकाय रचना 'पृथ्वीराजरासो' का उल्लेख बडे समादर के साथ किया जाता है। ऐतिहासिक पक्ष पर घोर मतभेद होने पर भी उसके काव्यपक्ष पर सभी सहृदय आस्था रखते हैं। इस आस्था का आभास केवल इतने मात्र से लगाया जा सकता है कि चद हिन्दी भाषा के 'आदिमहाकवि' माने जाते हैं और इनका ग्रन्थ 'आदि महाकाव्य'। अर्थात् इस दृष्टि से हम इन्हे 'हिन्दी का वाल्मीकि' मानते हैं। 'रासो' पर इतिहासकार विवाद कर सकते है, पर सहृदयजन नही। वे तो इसे पढ-सुनकर मुग्ध हो जाते है।

जीवनी—चद कवि के जन्म आदि के सम्बन्ध मे नाना मत पाये जाते है। यहाँ तक कि लब्ध पृथ्वीराजरासो के अन्त साक्ष्य पर भी विचार करने से किसी एक निर्णय तक पहुँचने मे अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। यथा—

> **तब बोलाय सोमेसवर लौहानौ अरु चंद।**
> **लैं आवहु अजमेर घर पहौते घरहु सु इंद॥**

इससे ज्ञात होता है कि चद पृथ्वीराज चौहान से आयु मे काफी बडे थे। यहाँ तक कि वे उसके पिता सोमेश्वर की राजसभा मे भी विद्यमान थे। यदि इसे सत्य मान ले तो चद की पृथ्वीराज के बालसखा, सामन्त और मन्त्री होने वाली बात—जिसे कि सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं—बनती नज़र नही आती। हालाँकि दोनो के एक-साथ जन्म-मरण की चर्चा भी स्वय चन्द ने उठाई हुई है। यथा—

> **"इक ठाम उप्पजै इकथल मरण निधानं॥"**
> **"इक दीह ऊपन्न इक्क दीहं समाय क्रम॥"**

इसी बात को कई छन्दो मे बार-बार दुहराया गया है। 'चन्द के पिता का नाम क्या था ?'—इसका उत्तर भी निर्भ्रान्त शब्दो मे नही दिया जा सकता। कुछ पद्यो मे 'वेनराव' का उल्लेख आता है, कुछ पद्यो मे 'मल्लराव' का।

इधर कुछेक इतिहासकारो ने चन्द की वशावलि की भी चर्चा की है,[1] पर वह कहाँ तक ठीक है ? इसका निर्णय कर सकना कठिन है। इनकी जाति ब्रह्म भाट्ट थी। इन्होने अपने परिचय-वाक्यो मे यथास्थान 'भट्ट' सज्ञा का उल्लख किया है। इनके दस पुत्र बतलाये जाते हैं पर उनमे पिता के अनुरूप योग्य, गुणी और कवि केवल 'झल्ल' या 'जल्हन' था जिसने अपने पिता की रचना को पूर्ण किया। 'पृथ्वीराजरासो' मे प्राप्य एक पक्ति के अनुसार चन्द का निवास-स्थान लाहौर माना जाता है।[2]

रचना—चन्द की जीवनी के सम्बन्ध मे इतनी सी चर्चा करने के उपरान्त अब उसकी रचना के ऐतिह्यपक्ष और काव्यपक्ष पर विचार किया जाता है।

प्रतियाँ—इस समय तक रासो की भिन्न-भिन्न प्रतियाँ पाँच कलेवरो मे मिलती हैं—

(क) बृहत् रूपान्तर—इस रूपान्तर की प्रतियाँ स० १७५० के बाद लिखी गई है। इनमे अध्यायो के स्थान पर 'समयो' (समय) का प्रयोग है। इसमे ६९ समयो तथा १६३०६ छन्द है।[3]

(ख) मध्यम रूपान्तर—ये प्रतियाँ सवत् १७२३ तथा सवत् १७३९–४० मे लिपिबद्ध हुई हैं। इनमे समयो के स्थान पर 'प्रस्ताव' का प्रयोग हुआ है। इनमे ७००० पद्य है।[4]

---

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास आचार्य शुक्ल . छठा सस्करण : पृष्ठ ३९।

२ **बलिभद्र सु नागौर चंद उप्पजि लाहौरह। पृ० रासो १।५८४।**

३ यह प्रति जयपुर-राज्य-पुस्तकालय मे है, काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इसी सस्करण को छापा है।

४ इसकी प्रतियाँ पजाब यूनिवर्सिटी लाहौर, साहित्यमदन अबोहर तथा जयपुर के जैन-पुस्तक-भण्डारो मे सुरक्षित हैं। म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसी प्रति का सम्पादन किया है।

(ग) लघुरूपान्तर—ये प्रतियाँ सत्रहवी शताब्दी मे लिपिबद्ध हुई। इनमे अध्याय के स्थान पर खण्ड का प्रयोग हुआ है। इनमे १९ खण्ड और ३५०० पद्य हैं।[1]

(घ) लघुतम रूपान्तर—ये प्रतियाँ भी सत्रहवी शताब्दी मे लिपि-बद्ध हुई हैं। इनमे अध्याय या प्रस्ताव या खण्ड—किसी का भी निर्देश नही है। पद्य स० १३०० है।[2]

(ङ) नवीन रूपान्तर—इस प्रति मे केवल छप्पय छन्द का प्रयोग है। इसका लिपिकाल सवत् १४०३ है। यह प्रति जैनमुनि कातिसागरजी ने खोज निकाली है।[3]

इन पाच रूपान्तरो से ये तीन बाते स्पष्ट हैं—

१ उत्तरोत्तर रूपान्तरो मे श्लोक सख्या बढती गई है।

२ उत्तरोत्तर रूपान्तरो मे भाषा भी बदलती गई है।

३. रूपान्तरो का उपलब्धि-क्षेत्र विस्तृत होता गया है।

उद्धर्ता—रासो के उद्धार अथवा कलेवर-विस्तार करने वालो मे तीन व्यक्तियो की चर्चा की जाती है—

झल्ल—झल्ल या जल्हन चन्दकवि का पुत्र था। पिता ने पुत्र को स्वयं आज्ञा दी है कि अपूर्ण रासो-ग्रन्थ का निर्माण आगे चलना चाहिए; यथा—

पुस्तक जल्हन हत्थ दे चलि गज्जन नृपकाज

भारतीय साहित्य मे इस दायित्व-भार-वहन का उदाहरण नया नही है। बाणभट्ट के पुत्र ने भी पिता की मृत्यु के उपरान्त उक्त दायित्व को निभाते हुए 'कादम्बरी' का शेष भाग लिखा था। वस्तुत. झल्ल कवि को

---

१ इसकी प्रति अनूप सस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर मे है।

२ यह प्रति तथा 'ख-ग' वाली प्रतियाँ भी श्री अगरचन्द नाहटा के पास है।

३ अपभ्रश साहित्य . डॉ० हरिवश कोछड पृष्ठ ११०।

इसका उद्धर्ता न मानकर कर्ता मानना चाहिए। इसी बात को झल्ल ने स्वय भी लिखा है—

प्रथिराज सुजस कवि चन्दकृत चन्दनन्द उद्धरिय इमि।

चदसिह—रासो के लघुरूपान्तर मे "चन्द नन्द उद्धरिय इमि" पाठ के स्थान पर "चन्दसिह उद्धरिय इम" यह पाठ है। यह रूपान्तर सोलहवी शताब्दी से मिलना आरम्भ होता है। यह चन्दसिह कौन है?—इसका उत्तर प० उदयनरायरा तिवारी ने इस प्रकार दिया है—चॉदसिह अथवा चन्दसिह महाराजा मानसिह के छोटे भाई तथा अकबर के सेनापति सूरजसिह के पुत्र थे। इस प्रकार चन्दसिह मानसिंह का भतीजा था।

अमरसिह—रासो का उद्धार करने वालो मे महाराज अमरसिह भी कहे जाते है। ये अमरसिह द्वितीय बताये जाते हैं। इनका राज्यकाल सवत् १७५५ से १८०८ है। बृहत् रूपान्तर की प्रतियाँ भी सवत् १७५० के बाद की है। इनके उद्धार-कर्ता होने के प्रमाण मे यह दोहा उपस्थित किया जाता है—

छन्द प्रबन्ध कवित्त यति, साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरु मंडित खण्डियह पिंगल अमर भरत्थ॥

पृथ्वीराजरासो का ऐतिहासिक पक्ष—

रासो हिन्दी का आदिमहाकाव्य है। इस काव्य मे अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ भी प्रसगवश आ गई हैं। पर इसमे वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ उसके लिए उत्कर्षदायक सिद्ध न होकर अपकर्षदायक सिद्ध हो रही है; और इसे अप्रामाणिक ग्रन्थ मानने को बाध्य करती हैं। तीस-पैंतीस वर्षो से इन घटनाओ की शोध हो रही है जिनका सिहावलोकन करना हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य हो जाता है।

रासो की प्रामाणिकता के विषय मे दो विचारधाराएँ पाई जाती है—एक विपरीत खण्डनमूलक विचारधारा है जिसके प्रतिपादक है—प्रो० बूलर, श्री मुरारीदान जोधपुरी, कविराज श्यामलदास, मुन्शी देवी-

प्रसाद, म० म० प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा, प० रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० रामकुमार वर्मा। दूसरी मण्डनमूलक अनुकूल विचारधारा है जिसके प्रतिपादक हैं—डॉ० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, म० म० हर प्रसादशास्त्री, प० मोहनलाल विष्णुलाल पाड्या और म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित। इनके अतिरिक्त कुछ एक विद्वान् तटस्थ रहे हैं जैसे कि डॉ० ग्रियर्सन, और कुछेक विद्वान् तटस्थभाव से अनुसन्धान मे सलग्न हैं जैसे—अगरचन्द नाहटा और नरोत्तम स्वामी। इनके पक्ष-विपक्ष पर कई उपशीर्षको के अन्तर्गत विचार करना उपयुक्त होगा।

(क) चन्द का अस्तित्व—

पहले-पहल प्रो० बूलर ने (अपनी काश्मीर-यात्रा सन् १८७७ मे उपलब्ध) जयानक-रचित 'पृथ्वीराजविजय' नामक सस्कृतकाव्य के आधार पर पृथ्वीराजरासो की अप्रामाणिकता घोषित करते हुए चन्द कवि के अस्तित्व मे ही सन्देह प्रकट किया था। क्योकि जयानक ने अपने काव्य मे पृथ्वीराज की राजसभा का वर्णन किया है, पर उसमे चन्द का कही नाम नही है। उसमे पृथ्वीराज के दरबारी बन्दीजन 'पृथ्वीभट्ट' का तो उल्लेख है, पर 'चन्द' का उल्लेख नही है। उस काव्य के निम्नोक्त उद्धरण से—

तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यः सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्॥

—'चन्द्रराज' नामक किसी कवि का होना तो सिद्ध होता है, पर यह नाम चन्दबरदाई का सूचक प्रतीत नही होता। म० म० ओझा जी ने इसे 'चन्द्रक' कवि का सूचक बताया है जिसका उल्लेख क्षेमेन्द्र कश्मीरी ने भी किया है। इसी तथ्य की पुष्टि कुछेक शिलालेखो से भी हो जाती है। उनमे भी चन्द का कही उल्लेख नही है। इनके अतिरिक्त पन्द्रहवी शताब्दी के नयनचन्द्र सूरि-कृत सस्कृत-ग्रन्थ 'हम्मीरमहाकाव्य' मे चौहान-वश का वर्णन है पर चन्द का नाम कही भी नही। इसी प्रकार उनके

'रभामजरी' नामक नाटक मे, जिसका नायक जयचन्द है, रासो या चन्द का उल्लेख नही है। इस प्रकार ये सभी तथ्य यद्यपि चन्द के अस्तित्व को न मानने के लिए बाध्य करते है, पर किसी ग्रन्थ अथवा शिला-लेख मे अन्य कवि का नाम न होना कोई बहुत बडा तर्क नही है कि वह व्यक्ति उस काल मे विद्यमान नही था। ईर्ष्यावश या किसी अन्य कारणवश उसका उल्लेख न किया जाना भी नितान्त सम्भव है।

इधर कतिपय विद्वान् चन्द का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। म० म० हरप्रसादशास्त्री तथा प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी ने तो चन्द के वशधरो का पूरा वशचित्र भी दिया है। यह वशावलि इन्ही के वशज भक्त-कवि सूरदास की वशावलि से साधारण हेर-फेर के साथ पूरी-की-पूरी मिल जाती है।

(ख) घटनाएँ—

रासो मे वर्णित घटनाएँ इतिहास के अनुकूल नही है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१ चौहान, परमार तथा सोलकी राजाओ की अग्निकुल से उत्पत्ति।

२ रासो मे पृथ्वीराज को अनगपाल का दौहित्रा माना गया है, पर वस्तुस्थिति यह है कि साभरी नरेश अर्णोराज की पत्नी (जयसिंह की पुत्री) के गर्भ मे सोमेश्वर का जन्म हुआ था। उसका विवाह चेदिराज की कन्या कर्पूरदेवी से हुआ था। अत अनगपाल का 'मातामह' के रूप मे उल्लेख सम्भव नही है।

३ रासो मे पृथ्वीराज को दिल्लीश्वर लिखा है। इसके विपरीत तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारो ने पृथ्वीराज को केवल अजमेर-नरेश ही लिखा है।

४. शहाबुद्दीन गौरी की मृत्यु रासो मे शब्दवेधी बाण से हुई बताई गई है पर इतिहासकारो ने गौरी की मृत्यु का कारण गक्खरो का विद्रोह बताया है।

५ रासो मे चित्तौड-नरेश समरसिह से पृथ्वीराज की बहन पृथा

का विवाह होना लिखा है और यह भी लिखा है कि शहाबुद्दीन गौरी से युद्ध करते हुए समरसिह वीरगति को प्राप्त हुए। पर इसके विपरीत सवत् १३३५–४२ मे समरसिह द्वारा लिखवाये गये शिलालेख उसका जीवित होना सिद्ध करते है।

(ग) तिथियाँ—

रासो मे लिखित सवत् भी इतिहास से मेल नही खाते। चन्द ने सवत् १११५ मे पृथ्वीराज का दिल्ली मे जन्म होना, सवत् ११२२ मे गोद जाना, सवत् ११५१ मे कन्नौज-प्रस्थान तथा सवत् ११५८ मे शहाबुद्दीन गौरी से युद्ध होना लिखा है। पर इन तिथियो के विरोध मे निम्नलिखित तथ्य इतिहास मे इतस्तत बिखरे पडे हैं। यथा—

(क) पृथ्वीराज के स्वय के लिखवाये हुए चार दानपत्र और शिलालेख उपलब्ध हैं, इनका उत्कीर्ण-समय सवत् १२२४ और १२४४ के मध्य पडता है।

(ख) जयचन्द के लिखवाये दानपत्र व शिलालेख भी उपलब्ध हैं जो सवत् १२४३ तक के समय मे लिखवाये गये है।

(ग) इसी प्रकार परमर्दिदेव के भी शिलालेख व दानपत्र प्राप्य हैं जिनका समय १२२३ से १२५८ का मध्यवर्ती है।

(घ) फारसी इतिहासकारो ने पृथ्वीराज तथा गौरी के मध्य प्रथम युद्ध का समय ५८७ हिजरी (अर्थात् १२४८ सवत्) लिखा है।

पर इन विरोधी सवतो के समाधान के लिए प०मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने एक युक्ति खोज निकाली है। रासो के इस—

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनन्द।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भै पृथिराज नरिंद॥

दोहे के आधार पर 'अनन्द' अर्थात् अ=शून्य (०) और नन्द=नौ (९) के अक जोड़ने से ९० वर्ष का व्यवधान सभी तिथियो मे ठीक बैठता है। अर्थात् इतिहास-सम्मत सवत्सरो मे ९० वर्ष कम कर दे तो रासो-लिखित संवत् ठीक उतरते है। दूसरे शब्दो मे, रासो-लिखित सवत्सरो मे यदि

६० वर्ष जोड दे तो तिथियाँ इतिहास के विरुद्ध नही पडती ।[1]

नि सन्देह ऐतिहासिक निथियो मे और रासो-लिखित तिथियो मे ६० वर्ष का अन्तर सर्वत्र पाया जाता है। पर अब प्रश्न उठता है कि इस सवत्सर का नाम क्या दे ? इस सम्बन्ध मे म० म० ओझा जी का कहना है कि राजस्थान मे विक्रम संवत् का प्रचलन रहा है, किसी अन्य का नही। यदि रासो की रचना राजस्थान मे हुई होती अथवा किसी राजस्थानी कवि ने इसकी रचना कही अन्यत्र की होती तो इसे विक्रम-सवत् मान लिया जाता। पर इस ग्रन्थ की रचना दिल्ली मे हुई है, तथा ग्रन्थकार लाहौर (पजाब) का निवासी है। अत इस स्थिति मे निश्चय-पूर्वक नही कहा जा सकता कि वह कौनसा सवत् था जिसमे विक्रम-सवत् से ६० वर्ष का अन्तर पडता है।

पृथ्वीराज रासो का काव्य-पक्ष—रासो एक सफल महाकाव्य है। इसमे प्रधानतया दो रस है—शृगार और वीर। पृथ्वीराज जितना रणबाकुरा है, उतना सजीला-कटीला, बाँका जवान भी है। कवि ने उसके इन दोनो रूपो को बडी सुघडता से निभाया है। राजा पृथ्वीराज समर के लिए तैयार हो गये हैं, सयोगिता ने जब सुना तो प्रथम विरहानुभूति के कारण वह मूर्च्छित हो गई। सखियो ने उसे प्रेरित किया कि वह एक बार अपने स्वामी का जयकार बोल दे पर उसके होठ काँपकर रह गये और उधर राजा युद्ध के लिए चल दिया—

नृप पयान पोमिनी परषि घटि साहस घटि एक।
सुकथ केलि पीयूष पिय जतन करहि सषि केक।
जतन करहि सषि केक हाय करि जय जय जपहि।
दन्त कष्टकर मिडि थरकि थरहर जिय कपहि।
इह पयान नृप करत परी सजोगि धरा धपि।
सषी करत सब जतन चलत पयान तहाँ नृप ॥

---

१ इससे मिलते-जुलते अन्य दोहे का उल्लेख भी किया जाता है, जिसमे श्लेष द्वारा 'नौ' अको की गुप्ति की चर्चा है।

इसी प्रकार जुगुप्सा, शृगार, और वीर आदि भावो की अनूठी व्यञ्जनाओ से यह काव्य भरा पडा है।

इस काव्य मे ऋतु, नखशिख, नगर, आखेट, वन, सेना, युद्धादि के वर्णन बडे मनोमोहक और मुँह-बोलते रूपचित्र जैसे लगते है। देखिए, कन्नौज के गगातट पर पानी भरने वाली सुन्दरियो का वर्णन कितना आकर्षक है—

द्रिग चंचल चंचल तरुनि चितवत चित्त हरंति।
कंचन कलस झकोरि कै सुन्दरि नीर भरंति ॥

भावपक्ष के अतिरिक्त इस काव्य का कलापक्ष भी चमत्कारपूर्ण है। अलकारो की सुन्दर योजनाएँ दर्शनीय है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, उदाहरण, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा को सर्वाधिक स्थान मिला प्रतीत होता है। अनुप्रास तो कही छूटने नही पाया। सागरूपक का एक चित्र देखिए—

भर अरत्त सांई विरत्त गौरी सुरतानं।
संझरूप संजोगि गिल्यौ चहुआन सुभानं ॥

इस एक ही उदाहरण से चित्रो की स्वाभाविकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

रासो मे लगभग ७२ छन्द देखने मे आते है जिनमे मात्रिक ३२ प्रकार के, वर्णिक ३० प्रकार के, उभयवृत्त ६ प्रकार के तथा अन्य छन्द ४ प्रकार के हैं। इसमे मूल रासो के कितने है और क्षेपक भाग के कितने ?—इस प्रश्न का उत्तर दे सकना असम्भव है।

भाषा—इस ग्रन्थ की भाषा के विषय मे भी विवाद है। प्राय सभी आलोचको ने इसकी भाषा को राजस्थानी या डिगल कहा है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इसे पिगल माना है। जैनमुनि ने जिन पद्यो को पुरातन प्रबन्ध-सग्रह से उद्धृत करके यह बताया है कि वे मूल पृथ्वीराजरासो के प्रतीत होते है, वे छन्द विशुद्ध अपभ्र श के है। अत इसे मूलत किस भाषा की निधि माना जाय ?—यह एक समस्या है। इसके अतिरिक्त इस

ग्रन्थ मे वैदिक सस्कृत, सस्कृत, पालि, पैशाची, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, ब्रज आदि आर्यभाषाओ के अतिरिक्त अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओ के शब्द भी उपलब्ध हो जाते हैं। विभिन्न भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध मे कवि ने स्वय भी उल्लेख किया है, यथा—

षट्भाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया।

रासो के कई पद्यो मे कवि के षड्भाषाज्ञान की भी चर्चा है। इस प्रकार बहुभाषा-प्रयोग तथा क्षेपक पाठो की बहुलता के कारण निश्चयपूर्वक कोई निर्णय दे सकना कठिन है। इसकी भाषा को 'अपभ्रंश' इसलिए नही कह सकते कि उसका यह रूप परिमार्जनजन्य है, मौलिक नही। उसका 'राजस्थानीपन' भी कुछ-कुछ ऐसा ही है क्योकि चन्द्रसिह तथा अमरसिह ने राजस्थान मे इसका अपने ढंग से सम्पादन किया है, अत उस पर डिंगलपन का मुलम्मा चढ गया है। वस्तुत. रासो मे न तो परिनिष्ठित अपभ्रंश का रूप है, न राजस्थानी का और न पिंगल का। इसमे अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के मध्यवर्ती रूप का—जिसे गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' कहा है—होना सर्वथा सगत प्रतीत होता है, जिसको इस समय रासो मे से ढूँढ निकालना असम्भव-सा नज़र आता है।

रासो के कतिपय पद्यो का निदर्शन लीजिए—

(१)

इक्कु बाण पुहवीसु जु पइं कइंवासह मुक्कओ।
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअ करि संधीउं भंभइ सुमेसर नंदण।
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खद्दइ सइंभरिवणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
नं जाणउं चंद बलिद्दिउ कि न वि छुट्टइ इह फलह॥

(२)

अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयकरु।
कूड़ु मंत्र मम ठवओ एहुं जं बूयमिलि जग्गरु।
सहनामा सिक्खवउ जइ सिक्खिविउ बुज्झई।
जंप्पइ चंद वलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।
पहु पहुविराय सहंभरि धणी सयंभरि सउणइ संभरिसि।
कइवास विश्रास विसट्ठविणु मच्छिबंधि बद्धओ मरिसि॥

(३)

त्रिण्हि लक्ष तुसार सवल पाषरी अइं जसु हय।
चऊदसइं भयमत्त दंति गज्जति महाभय।
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर।
ल्हूसडु अरु वलुयान सख कु जाणइ ताह पर।
छत्तीस लक्ष नराहिवर बिहि बिनडिओ हो किम भयउ।
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मुउ कि धरि गयउ॥

(४)

जिम जिम तन जर जरयो वहसि वर धायौ तिम तिम।
जिम जिम अन्त रुलंत लष्ष दल तिन गनि तिम तिम।
जिम जिम करिवर परत उठत जिम सीस सहित वर।
जिम जिम रुधिर झरंत सघन घन बरषत सद्धर।
जिम जिम सु षग्ग बज्यो उरह तिम तिम सुरनर मुनि मन्यौ।
जिम जिम सु चाव धरनी पर्यौ तिम तिम संकर सिर धुन्यौ।

४-५. केदार भट्ट और मधुकर

जयचद के दरबारी कवि केदार भट्ट तथा मधुकर द्वारा रचित 'जयचद-प्रकास' और 'जसमयकजसचन्द्रिका' नामक दो ग्रन्थो का उल्लेख किया जाता है। इन रचनाओ की सूचना सिघायत दयालदासकृत 'राठौरा री ख्यात' से मिली है, पर ये रचनाएँ अभी तक नही मिली। 'पृथ्वीराज-

रासो' मे भी एक स्थान पर चद तथा केदार भट्ट के सवाद का प्रसग आया है ।

शिवसिह सेगर ने केदार भट्ट को गौरी का दरबारी कवि माना है । इस कथन का आधार 'भट्टभणत' के सवैये की यह पक्ति बताई जाती है—

"चंद चौहान के केदार गौरी साहजू के गंग अकबर के बखाने गुनगात हैं ।"

यह 'केदार' वही है जिसकी हम चर्चा कर रहे है या इससे भिन्न ?—इसका निर्णय कर सकना कठिन है । यह माना जाता है कि गजनी मे महमूद से पहले ब्राह्मणो का शासन था । हो सकता है कि ब्राह्मणनरेश के आश्रय टूट जाने पर कवि ने नये शासक का आश्रय लिया हो और गजनी से चलकर कवि ने कन्नौज मे आश्रय पाया हो । पर इस धारणा को सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही है ।

६. जगनिक

'जगनिक' कालिजर (चन्देल राज्य) के राजा परमर्दिदेव का भाट कहा जाता है। परमर्दिदेव कन्नौजनरेश जयचन्द के सामन्त थे या अधीनस्थ कोई राजा थे । जब-जब जयचन्द को युद्ध मे उतरना पडता था, तब-तब परमर्दिदेव उसकी सहायता के लिए पहुँचते थे । किसी व्याज से पृथ्वीराज ने चन्देल राज्य पर आक्रमण भी किया था जिसमे आल्हा, ऊदल नामक दो वीर वीरगति को प्राप्त हुए थे । ये 'बनाफर' शाखा के क्षत्रिय थे । परमर्दिदेव के दरबारी कवि जगनिक ने इन्ही दो वीरो की गाथा को लेकर गेय काव्य लिखा होगा । पर उसकी उस समय की लिखी या बाद मे लिखी कोई रचना नही मिली । केवल श्रुतिपरम्परा से चली आ रही वह अब कन्नौज-साम्राज्य के आसपास लोकगीत-सम्पदा बनकर रह गई है।

इतनी लम्बी काल-यात्रा करती हुई गेय रचना ने—जिसका बाद में 'आल्हा-खण्ड' नाम पडा—नाना कठो मे उतरने से अपनी मूल सरसता खो दी है, नाना मस्तिष्को से टकराकर अपना मूल कथानक भी बदल लिया है। फिर भी इतने सुदीर्घकाल से जगनिक की हृदयस्पर्शी भावधारा

अजस्र बहती चली आ रही है—कवि के लिए यह कम महत्त्व की बात नही है ।

फर्रुखाबाद के डिप्टी कमिश्नर मि० चार्ल्स इलियट ने सन् १८६७ मे इस रचना को लोकगीतो से सग्रह कर छपवाया था । यह 'आल्हाखण्ड' आज भी वर्षाऋतु मे गाया जाता है । सभवत इन गीतो को 'आल्हा-रासो' कहा जाता हो, क्योकि उस समय गेय साहित्य को 'रासो' ही कहा जाता था ।

आदिकाल के अन्य कवि

१. फरीद-उद्-दीन शकरगज

बाबा फरीद-उद्-दीन का जन्म सवत् १२४६ (तदनुसार ५८० हिजरी) कसबा खेतवाल, जिला मुल्तान मे हुआ । आपके पिता हजरत कमाल-उद्-दीन महमूद गजनवी के भाँजे थे। सुलतान शहाबुद्दीन के आक्रमणकाल मे आप काबुल से लाहौर आकर बसे। वहाँ से कसूर, कसूर से मुलतान में जाकर रहे । वहाँ मौलाना वजीउद्दीन की पुत्री से विवाह किया । हजरत के तीन पुत्र हुए—अजीजुद्दीन, फरीदुद्दीन और नजीबुद्दीन । बालक फरीद ने बचपन मे कुरान कण्ठ कर लिया था। आपका सम्बन्ध ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के सूफी-सम्प्रदाय से है । आपकी अमर रचनाएँ सिखो के आदि-ग्रन्थ मे सगृहीत हैं । एक नमूना देखिए—

कागा करज ढंढोलिया सगला खाइया मासु ।
ऐ दोऊ नैना मति छुहऊ पिय देखन की आसु ।।
कागा चुंडि न पिंजरा बसै त उडरी जाय ।
जित पिंजरै मेरा सहु बसै मास न तिदु खाय ।।
फरीदा खाकु न निन्दिए खाकु जेड न कोइ ।
जीवन्दियाँ पैरा तले मोइयाँ ऊपर होइ ।।
बुढा होइया शेख फ़रीद कंभन लागी देह ।
जे सो वरहियाँ जीवणां भी तनु होसी खेह ।।

२. अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुलहसन था, पर इनका उपनाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि असली नाम लुप्तप्राय हो गया। इनका जन्म सन् १२५५ (स० १३१२) मे पटियाली, जिला एटा मे हुआ। इनका अधिकाश जीवन शासकीय सेवा मे बीता। इन्होने अपनी आँखो से गुलाम वश का पतन, खिलजी वश का उत्थान तथा तुगलक वश का आरम्भ देखा। इनके समय मे दिल्ली के तख्त पर ग्यारह सुलतान बैठे जिनमे से सात की इन्होने सेवा की थी। ये बडे प्रसन्नचित्त, मिलनसार और उदार थे। सुलतानो और सरदारो से जो-कुछ धन आदि मिलता था वे उसे बाँट देते थे। सल्तनत के अमीर होने पर और कविसम्राट् की पदवी मिलने पर भी ये अमीर और दरिद्र—सभी से बराबर मिलते थे। इनमे अन्य मुसलमानो की तरह धार्मिक कट्टरपन नाम को भी नही था। इनके ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि इनके एक पुत्री और तीन पुत्र थे।

खुसरो अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी भाषाओ के पूरे विद्वान् थे और सस्कृत का भी कुछ ज्ञान रखते थे। ये फारसी के प्रतिभाशाली कवि थे। इन्होने कविता की ९९ पुस्तके लिखी है, जिनमे कई लाख के लगभग शेर थे, पर अब उनके केवल २०-२२ ग्रन्थ प्राप्य हैं। इन्ही ग्रन्थो मे 'किस्सा चहार दरवेश' और 'खालिक बारी' विशेषत उल्लेखनीय है। दूसरा ग्रन्थ तुरकी, अरबी, फारसी और हिन्दी का पर्याय-कोश है। एक उदाहरण लीजिए—

ख़ालिक बारी सिरजनहार।
वाहिद एक बिदा कर्त्तार॥
मुश्क काफर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिंदवी आनद शादी औ सरूर॥
मूश चूहा गुर्बः बिल्ली मार नाग।
सोज़नो रिश्तः बहिंदी सुई ताग॥

गदुम गेहूँ नखूद चना शाली है धान।
ज़रत जोन्हरी अदस मसूर बर्ग है पान ॥

कहा जाता है कि खुसरो ने फारसी से कही अधिक हिन्दी भाषा मे कविता की थी पर अब कुछ पहेलियो, मुकरियो और फुटकर गीतो को छोडकर और सब अप्राप्य हैं।

इनकी रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

बूझ-पहेली **पांचों का सिर काट लिया, ना मारा न खून किया।**
—नाखुन

बिन बूझ-पहेली **खेत में उपजे सब कोई खाय।**
घर में उपजे घर को खाय ॥ —फूट।

दो सुखने **पान सड़ा क्यो? घोड़ा अड़ा क्यो?**
—फेरा न था।
अनार क्यो न चखा? वजीर क्यो न रखा?
—दाना न था।

मुकरी **वह आवे तब शादी होय, उस बिन दूजा और न कोय।**
मीठे लागें वाके बोल, का सखि साजन, ना सखि ढोल ॥

अनमेलियाँ या **खीर बनाई जतन से चर्खा दिया जला।**
ढकोसला **आया कुत्ता खा गया बैठी ढोल बजा।**
ला पानी पिला ॥
भादो पक्की पीपली झड़ झड़ पड़े कपास।
बी मेहतरानी दाल पकाओगी या नंगा सो रहूँ ॥

इतने समय तक बहुकण्ठ होने पर भी इनकी रचना का स्वरूप स्थिर रह गया होगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। हो सकता है कि प्राप्य हिन्दी-रचनाओ मे कुछेक खुसरो के नाम पर प्रसिद्ध कर दी गई हो। फिर भी खुसरो को खडीबोली का प्रथम कवि स्वीकृत किया जाता है।

इसके अतिरिक्त खुसरो ने फारसी के साथ कधा भिडाकर ब्रजभाषा मे भी रचना की है, जोकि उनकी विनोदी प्रकृति की परिचायक है—

चूँ शमा सोज़ां चूँ ज़र्रा हैरां हमेशा गिरियाँ बइश्के-आमह।
न नींद नैना न अंग चैना न आप आवै न भेजे पतियाँ।
बहक्क रोजे विसाले-दिलबर कि दाद मारा फरेब खुसरो।
सपीत मन दुराय राखूं जो जान पाऊँ पिया की घत्तियां।

इस प्रकार खुसरो को खडीबोली और ब्रजभाषा के मनोरजक लोक-साहित्य के प्रथम निर्माता के रूप मे बडे आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

खुसरो प्रसिद्ध गवैये भी थे। ध्रुपद के स्थान पर कौल या कव्वाली बनाकर इन्होने बहुत से नये राग निकाले थे, जो अब तक प्रचलित है। कहा जाता है कि बीन को घटा कर इन्होने सितार बनाया था।

सन् १३२४ मे जब इनके गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु हुई तो उन दिनो ये दिल्ली के प्रसिद्ध तुगलक सुलतान गियासुद्दीन के साथ बगाल गये हुए थे। उनकी मृत्यु का समाचार सुनते ही ये झट वहाँ से चल दिये। कहा जाता है कि जब वे उनकी कब्र के पास पहुँचे, तब यह दोहा पढकर बेहोश होकर गिर पडे—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

इनके पास जो कुछ था, इन्होने सब लुटा दिया और वे स्वय उनके मजार पर जा बैठे। अन्त मे कुछ ही दिनो मे उसी वर्ष इनकी मृत्यु हो गई। ये अपने गुरु की कब्र के नीचे की ओर पास ही गाडे गये। सन् १६०५ ई० मे ताहिर बेरा नामक अमीर ने वहाँ पर मकबरा बनवा दिया।

३ विद्यापति

विद्यापति का जन्म सवत् १४२५ मे बिहार के दरभगा ज़िला के विसपी गाँव मे हुआ था। वे तिरुहुत के महाराज शिवसिंह के आश्रय मे रहते थे। महाराज शिवसिह के अतिरिक्त उनकी रानी लखिमा देवी भी उनकी बडी भक्त थी। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' मे

अपने आश्रयदाता शिवसिंह और कीर्तिसिंह की वीरता का बडे ही ओजस्वी और प्रभावशाली ढग से वर्णन किया है ।

विद्यापति की प्रसिद्ध रचना है—पदावली । इसमे उन्होने राधा-कृष्ण की प्रणय-लीलाओ का वडा ही हृदयस्पर्शी चित्रण किया है । बगाली लोग प्राय अत्यन्त भावुक भक्त होते हैं । जयदेव और चण्डीदास के साथ विद्यापति के गीतो को भी वे लोग सैकडो वर्षों से गाते चले आ रहे हैं । पूर्वी बगाली और बिहारी भाषाएँ भी बहुत अशो तक आपस मे मिल-जुल जाती है । फिर, गेय-गीत तो स्थान-भेद और काल-भेद से रूपान्तरित होते ही रहते हैं । इसीलिए बगालियो द्वारा गाये जाने वाले विद्यापति के अधिकतर गीत बगला रूप ग्रहण कर गये । फलत विगत शताब्दी तक बहुत से विद्वान् विद्यापति को भी चण्डीदास के समान बगाली ही मानते रहे, पर अब यह भ्रम दूर हो गया है और सर्वसम्मति से मान लिया गया है कि विद्यापति बगाली नही प्रत्युत बिहारी थे, और इनकी 'पदावली' की भाषा बगला न होकर मैथिली है ।

विद्यापति कृष्णोपासक नही अपितु शैव थे । अत भक्ति-भाव से प्रेरित होकर उन्होने केवल शिव-सम्बन्धी रचनाएँ लिखी । शैव धर्म के योग-प्रधान होने के कारण उसमे विलासिता या प्रेम की प्रवृत्तियो के लिए कही स्थान नही है । अत प्रेमपूर्ण हृदयोद्गार प्रकट करने के लिए उन्होने जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के आधार पर राधा-कृष्ण को नायक-नायिका मानकर अपने पदो या गीतो की रचना की । प्रमुखत इसी आधार पर कहा जाता है कि इनकी पदावली भक्ति की अपेक्षा शृङ्गार-रस-प्रधान है ।

विद्यापति के आदर्श कवि जयदेव रहे है । उनकी शैली और भावो को तो इन्होने अनेक स्थानो पर अपनाया ही है । साथ ही इनकी निरूपण-शैली भी जयदेव से मिल जाती है । इसी कारण विद्यापति के गीत भी जयदेव के समान अत्यधिक सुकोमल और भावपूर्ण बन पडे हैं । उदाहरणार्थ—

विद्यापति—

नन्दक नन्दन कदम्बक तरु तरे धिरे धिरे मुरली बजाव ।
समय संकेत-निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव ।।

जयदेव—

नामसमेतं कृत-संकेतं वादयते इह वेणुम् ।

कहने को तो पदावली मे विद्यापति ने शृङ्गार के दोनो रूपो—सयोग और विप्रलम्भ का यथोचित रूप मे सफल चित्रण किया है किन्तु इसमे भी वे सयोग-शृङ्गार के ही प्रमुख रूप से गायक थे। सयोग-शृङ्गार का चित्रण करने मे उनकी तूलिका तन्मय हो गई है। पाठक उन हृदयहारी दृश्यो को देखते-देखते कुछ क्षणो के लिए दिव्य आनन्द-लोक मे विहार करने लगता है। भाषा का माधुर्य्य और भावो का सौकुमार्य—इन दोनो का एक अलौकिक सगम इस रचना मे मिलता है। देखिए—

सहजहि आनन सुन्दर रे, भौंह सुरेखलि आँखि ।
पंकज मधु-पिबि मधुकर रे, उडए पसारल पाँखि ।।

सद्य स्नाता का एक नयनाभिराम चित्र देखिए—

कामिनी करए सनाने ।
हेरतहि हृदय हनए पँचबाने ।।
चिकुर गरए जलधारा ।
जनि मुख-ससि उर रोअए अँधारा ।।

राधा को देख लेने पर कामदेव के प्रति कृष्ण का एक उपालम्भ सुनिए—

मनमथ तोहे की कहब अनेक
दिठि अपराध परान पए पीडसि
ते तुअ कौन बिबेक ।।

राधा का नखशिख-सौदर्य भी दर्शनीय है—

चाँद-सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे ।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि दहा दिसि भेलउँजो रे ।।

इस प्रकार राधा-कृष्ण के विरह और मिलन का तथा नखशिख-सौदर्य का सर्वाङ्गपूर्ण, सरस, सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण हिन्दी मे सर्वप्रथम विद्यापति ने प्रस्तुत किया है।

विद्यापति वस्तुत सक्रमण-काल के कवि थे। एक ओर वे वीरगाथा-काल का प्रतिनिधित्व करते है, तो दूसरी ओर वे हिन्दी मे भक्ति और श्रृगार-परम्परा के प्रवर्त्तक माने जाते है। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' मे वे पूर्णत वीरकवि प्रतीत होते है। अपनी शिवभक्ति सम्बन्धी रचनाओ—'शैव-सर्वस्वसार' आदि मे वे भक्तिभाव मे झूमते हुए दिखाई देते है, और पदावली मे वे श्रृङ्गार और प्रणय के रस मे आकण्ठ-मग्न है। इस प्रकार विद्यापति को आप वीरकवि, भक्त-कवि या श्रृगारी कवि जिस भी रूप से देखे वे उसी मे परिपूर्ण दिखाई देते हैं। एक ओर उनकी 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' चारणकाव्य की वीरगाथाओ की स्मृति दिलाती है, और दूसरी ओर इनकी पदावली कृष्ण-कवियो तथा विशेषत रीतिकालीन कवियो की श्रृगारपरक सुकोमल भाव-सामग्री की मूल प्रेरक सिद्ध हो जाती है।

पदावली, कीर्तिलता और कीर्तिपताका के अतिरिक्त सस्कृत मे भी उनकी ग्यारह पुस्तके मिलती हैं—

(१) शैव सर्वस्वसार, (२) शैव सर्वस्वसार-प्रमाण-भूत-पुराण-सग्रह, (३) भूपरिक्रमा, (४) पुरुष-परीक्षा, (५) लिखनावली, (६) गगा-वाक्यावली, (७) दान-वाक्यावली, (८) विभाग-सार, (९) गयापत्तलक, (१०) वर्षकृत्य और (११) दुर्गाभक्ति-तरगिणी। विषय की दृष्टि से ये रचनाएँ भक्ति, सामयिक समाज तथा श्रृगार—इन तीन भागो मे विभक्त की जा सकती हैं।

आदिकाल की भाषा

पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल मे चार प्रकार की भाषाओ मे साहित्य का निर्माण हुआ—अपभ्रंश, डिगल, मैथिली और खडी-

बोली। इनमे से खडीबोली केवल बोल-चाल की भाषा है और अभी अपरिष्कृत ही है। अत आधुनिक काल मे इस पर प्रकाश डालेंगे। इस प्रसग मे शेष तीन भाषाओ का व्याकरण-सम्बन्धी सरल और अत्यन्त उपयोगी परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

१. अपभ्रंश—

साहित्यिक अपभ्र श भाषा को हम तीन रूपो मे विभक्त कर सकते हैं—

(क) ५वी-६ठी शती से ६वी-१०वी शती की अपभ्र श भाषा—इस का रूप सस्कृत के नाटको मे उपलब्ध है। यह भाषा हमारे विवेच्य काल की अपभ्र श भाषा से पूर्ववर्ती है, अत हमारी विषय-सीमा से बाहर है।

(ख) परवर्ती अपभ्र श भाषा—इसमे पुष्पदन्त, धनपाल, धवल, यश कीर्ति, नयनन्दी, कनकामर आदि ने साहित्यिक रचनाएँ की है।

(ग) सक्रान्ति काल की अपभ्र श भाषा, अर्थात् परवर्ती अपभ्र श भाषा और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ के मध्यवर्ती युग की भाषा—इसमें अद्दहमाण, दामोदर, ज्योतिरीश्वर ठाकुर, विद्यापति आदि ने अपनी साहित्यिक रचनाओ का निर्माण किया है।[1]

निम्न प्रसग मे परवर्ती अपभ्र श की व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ प्रस्तुत की जाती हैं। लगभग यही सभी विशेषताएँ सक्रान्ति-कालीन अपभ्र श भाषा मे भी पाई जाती हैं—

(क) वर्णावलि—स्वर— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ओ के अतिरिक्त ऍ (ह्रस्व) और ओ॑ (ह्रस्व)।

व्यञ्जन—ङ, और ञ के अतिरिक्त शेष २३ स्पर्श वर्ण, ४ अन्तस्थ और ष के अतिरिक्त शेष ३ ऊष्म।

(ख) स्वर-विकार—(१) अपभ्र श-शब्दो मे एक स्वर का प्राय: दूसरा स्वर हो जाता है। जैसे—बाहु—बाह, बाहा, तृण—तणु, तृणु;

१ ये चारो व्यक्ति क्रमश सन्देशरासक, उक्तिव्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर और कीर्तिलता के लेखक हैं।

गौरी—गउरी, गोरी आदि ।

(२) अन्तिम स्वर कभी दीर्घ हो जाते है और कभी ह्रस्व । जैसे, (क) श्यामल—सामला, (ख) धन्या—धरण, रेखा—रेह आदि ।

(३) शब्द के अन्तिम वर्ण से पूर्व स्वर की—उससे युक्त व्यजन के लुप्त हो जाने पर भी—प्राय रक्षा की जाती है। जैसे, अन्धकार—अन्धआर; गोरोचन—गोरोअरण आदि ।

ऐसी स्थिति मे कभी य् अथवा व् की श्रुति आ जाती है। जैसे सहकार—सहयार आदि ।

(ग) व्यञ्जन विकार—(१) अपभ्र श मे आदि-व्यञ्जन को सामान्यत सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति है। 'अरण्य' से 'रण्य'-जैसे प्रयोग बहुत कम मिलते है। मध्यवर्ती व्यञ्जनो का प्राय. लोप हो जाता है। जैसे, राजन्—राअ, चतुर्थ—चउत्थ आदि ।

(२) महाप्राण व्यञ्जनो के स्थान पर प्राय 'ह' रह जाता है। जैसे, दीर्घ—दीह, कथा—कहा, शोभा—सोह आदि ।

(३) कभी-कभी व्यञ्जनो के साथ र् का आगम हो जाता है। जैसे, व्यास—व्रास, पश्यति—प्रस्सदि आदि ।

(घ) शब्दरूप—(१) किसी शब्द का अन्तिम अकार कर्ता कारक में कभी 'उ' अथवा 'ओ' मे बदल जाता है, और करण तथा अपादान कारक मे 'इ' अथवा 'ए' मे । जैसे—

(क) दशमुख—दहमुहु, भयकर—भयकरु, पुत्र—पुत्तो

(ख) य —जो, स —सो

(ग) मधुना—महुए (मधु से), देवेन—देवे (देव से)

(घ) तलेन, तलात्—तलि अथवा तले (तल से) ।

(२) अपभ्र श के सर्वनाम-शब्दो के कुछ उदाहरण लीजिए—

अहम्—हउ (मै) ।

माम्, मया—मइ (मुझको, मुझसे)

मह्यम्, मम, मयि—महु, मज्झु (मेरे लिए, मेरा, मुझ मे)

मयि—मइ (मुझ मे)।
यस्मिन्—जहि (जिसमे)।
तस्मिन्—तहि (तिस मे)।
भवान्—होन्तउ (आप)

(ङ) **धातु रूप**—निम्न धातु-रूपो से अपभ्रंश की क्रियाओ का सामान्य परिचय मिलेगा—

करोति—करइ, करेइ (वह करता है)
करोषि—करहि, करसि (तू करता है)
करोमि—करहु, करिमि (मैं करता हूँ)
करिष्यति—करेसइ, करेहइ (वह करेगा)
भूत—हुअ (हुआ), कृत—किअ (किया हुआ), गत—गय (गया हुआ)
कृत्वा—करि, करिवि, करोवि (करके)

उपर्युक्त रूपरचना से स्पष्ट है कि—

अपभ्रंश भाषा संस्कृत के समान संश्लिष्ट भाषा है, विश्लिष्ट नही है, अर्थात् इसमे संस्कृत के समान विभक्तियाँ और प्रत्यय शब्दो और धातुओ के साथ सयुक्त रहते हैं, हिन्दी के समान वियुक्त नही।

२. डिंगल भाषा—

स्वरूप—साहित्यिक राजस्थानी मिश्रित पुरानी हिन्दी को 'डिंगल' कहते है। भाषा-विकास की दृष्टि से यह भाषा एक ओर पतनोन्मुखी प्राकृत तथा अपभ्रंश और दूसरी ओर विकासोन्मुखी ब्रजभाषा के बीच की साहित्यिक भाषा है।

व्युत्पत्ति—इस भाषा के नामकरण एव व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो के विभिन्न विचार हैं—

(१) डाक्टर एल० पी० टैसीटरी 'डिंगल' शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू लेते है। ब्रजभाषा परिमार्जित तथा व्याकरण-सम्मत थी, पर डिंगल भाषा इस सम्बन्ध मे स्वतन्त्र थी। इसीलिए इसका 'डिंगल' नाम पडा।

(२) डॉ० हरप्रसाद शास्त्री के मत मे पहले इसका नाम 'डगल' था, पर बाद मे पिगल (व्रजभाषा) शब्द के साथ तुक मिलाने के लिए इसे भी डिगल कह दिया गया।

(३) डॉ० श्यामसुन्दरदास भी पिगल के अनुकरण पर ही इस शब्द को निर्मित मानते है।

(४) श्री गजराज ओझा के मत मे यह भाषा डकार-बहुला होने के कारण 'डिगल' कहाई।

(५) पुरुषोत्तमदास स्वामी ने डिगल को 'डिम+गल' का यौगिक शब्द माना, जिसका अर्थ है—डमरु की आवाज अर्थात् रणचण्डी का आह्वान करने वाली और वीरो को उत्साहित करने वाली ध्वनि।

(६) मोतीलाल मेनारिया ने डिगल शब्द को 'डीगल' से विकृत माना है, जिसका अर्थ है डीग (दर्पोक्ति) से युक्त भाषा। बोझिल, धूमिल आदि शब्दो के समान यहाँ भी 'ल' प्रत्यय 'युक्त' अर्थ का सूचक है।

इन मन्तव्यो मे हमे श्री मेनारिया और डॉ० श्यामसुन्दरदास के सयुक्त मन्तव्य अपेक्षाकृत अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते है।

(क) उच्चारण—१ डिगल की वर्णमाला मे ऋ, लृ और लॄ अक्षर नही है।

२ डिगल मे 'ल' का उच्चारण कही 'ल' के समान और कही लगभग 'ल्ह' के समान मूर्धन्य होता है।

३. मूर्धन्य 'ष' को 'ख' के रूप मे लिखा जाता है। तालव्य 'श' को 'स' के रूप मे लिखा जाता है, पर पढते समय उसका उच्चारण 'श' ही होता है। उदाहरणार्थ—

बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नन्दन।

यहाँ सोमेसर का उच्चारण 'सोमेशर' होगा।

(ख) शब्द-रूप—डिगल मे कुछ विभक्तियाँ ऐसी है, जो दो-दो तीन-तीन कारको मे प्रयुक्त होती है और कुछ एक ही कारक मे। जैसे—

'इ' विभक्ति का प्रयोग कर्त्ता कारक के एकवचन मे और करण

तथा अधिकरण कारक के बहुवचन मे होता है। जैसे—क्रमश ढोलइ, मुखि, मगि आदि।

'उ' विभक्ति का प्रयोग कर्ता और कर्म कारक के एकवचन मे होता है। उदाहरणार्थ क्रमश करहउ, कलेजउ आदि।

'ए' विभक्ति का प्रयोग सम्प्रदान कारक के एकवचन तथा अधिकरण कारक के बहुवचन मे होता है। जैसे—क्रमश घरे, निसाणे आदि।

'इ इ' विभक्ति का प्रयोग केवल करण कारक के बहुवचन में होता है, ऑ का केवल सम्प्रदान कारक के एकवचन मे और 'हा' का केवल सम्बन्ध कारक के बहुवचन मे। उदाहरणार्थ—क्रमश कामिइ, अहाँ, करहाँ आदि।

इस भाषा के कुछेक सर्वनाम-रूप देखिए—

हूँ, मइँ—मैं, मूझ, अम्ह—मुझे, तू—तू, तुम्हाँ—तू, तुझको, तुझमे, सोइ, सोय, सु—सो–वह, तिणइ—उससे, उसमे, कावण, कउँण—कौन आदि।

(ग) **क्रिया–रूप**—(१) डिगल की 'छइ' क्रिया हिन्दी के 'है' के लिए प्रयुक्त होती है। पर इसके रूप तीनो पुरुषो मे विभिन्न प्रकार से होते हैं। जैसे—

छ (उत्तम पुरुष एकवचन), अछइ छइ (मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष एकवचन)

(२) वर्तमानकालिक क्रिया-पद बहुधा इकारान्त होते है जैसे भरइ, पलट्टइ आदि।

(३) सामान्य भूतकाल के लिए मूलक्रिया के पीछे 'यउ' तथा 'इउ' प्रत्ययो का प्रयोग होता है। जैसे—कहिउ (कहा), उडिउ (उडा) आदि।

(४) भविष्यत् काल के रूप दो तरह से बनते है—(क) सी, स्यूँ तथा स्या प्रत्यय लगाकर। जैसे—रहसी (रहेगा), रहस्यूँ (रहूँगा) मिलस्याँ (मिलेगे) आदि। (ख) ला, ली तथा लो लगाकर। जैसे—बूडेला (डूब जायगा), बूडेली (डूब जायगी) आदि।

(५) पूर्वकालिक क्रिया के लिए क्रिया के अन्त मे इ, ई, करि, एवि, एविय आदि प्रत्ययो का प्रयोग होता है। जैसे—दौडि, दौडि करि, पणमेवि पणमेविय आदि।

३. मैथिली—

विद्यापति की पदावली की भाषा मैथिली है। यह भाषा मागधी अपभ्र श की पश्चिमी शाखा से विकसित मानी जाती है। मगही और भोजपुरी भाषाएँ मैथिली की बहने है। पर इनमे उल्लेखनीय साहित्य की रचना नही हुई। मैथिली, मगही और भोजपुरी—इन तीनो को पश्चिमी बिहारी भी कहा जाता है। विद्यापति की पदावली की मैथिली स्वभावत आधुनिक मैथिली से भिन्न है, और इसका पॉच-छ सौ वर्ष प्राचीन रूप है। इस भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ देखिए—

(क) वर्ण परिवर्तन—(१) मैथिली भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्दो मे अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है। जैसे—मनस्—मन, कर्मन्—कर्म, जन्मन्—जन्म, यशस्—यश आदि।

(२) अन्तिम दीर्घ स्वर कभी-कभी ह्रस्व हो जाते है। जैसे—नागरी, परिपाटी, सुन्दरी—क्रमश नागरि, परिपाटि, सुन्दरि आदि।

(३) अन्तिम आ, इ और उ प्राय 'अ' मे परिणत हो जाते है। जैसे—रेखा–रेह, बाहु–बाह, लघु–लहअ आदि—

सुपहु सुनारि सिनेह चान्द कुसुम सम रेह,
बलअ भॉगल बाँह ममोलि।
समभागह ताहि लहुअ मुणिज्जसु।

(ख) शब्द-रूप—कारक-चिह्न—मैथिली मे निम्नलिखित आठ विभक्तियो का प्रयोग होता है—(१) ए, ए एँ, (२) हि, (३) क, (४) के, (५) एरि, (६) के, (७) कॉ, का, (८) सओ। इनके अतिरिक्त कुछ शब्दो का प्रयोग भी विभक्ति रूप मे होता है, जैसे—'मे' के लिए 'मइ' (मध्य) आदि।

लिंग—अधिकाशत पुल्लिग से स्त्रीलिग बनाने के लिए 'इ', 'ई'

प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे, क्रिया-रूप—पु० भेल (हुआ), स्त्री० भेलि (हुई), पु० होएत (होता है), स्त्री० होइति (होती है)। इसी प्रकार विशेषण-रूपो मे भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। उदाहरणार्थ—

कानकटु भेलि कहिनी तोरि
हमे अभागिलि नारि
तजे दुति भोरि
ई बड़ि लाज

इन कथनाशो मे तोरि, अभागिलि, भोरि और बडि विशेषण इकारान्त है।

(ग) **क्रिया-रूप**—(१) भूत और भविष्यत् कालो मे कर्ता के अनुसार क्रिया का लिग होता है। उदाहरणार्थ—

'राजा भेल वसन्त' मे 'भेल' क्रिया 'वसन्त' के अनुसार पुल्लिग है; और 'अवसर भेलि सम्रानी' मे 'सम्रानी' के अनुसार स्त्रीलिग। पर वर्त्तमान काल मे यह भेद नही पाया जाता।

(२) मैथिली मे वर्त्तमान काल मे अन्य पुरुष एकवचन के लिए 'इ' और 'ए' प्रत्ययो का प्रयोग होता है। जैसे—भनइ (भणति—बोलता है); करए (करता है) आदि।

(३) भूतकाल के लिए प्राय 'ल' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। जैसे—भेल (हुआ), गेल (गया), जानल (जाना), हरल (हर लिया) आदि।

(४) भविष्यत् काल के लिए प्राय 'ब' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। जैसे—करब (करेगा), जानब (जानेगा), पेखब (देखेगा)।

४. खड़ी बोली—

अमीर खुसरो की खडीबोली अभी अपरिष्कृत रूप मे है। उदाहरणार्थ—

एक नार करतार बनाई। सूहा जोड़ा पहिन के आई।
हाथ लगाए वह शर्माय। या नारी को चतुर बताय।।

(उत्तर—**बीरबहूटी**)

एक गुनी ने यह गुन कीना। हरियल पिंजरे में दे दीना।
देखो जादूगर का हाल। डाले हरा निकाले लाल॥

(उत्तर—पान)

फिर भी यह रूप इस तथ्य का प्रमाण है कि विक्रम की १४वी शती मे यह भाषा लोकभाषा के रूप मे व्यवहृत होती होगी, तथा इसमे साहित्य-रचना के बीज विद्यमान थे। ये बीज आगे चलकर आधुनिक काल के भारतेन्दु-युग मे गद्य के रूप मे तथा द्विवेदी-युग मे गद्य और पद्य के रूप मे पनपने प्रारम्भ हुए और प्रसाद-युग मे पूर्णत विकसित हो गये। आज वही खडीबोली राष्ट्रभाषा के गौरवास्पद पद पर आसीन होकर फलवती बन गई है।

भक्तिकाल

विक्रमी सवत् १३७५—१७०० (सन् १३१८—१६४३)

परिस्थितियाँ

(क) राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थिति—

हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल लगभग तीन सौ वर्ष का सुदीर्घ काल है। भारतीय राजनीतिक इतिहास के अनुसार इस काल को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है—सवत् १३७७ से १५८३ तक और १५८३ से १७०० तक। प्रथम भाग मे दिल्ली पर तुगलक और लोधी वश के पठान शासको ने राज्य किया और द्वितीय भाग मे मुगल वश के बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने। शाहजहाँ के शासन-काल (सन् १६२८—५८, स० १६८५—१७१५) मे ही रीतिकाल का प्रारम्भ हो जाता है, क्योकि रीति-काव्य के प्रवर्तक चिन्तामणि का रचनाकाल सवत् १७०० माना गया है।

भक्तिकाल के प्रमुख भक्त-कवि चार है—कबीर, मलिक मुहम्मद जायसी, तुलसीदास और सूरदास। किसी देश की राजनीतिक परिस्थिति उसके काव्य को प्रभावित करती है—यदि इस धारणा को लक्ष्य मे रख कर इन तीन शताब्दियो की राजनीतिक परिस्थिति की जाँच की जाय तो उक्त धारणा भ्रान्त सिद्ध हो जाती है क्योकि उक्त चारो कवियो अथवा इनके सह-विचारको की वर्ण्य सामग्री युग के राजनीतिक वातावरण के ठीक प्रतिकूल है। इस वातावरण के अनुकूल भी इनकी रचनाओ मे कुछेक

उद्धरण इधर-उधर बिखरे हुए अवश्य मिल जाते है[1] पर वे इनकी रचनाओ के मूल विषय नही है। इस काल के अधिकाश भाग का राजनीतिक वातावरण समूची प्रजा के लिए विशेषत हिन्दुओ के लिए अशान्त है, पर इधर इन भक्तो की वाणी धर्मप्रधान एव शान्ति-प्रधान है। इस विरोधात्मक स्थिति का कारण प्रस्तुत करने से पूर्व उस काल की राजनीतिक परिस्थिति पर विचार कर लेना आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की दृष्टि से मुस्लिम राज्यकाल की प्रमुख घटना है—हिन्दुओ पर अत्याचार। मुस्लिम शासको पर तत्कालीन 'उलमा'[2] का पर्याप्त प्रभाव रहा। इन्ही उलमा के बताये आदेशो पर

१. उदाहरणार्थ—

(क) **वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये।**
साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की।।

—तुलसी कवितावली (उ० १७७)

(ख) **कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।**

—तुलसी (राम० उ० १००—१०)

(ग) **कलिजुग कठिन वेद विधि रही, धर्म कहूँ नहिं दीखत सही।**
कही भली कोऊ ना करै।।
उदबस विश्व भयौ सब देस, धर्म रहित मेदिनी नरेस।
म्लेच्छ सकल पहुमी बढ़े।।
सब जन करहिं आधुनिक धर्म, वेद विहित जाने नहिं कर्म।
मर्म भक्ति को क्यौ लहै।।

× × ×

धर्म रहित जानी सब दुनी, म्लेछनि भार दुखित मेदिनी।
धनी और दूजो नहीं।।

—सेवक (सेवक-वाणी १-४-५५)

२ 'उलमा' शब्द 'आलम' शब्द का बहुवचन है। यहाँ इसका अभिप्राय मजहबी कट्टरपन्थी काजियो से है।

चलकर सर्वप्रथम फिरोज तुगलक ने जिम्मी (मुसलिमेतर जाति) होने के रूप मे हिन्दुओ पर 'जजिया' लगाया, जिससे उनके जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा की जा सके। इसी बादशाह ने बहुत से मन्दिर भी तोडे और एक ब्राह्मण को तो अपने महल के सामने जीवित ही जलवा दिया।[1] उसने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लेने के प्रलोभन भी दिये तथा यह नियम बना दिया कि जो हिन्दू इस्लाम-धर्म स्वीकार करेगा, उसे राज्य मे नौकरी दी जायगी। अनेक मुसलमान शासको ने नये मन्दिरो के निर्माण कराने पर प्रतिबन्ध तथा पुरानो की मुरम्मत पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। सिकन्दर लोधी ने मथुरा के मन्दिरो को नष्ट करके उनके स्थान पर सराय और मस्जिदे बनाने की आज्ञा दी। उनके अत्याचारो को लक्ष्य मे रखकर गुरु नानक का उन्हे कोसना इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य है।

निस्सन्देह कुछेक शासको ने इन कट्टरपन्थी उलमा की साम्प्रदायिकतापूर्ण आज्ञा का स्पष्टत उल्लघन भी किया। इस दिशा मे पठान शासको मे अलाउद्दीन खिलजी का और मुगल शासको मे अकबर का नाम उल्लेखनीय है। पर इस उल्लघन का कारण हिन्दुओ के प्रति उदाराशयता एव सद्भावना नही था, अपितु स्वेच्छाचारिता तथा शासन को बहुसख्यक हिन्दुओ की सहायता से सुदृढ बनाना था। इसका प्रमाण यह है कि इन दोनो ने भी हिन्दुओ पर कम अत्याचार नही किये। अलाउद्दीन खिलजी की रूप-लिप्सा एव काम-पिपासा चित्तौड की रानी पद्मिनी के जौहर का कारण बनी। इसी ने कोष को भरने के विचार से 'दोआब' के हिन्दुओ से उपज का ५० प्रतिशत भाग कर के रूप मे कडी कठोरता से उगहाया। अकबर की यह कूट-नीति ही सही, पर उसके अन्त पुर मे हिन्दू रानियाँ बहु-सख्या मे विद्यमान थी। वस्तुत. इसी प्रवृत्ति का आरम्भ भी खिलजी-काल मे हो चला था। अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात के राजा कर्ण को परास्त करके उसकी रानी कमलादेवी को दिल्ली लाकर उसके साथ विवाह कर लिया।

१ भारत का इतिहास—ईश्वरीप्रसाद (१६४६), पृ० १६५।

उस युग के हिन्दुओ की आर्थिक विपन्नता, दुर्भाग्य एव अपमानित अवस्था का वर्णन करते हुए तारीख-ए-फीरोजशाही के लेखक बर्नी ने लिखाहै—"उन (हिन्दुओ) के पास धन सचित करने के कोई साधन न रह गये थे, और उनमे से अधिकाश को निर्धनता, अभावो एव आजीविका के लिए निरन्तर सघर्ष मे जीवन बिताना पडता था। प्रजा के रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करो का सारा भार उन्ही पर पडता था। राजपद उनको अप्राप्य थे।"[1]

निस्सन्देह इन अत्याचारो के पीछे मुस्लिम शासको की धर्मान्धता एव सकीर्ण-हृदयता थी, पर मुस्लिम प्रजा भी विशेष सुखी रही हो—यह भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। मुसलमानो की हिन्दुओ के प्रति द्वेष एव वैर की भावना बहुत प्रबल थी, पर मुसलमानो मे भी परस्पर वह भावना कम न थी। धर्म के आधार पर सुन्नी और शिया मुसलमानो मे तो झगडा रहता ही था, साथ ही विदेशीयता के आधार पर भी द्वेष की आग सुलगती रहती थी। अरबी, ईरानी, अफगान, तुर्क आदि मुसलमान आपस मे एक-दूसरे से जलते रहते थे। यो भी अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ के समय (सन् १५५५-१६५८) को छोडकर मुस्लिम-काल का शेष सारा पूर्व युग (सन् १२००–१५५५) मारकाट, गृह-कलह, विदेशी आक्रमणो के आतक तथा युद्ध का काल रहा है। चगेजखाँ से लेकर बाबर के आगमन तक मुगलो के आतंक ने सभी शासको को भयभीत कर रखा था। अलाउद्दीन के शासनकाल मे कतलग ख्वाजा के नेतृत्व मे दो लाख मुगल दिल्ली पर चढ आये थे। इधर तैमूरलग के रक्त-पात और लूट-खसोट ने शासन-व्यवस्था और प्रजा की बची-खुची सुख-सुविधा को नष्ट कर दिया। शेरशाह के भय से हुमायूँ जैसा शासक १५ वर्ष तक लाहौर से ईरान तक इधर-उधर भटकता रहा।

इसके अतिरिक्त स्वय सभी शासक राज्य-विस्तार की लिप्सा के वशीभूत होकर इधर राजस्थान, गुजरात, मालवा, महाराष्ट्र तथा बगाल

१. भारतीय मध्ययुग का इतिहास—ईश्वरीप्रसाद, (सन्१९५५), पृ०५१०

और उधर सुदूर दक्षिण तक की रियासतों को हथियाने के विचार से भयकर युद्धो मे लिप्त रहे। ये सब रियासते जी-जी कर मरती और मर-मर के फिर जी उठती और दिल्ली के मुस्लिम शासक इन्हे फिर मारने के लिए इन पर धावा बोल देते।

इन शासको मे राजसिहासन-प्राप्ति की लालसा भी कितनी प्रबल रही होगी, यह इस तथ्य से प्रकट है कि अधिकतर पठान शासको का राज्यारोहण अपने निकटतर सम्बन्धी अथवा वास्तविक राज्याधिकारी की निर्मम हत्या अथवा प्रवञ्चना की भित्ति पर अवस्थित है। अल्तमश के सिर पर आरामशाह का खून है। सुल्ताना रजिया और नासिरुद्दीन ये दोनो बहन-भाई अपने भाइयो को पद वचित करके राज्यसिहासन पर आ बैठे। स्वय रजिया और उसका प्रेमी भी षड्यन्त्र का शिकार बने और उनका वध कर दिया गया। अलाउद्दीन खिलजी अपने चाचा जलालुद्दीन की और मुहम्मद तुगलक अपने पिता गियासुद्दीन तुगलक की हत्या करके सिहासनारूढ हुए। स्वय अलाउद्दीन खिलजी को उसके सेनापति तथा मुख्यमन्त्री मालिक काफूर ने (जो मूलत गुजरात का हिन्दू था, और बाद मे मुसलमान बन गया था) विष-प्रयोग द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु के समीप पहुँचा दिया। इसी प्रकार राज्यशासन की बागडोर सम्हालते ही सिकन्दर लोधी को अपने भाई बारबद को ठिकाने लगाना पडा। यहाँ तक ही क्यो, इस काल के मुगल-सम्राटो मे भी खुर्रम को बाबर की सन्तान के सब पुरुषो की गुप्त रूप से हत्या करानी पडी और उसके ससुर ने उसके भाई शहरयार की आँखे निकलवा दी, तब कही जाकर खर्रम 'शाहजहाँ' की उपाधि से भूषित हो पाया।

देश की इस भयकर स्थिति मे सम्पूर्ण प्रजा की—क्या हिन्दू और क्या मुसलमान की—आर्थिक एव सामाजिक स्थिति क्या रही होगी, इसका अनुमान सहज-बोध्य है। इस स्थिति मे हिन्दुओ पर अत्याचार हुए, तो यह कोई आश्चर्यजनक एव अप्रत्याशित घटना नही थी। पर आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित घटना तो यह है कि उस अशान्त वातावरण मे भी

भक्ति-सम्बन्धी साहित्य का निर्माण हुआ।

इस विरोधात्मक स्थिति का एक ही कारण सम्भव है—हिन्दू-जाति की अपनी परम्पराओ एव प्राचीन रूढियो मे असीम और अखण्ड श्रद्धा। उन्हे इनमे एक प्रकार का मोह-सा रहा है। उन्होने अपनी सभ्यता एव सस्कृति पर सदा गर्व का अनुभव किया है और अन्य जातियो की तुलना मे वे अपने-आपको सदा शिष्ट, सुसस्कृत तथा सुशिक्षित समझते रहे है। इसी स्वाभिमान का ही परिणाम है कि धार्मिक एव राजनीतिक कारणो से मुसलमानो के असख्य अत्याचार सहने पर भी वे इनका कडा विरोध करते रहे। पूरे मुस्लिम शासन-काल मे (१२वी शती से १८वी शती तक) जब भी कभी हिन्दू-रियासतो को अवसर मिला वे स्वतन्त्र हो बैठी। दास, खिलजी, तुगलक, लोधी और मुगल वश के सभी शासक राजपूतो को परास्त करते रहे, पर अवसर पडने पर वे फिर उठ खडे होते।

हिन्दू-जाति की यही जीवट-शक्ति उसके आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी है। उसमे विपरीत परिस्थिति मे भी जीवित रहने की शक्ति रही है। शकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य, वल्लभाचार्य—ये सभी धार्मिक आचार्य विक्रम की ९वी शती से १६वी शती तक के समय, अर्थात् मुस्लिम-युग की उपज है। इसे गुण कहे अथवा अवगुण, भारतीय धार्मिक आचार्य देश की राजनीतिक परिस्थिति से सदा निर्लिप्त रहे हैं। उक्त आचार्यों की शिष्य-परम्परा मे कबीर, नानक, तुलसी, सूर, नन्ददास आदि सब की यही दशा है। यदि ये देश की स्थिति से प्रभावित होकर रचना करते, तो इनका मूल वर्ण्य-विषय अपने युग की शासकीय क्रूरता का चित्रण होता, अपने युग के हिन्दू वीरो का गुणगान होता। वे एक ओर सिकन्दर लोधी की धर्मान्धता तथा अकबर की कूटनीति को अपने काव्य का विषय बनाते और दूसरी ओर राणा सागा और प्रताप की महिमा गाते न अघाते। कबीर और सूर मुक्तक गायक थे, पर तुलसी मे तो महाकाव्य-निर्माण की प्रतिभा थी। वे प्रताप की वीरता को अपनी कविता का विषय बना सकते थे।

निस्सन्देह यही स्थिति इस काल के सस्कृत-भापा के लेखको की भी रही है। इस अभाव का कारण देश की तत्कालीन परिस्थिति से विमुखता है। पर इधर मुस्लिम-युग के अनेक देशी-विदेशी अहिन्दू लेखको ने तत्कालीन परिस्थिति को ही अपनी रचना का विषय बनाया है।

भक्त-कवियो की इस विमुखता तथा उनके द्वारा भक्ति-साहित्य-निर्माण का यह कारण बताया जाता है कि हिन्दू-जाति की उस शोचनीय एव दयनीय दशा के उस युग मे हिन्दुओ और उनके धर्म-नेताओ के सम्मुख अब ईश्वर की शरण मे जाना ही एक मार्ग शेष रह गया था। पर इस कारण से मनस्तुष्टि नही होती। जायसी, कुतबन, मझन, उसमान—ये सभी भक्तिकालीन मुसलमान सूफी कवि थे। कबीर भी मुसलमान था। पर इन मुसलमानो द्वारा भक्ति-पद्धति को अपनाने के लिए उक्त तर्क उपस्थित नही किया जा सकता। यदि तुलसी और सूर का काव्य हिन्दू-जाति की शोचनीय दशा के प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न माना जाता है, तो शकर, रामानुज आदि आचार्यो की वेदान्त-प्रणालियो के लिए भी यही तर्क उपस्थित किया जा सकता है पर ऐसा करने के लिए कोई भी उद्यत न होगा।

वस्तुत यह सदा आवश्यक नही कि किसी काल की प्रत्येक रचना पर उसकी राजनीनिक परिस्थिति का प्रभाव पडे ही। भक्त कवियो की रचनाएँ इसी कोटि मे गिनी जायेगी। कबीर और तुलसी मूलत रामानन्द से प्रभावित हैं। जायसी के काव्य पर परम्परागत सूफी-सम्प्रदाय का प्रभाव है। सूर-काव्य वल्लभाचार्य का अनुयायी है। इस प्रकार यह भक्ति-धारा-चतुष्टय लौकिक प्रभाव से शून्य है। जैसे शकर आदि की रचनाओ के लिए किसी राजनीतिक प्रभाव की स्वीकृति नही की जाती, वैसे ही हिन्दी के इन भक्त कवियो के लिए भी नही की जानी चाहिए। वास्तव मे हिन्दी का भक्ति-साहित्य धर्म-प्रधान देश भारत की परम्परागत दर्शन-प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा का एक अभिनव रूप है। अन्तर इतना है कि इनसे पूर्ववर्ती दार्शनिको की रचनाएँ कोरा शास्त्र मात्र हैं,

इनकी रचनाएँ काव्य भी हैं। एक अन्तर और भी है। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम अधिकाशत सस्कृत रहा है, पर इनका लोक-भाषा। इधर यही धारा अद्यावधि अक्षुण्ण बनी आ रही है। यह अलग प्रश्न है कि आधुनिक रचनाओ मे पाश्चात्य दार्शनिकता का प्रभाव भी सम्मिलित है, शकर, रामानुज आदि की तुलना मे इसमे क्रान्तिकारी चिन्तन का लगभग अभाव-सा ही है, और तुलसी, सूर आदि के समान इन्होने पद्य-बद्धता एव काव्यत्व को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम नही बनाया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो रचनाएँ तत्कालीन परिस्थितियो से प्रभावित होती है, उनकी स्थिति दो विकल्पो मे सम्भव है—अनुकूलात्मक और प्रतिकूलात्मक। आदिकालीन चारण-साहित्य अनुकूलात्मक है और रीतिकालीन शृगार-साहित्य प्रतिकूलात्मक। निस्सन्देह इन दरबारी कवियो पर राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव पडना स्वाभाविक था भी। पर इन भक्तो को न 'सीकरी से कोई काम' था और न 'प्राकृत जन के गुणगान' से। इनका साहित्य व्यक्तिगत मानसिक साधना पर आधारित है, सामाजिक परिस्थिति पर नही। समाज इससे भले ही लाभान्वित हो जाय, पर इनका उद्देश्य मूलत आत्माभिव्यक्ति ही था।

निष्कर्ष यह कि—

(१) भक्तिकालीन हिन्दू-जनता पर मुसलमान शासको ने अत्याचार ढाये अवश्य, पर अहिन्दू-जनता की स्थिति भी विशेष अच्छी रही हो, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

(२) भक्तिकाल का भक्ति-साहित्य वस्तुत प्राचीन दर्शन-प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा है, यह मुस्लिम-अत्याचार से जन्य दुरवस्था की प्रतिक्रिया नही है। यह अलग प्रश्न है कि हिन्दुओ को इस भक्ति-साहित्य के श्रवण-श्रावण से उस युग मे सान्त्वना मिलती रही हो।

(ख) साहित्यिक परिस्थिति—

भक्तिकाल की तीन शताब्दियो मे उत्तर-भारत मे हिन्दी-साहित्य के अतिरिक्त सस्कृत तथा फारसी भाषा का साहित्य भी निर्मित हुआ। पर

इन दोनो प्रकार के साहित्य का इस काल के हिन्दी-साहित्य पर किसी भी रूप मे प्रभाव नही पडा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिकाश सस्कृत-साहित्य लोक-निरपेक्ष है और अधिकाश फारसी-साहित्य उस युग का इतिहास प्रस्तुत करता है। सस्कृत के लेखको मे मल्लिनाथ, सायरा, भट्टोजि दीक्षित, रामचन्द्र और जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है,[1] और फारसी के मुगलकाल-पूर्ववर्ती इतिहास-लेखको मे अल्बेरूनी, मिनहाज-सिराज, जियाउद्दीन बर्नी और अफीफ का, तथा मुगलकालीन इतिहास-लेखको मे जौहर, अब्बुलफजल, बदाउनी, निजामुद्दीन अहमद, फैजी, अब्दुल हमीद, अमीन और इनायतखाँ का। इनके अतिरिक्त मुगलकाल मे अनेक सस्कृत-ग्रन्थो का फारसी मे भी अनुवाद हुआ।

(ग) धार्मिक परिस्थिति—

भक्तिकाल जिस धार्मिक परिस्थिति मे उत्पन्न हुआ है, वह एक-दो वर्षो की अथवा दो-तीन दशको की उपज नही है, बल्कि दो-तीन शताब्दियो मे कही बन सकी है। इस धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव आदिकालीन हिन्दी-साहित्य पर तो लक्षित नही हो रहा—ऐसा पहले लिख आये हैं, उसका प्रभाव भक्ति-साहित्य पर—असाक्षात् रूप मे ही सही—आकर पडा है, अत इतिहासकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दो-तीन शताब्दी पीछे हटकर उन धार्मिक परिस्थितियो पर विचार करे। तत्कालीन भारतीय धार्मिक परिस्थिति को दो रूपो मे विभक्त कर आये हैं—बौद्धधर्म की विकृत परिस्थिति और वैष्णवधर्म की परम्पागत परिस्थिति। इनके अतिरिक्त एक तीसरी विदेशीय धार्मिक परिस्थिति ने भी भारत मे स्थान बनाया, जिसे हम सूफी-धर्म कहते है।

---

१ मल्लिनाथ—सस्कृत काव्यो के प्रसिद्ध टीकाकार, सायरा—वेद के भाष्यकार, भट्टोजि दीक्षित—सिद्धान्तकौमुदी के कर्त्ता, रामचन्द्र—प्रक्रियाकौमुदी के कर्त्ता, और जगन्नाथ—रसगगाधर और गगा-लहरी के कर्त्ता।

(१) बौद्धधर्म की विकृत परिस्थिति—

शकराचार्य के तथा कुमारिल भट्ट के भाषणो तथा शास्त्रार्थो का यह लाभ हुआ कि शिक्षितवर्ग का विश्वास बौद्ध-धर्म पर से उठ गया। महात्मा बुद्ध के महानिर्माण के बाद ही बौद्ध-धर्म दो सम्प्रदायो मे विभक्त हो चुका था—हीनयान और महायान। सैद्धान्तिक जटिलता, ज्ञानार्जन, किताबी पाण्डित्य और अनिवार्य रूढियो के कारण 'हीनयान' सम्प्रदाय अनुदारपथी और कट्टर बन गया। बहुत कम लोगो की आस्था इस पर टिक सकी। सिद्धान्त, ज्ञान और पाण्डित्य आदि शर्तो की ढील देकर और केवल जनकल्याण तथा आचार-सम्बन्धी पवित्रता को ही निर्वाण का साधन मानकर दूसरा सम्प्रदाय उदारपथी कहलाया—इसमे सभी वर्गों के लोगो को सम्मिलित होने की आज्ञा मिल गई। सैद्धान्तिक विशालता के कारण ही यह सम्प्रदाय 'महायान' नाम से प्रसिद्ध हुआ। हीनयान अधिक कट्टरता के कारण सकुचित होता चला गया और महायान अधिक उदारता के कारण विकृत।

शकर तथा कुमारिल भट्ट ने सुसस्कृत वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट किया, और महायान सम्प्रदाय ने शेष असस्कृत वर्ग को जत्र, मत्र, अभिचार तथा चमत्कारबाजी द्वारा वशीभूत रखा। इसी एक कारण से कालान्तर मे उसका नाम 'मत्रयान' प्रसिद्ध हुआ।[1] उन दिनो मत्रयान के साथ-साथ वाममार्ग भी चल रहा था, जिसमे स्त्रियो को वश मे लाने के लिए नाना प्रकार के जत्र, मत्र, अभिचार आदि सब का प्रयोग किया जाता था, मत्रयान और वाममार्ग की साधना-शैली लगभग एक ही थी, फिर इनके परस्पर मिल जाने मे क्या रुकावट थी ? मत्रयान ने वाममार्ग की मद्य, मास, मैथुन-मुद्रा आदि अनेक विकृतियाँ आत्मसात् कर ली, फलत उसके आध्यात्मिक 'सुखवाद' ने मुद्रा-साधना का विकृत रूप धारण कर

१. मत्रयान के आदि-आचार्य श्री नागार्जुन थे, मत्रयानियो का साधना-केन्द्र दक्षिण मे धान्यकटक के समीप श्रीपर्वत था। 'मजुश्रीमूलकल्प' उसके मत्राचार का विधानग्रन्थ है।

लिया। इसके लिए 'युगनद्धता' जैसे गर्हित उपचारो का प्रयोग किया गया और नारी के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध को साधना का आवश्यक अग समझ लिया गया। उनके विचारानुसार इन गर्हित कृत्यो की आवश्यकता भी थी—जैसे शारीरिक विष के उतारने के लिए बाह्य विष खिलाया जाता है, वैसे आत्मिक वासना-रूप विष के निवारणार्थ नारी-रूपी विष की आवश्यकता बनी रहती है।

कहते है—पतन की पराकाष्ठा पर नवीन शुभ उत्थान का प्रारम्भ होता है। जब मत्रयान ने अत्यन्त विकृत एव गर्हित रूप धारण कर लिया और 'वज्रयान' नाम से प्रसिद्ध हुआ, तब से उसमे सुधरे हुए रूप का भी विकास होने लगा। हमारा सकेत वज्रयान मे से प्रकट होने वाले सिद्ध-सम्प्रदाय की ओर है। आने वाले चौरासी सिद्धो ने (सवत् ७९७ से लेकर १२५७ सवत् तक) वज्रयानियो की यत्र-मत्र आदि साधना-शैली को अपनाते हुए भी उसमे क्रान्तिमूलक परिवर्तन किये तथा नई स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात किया। वज्रयानियो और सिद्धो की परिवर्तनसूचक तुलना यह है—

वज्रयानी	सिद्ध
१ घोर अनीश्वरवादी	१ ईश्वरवाद की पुनर्मान्यता
२ यत्रमत्र द्वारा लक्ष्यप्राप्ति	२ योग और हठयोग द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति
३ मास, मद्य, मैथुनादि विहित	३ भोग और योग के समन्वय मे गृहस्थ-जीवन की मान्यता
४ युगनद्धता को ही महासुखवाद समझना।	४ शून्यवाद को महासुख का रूप मानना।

चौरासी सिद्धो को वज्रयान का सुसस्कृत रूप ही समझना चाहिए। सिद्धो ने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यत्र-मत्र को न अपना कर, योग और हठयोग के सहारे उसे पाने का यत्न किया। जहाँ तक चमत्कारपूर्ण सिद्धियो का प्रश्न है, वहाँ वज्रयानियो और सिद्धो मे कोई अन्तर नही।

जहाँ इन सिद्धियो और चमत्कारो द्वारा उद्देश्य-प्राप्ति का प्रश्न है, वहाँ एक ओर वज्रयानी आचार-विचार तक गँवा बैठे, दूसरी ओर सिद्धो ने आचार-विचार को स्वाभाविक और नियमित रूप मे परखा और अपनाया। कठोर इन्द्रियदमन से साधना मे विघ्न पडता है, इन्द्रियो को उन्मुक्त छोड देने से भी कोई लाभ नही। फलत सिद्धो ने योग और भोग—दोनो का समन्वय करके गृहस्थ जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति को अपनाकर मनोविज्ञान-मूलक सूझ-बूझ का परिचय दिया। इधर नाथ सम्प्रदाय को भी सिद्धो की एक शाखा समझना चाहिए। नाथ-पथ मे योग और हठयोग की साधना मुख्य मानी गई है। इन्द्रियो के निग्रह को 'योग' कहते है तथा शरीर को असह्य यातना देकर किया गया योग 'हठयोग' कहलाता है। सिद्ध तथा नाथपथ के प्रमुख सिद्धान्त ये है—

(क) कर्मकाण्ड कुछ नही,

(ख) वर्णव्यवस्था अनावश्यक है,

(ग) जीवनयात्रा की सफल समाप्ति और मोक्ष के लिए गुरु की परम आवश्यकता है,

(घ) ईश्वर एक, निरजन और घट-घट व्यापक है, आदि आदि।

कहना न होगा कि हमारे आलोच्यकाल से पहले-पहल जो परिस्थितियाँ घिर-घिर कर जमा होने लगी थी, अब वह समय आ गया कि वे उभर कर साहित्य पर अपना प्रभाव डाले, और सचमुच ऐसा हुआ। वज्रयान की परिवर्तित तथा सुसस्कृत सिद्धसम्प्रदाय की मुख्य-मुख्य रूढियाँ आलोच्यकाल के सन्तमत की धार्मिक पृष्ठभूमि है। सन्त साहित्य तथा सन्त मत के पनपने का थोडा-बहुत उत्तरदायित्व सिद्धसम्प्रदाय की इन्ही रूढियो पर भी है।

(२) वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थिति—

भक्ति की लहर दक्षिण से आई। दक्षिण-भारत ने समय-समय पर उत्तर-भारत का सास्कृतिक नेतृत्व किया है—यह एक इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य है। एक बार पहले भी लगभग ६०० वर्ष पूर्व जब बौद्धधर्म पूर्व से

लेकर उत्तर-पश्चिम तक छा गया था, दक्षिण के प्रकाण्ड विद्वान् शकराचार्य ने आगे बढकर भारत का पथ-प्रदर्शन किया और वैदिक-धर्म की मान्यता नये ढग से स्थापित की। दूसरी बार फिर उत्तर-भारत को सास्कृतिक पथ-निर्देश की आवश्यकता पडी, तो वल्लभाचार्य तथा रामानुजाचार्य के रूप मे दक्षिण-भारत ने नेतृत्व किया।

वैष्णव-धारा का विकास[1]—शकर से लेकर वल्लभाचार्य तक भक्ति ने नाना रूप बदले है। शकराचार्य अपने युग के बडे धार्मिक क्रान्तिकारी समझे जाते है। शकराचार्य से पूर्व भारतीय सस्कृति के मुख्य तत्त्व ये थे—

(क) बहुदेवतावाद पर आस्था,
(ख) उनकी उपासना के लिए यज्ञ और यज्ञो मे पशुबलि का विधान,
(ग) कर्मकाण्ड की जटिलता, और
(घ) प्रवृत्तिमूलक जीवनचर्या।

इस परिस्थिति से लाभ उठाकर बौद्धधर्म वैदिक सस्कृति का खण्डन कर रहा था। शकराचार्य ने जहाँ अपने भाषणो से बौद्धधर्म के प्रभावो को निरस्त किया, वहाँ वैदिक सस्कृति के उक्त तत्त्वो मे आमूल-चूल परिवर्तन भी किये—

(क) बहु-देवतावाद के स्थान पर सीधा ब्रह्म से सम्बन्ध-स्थापन,
(ख) यज्ञो के स्थान पर अद्वैतवादमूलक भक्ति का प्रचार,
(ग) कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड की प्रतिष्ठा, और
(घ) निवृत्तिमूलक जीवनचर्या।

शकराचार्य के इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के मुख्य तत्त्व दो है—अद्वैतवाद और माया। अद्वैतवाद का अर्थ है—आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता, आत्मा कोई स्वतन्त्र सत्तावान् पदार्थ नही है, बल्कि ईश्वर का अश है। अभेदवाद के ज्ञान से मुक्ति होती है, अर्थात् जिस मनुष्य ने अपने जीवनकाल मे अद्वैतवाद का निश्चय कर लिया है, वही मरने के बाद मुक्त होता है, जिसने अभेदवाद का निश्चय नही किया, वह निरन्तर

१. इस विकास का सर्वाङ्गीण चित्र परिशिष्ट-भाग मे देखिए।

जन्म-मरण के चक्कर मे रहता है।[1] द्वैतवाद केवल भ्रम है, माया का जाल है। माया का विनाश केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है।

शकर की चलाई भारतीय सस्कृति का भारत मे पर्याप्त प्रचार हुआ। इसमे सन्देह नही कि बौद्धधर्म का सामना करने मे शकराचार्य के इस सिद्धान्त ने जादू का काम किया। विक्रम की आठवी शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक भारत मे अद्वैतवाद और मायावाद का प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा। इतनी लम्बी अवधि के बाद इसमे कुछेक दोष भी उभर कर सामने आने लगे, यथा—

(क) माया के अतिवाद के कारण लोगो को ससार से विरक्ति होने लगी। कर्मकाण्ड का लोप होने लगा तथा उसके स्थान पर सन्यास-प्रथा बढने लगी।

(ख) जीव और ब्रह्म की पूर्ण अभिन्नता की भावना ने आचार-सम्बन्धी नियमो को शिथिल कर दिया।

इसका फल यह निकला कि ग्यारहवी शताब्दी मे शकराचार्य द्वारा स्थापित 'अद्वैतवाद' का सस्कार होना प्रारम्भ हो गया। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानन्द तथा वल्लभाचार्य ने अपने मन्तव्यानुसार शकर के सिद्धान्तो को नया रूप दिया और अपने-अपने सम्प्रदाय खडे किये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शकर के परवर्ती आचार्यो ने एक-स्वर से मायावाद को अस्वीकार कर दिया है।

(१) रामानुजाचार्य[2]

श्री रामानुजाचार्य ने शकराचार्य-प्रतिपादित मायावाद को स्वीकार

१. **जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवलः।**
यत् किंचित् पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजु श्रुति ॥ —शकर

इस प्रसग मे यजुर्वेद का मत्र यह है—**यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति।**

२ रामानुजाचार्य का जन्म परम वट्टूर (दक्षिण) मे सवत् १०७४ मे हुआ। इन्हे 'शेष' का अवतार माना जाता है। इन्होने शकर-

नही किया। शकर के मायावाद के अनुसार (ब्रह्म को छोडकर) जीव और जगत् मिथ्या हैं। उनके मत मे जीव और जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है, ब्रह्म इन दोनो का उपादान कारण है। पर रामानुजाचार्य ने इसे दार्शनिक नियमो के विरुद्ध बताया है। सत्य कारण (ब्रह्म) से असत्य कार्य (जीव और जगत्) की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है ? अत सत्य से उत्पन्न होकर जीव और जगत् भी सत्य हैं।

श्री रामानुज ने मायावाद की अस्वीकृति को पुष्ट करते हुए मोक्ष की नई परिभाषा दी है। शकर ने जीव की ब्रह्मलीनता को मोक्ष कहा है, पर इनके मतानुसार ब्रह्म की समीपता ही मोक्ष है। ब्रह्म 'सत्', चित्' और 'आनन्द' रूप है। जीव सत्-चित् होने से ब्रह्म का समानधर्मा तो है, पर 'आनन्द' तत्त्व की कमी के कारण वह उससे पृथक्-धर्मा भी है। जगत् ब्रह्म-समुद्भव होने से मिथ्या नही है, सत्य है। वह अपनी पृथक् सत्ता रखता है। अत इनके मतानुसार 'विशिष्ट द्वैतवाद' ही यथार्थ है।

(२) मध्वाचार्य[1]

मध्वाचार्य ने रामानुज का 'विशिष्ट द्वैतवाद' मान तो लिया है, पर उनकी इस सम्बन्ध मे दी हुई परिभाषा नही मानी। रामानुज ने जीव-

---

मतानुयायी अनन्तश्री यादवप्रकाश से दीक्षा ली। पर विचारो की भिन्नता के कारण आपने नाथमुनि के पौत्र यामुनाचार्य के चलाये सम्प्रदाय मे कुछ नवीन मान्यताएँ देकर 'श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय' की नीव रखी। इनके सिद्धान्त-ग्रन्थ ये है—वेदार्थ-सग्रह, श्रीभाष्य और गीताभाष्य। भारत की दो बार यात्रा करने के बाद आप श्रीरगम् मे सवत् ११६४ मे भगवद्विलीन हुए।

१ मध्वाचार्य आनन्दतीर्थ को 'वायु' का अवतार माना जाता है। इनका जन्म सवत् १३१४ मगलौर से ६० मील उत्तर मे हुआ था। नई मान्यता देकर अलग से सम्प्रदाय चलाने के कारण इनका 'मध्वाचार्य' नाम विख्यात हुआ। वेदान्त-सूत्र-भाष्य और अणुभाष्य—आपकी ये दो रचनाएँ है। आपको 'द्वैतवाद' का प्रतिपादक माना जाता है।

ब्रह्म से उत्पन्न तो माना है, पर इन्हे मिथ्या नही माना, 'सत्' और 'चित्' होने के कारण 'ब्रह्म' और 'जीव' समानधर्म है—पर मध्वाचार्य ने इसे स्वीकार नही किया। इनके मत मे 'जीव' और 'ब्रह्म' दो परस्पर-निरपेक्ष तत्त्व है। ये नित्य पृथक् है। कारण से कार्य उत्पन्न होता है, पर न तो समूचा कारण ही कार्य बन जाता है और न कार्य कभी बदलकर कारण बन सकता है। कारण से एक बार कार्य बन जाने पर 'कार्य' सदा कार्य रहता है और 'कारण' सदा कारण। इसी प्रकार जीव ब्रह्म से उत्पन्न होकर न ब्रह्म बना रहता है और न ब्रह्म मे विलीन हो सकता है। यह इन दोनो के मतो की विभिन्नता है, पर हाँ, मोक्ष की परिभाषा पर दोनो सहमत है।

मध्वाचार्य ने विष्णु को परम ब्रह्म माना है और कृष्ण को उसका पूर्णावतार। इस सम्प्रदाय मे राधा को मान्यता प्राप्त नही है। विष्णु स्वामी भी मध्वाचार्य के समान कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म का अवतार मानते है, पर उनके विचार मे शकर का अद्वैतवाद ही यथार्थ है। चैतन्य महाप्रभु ने मध्वाचार्य-सम्प्रदाय मे राधा की प्रतिष्ठा कर इसे नया रूप दिया है।

(३) निम्बार्काचार्य[१]

निम्बार्काचार्य ने माया को नही माना, ब्रह्म और जीव की नित्य-पृथक्ता को भी स्वीकार नही किया। उपाधिभेद से ईश्वर-जीव भिन्न है, उपाधि-भेद से वे अभिन्न भी हो सकते है। उनकी भिन्नता सत्य है और अभिन्नता भी सत्य है। भिन्नता को केवल माया या भ्रम नही कह सकते। कारण से कार्य उत्पन्न होकर भी पुन कारण-रूपता को प्राप्त हो सकता है। जीव और ब्रह्म का चिर-मिलन ही मोक्ष है और भक्ति उसका साधन है। निम्बार्काचार्य का मूलाधार रामानुजाचार्य का सम्प्रदाय है। आप

१. निम्बार्काचार्य को 'सूर्य' का अवतार माना गया है। आपका जन्म १३वी शती मे माना जाता है। आपने तेलगू प्रदेश मे जन्म लिया और वृन्दावन मे आकर जीवन-यापन किया। 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव आपके शिष्य है। 'वेदान्त-कौस्तुभ' आपकी रचना है।

कृष्ण को पूर्णावतार मानते है, आपके सम्प्रदाय मे राधा की सत्ता स्वीकृत है।

(४) रामानन्द[1]

रामानन्द ने इस भक्ति-परम्परा को नये मोड दिये। पहला यह कि इन्होने विष्णु के अवतार कृष्ण की अपेक्षा राम की उपासना पर अधिक जोर दिया। दूसरा, उपासना का माध्यम सस्कृत से हटाकर प्राकृत भाषाओ को माना। तीसरा, भगवद्भक्ति सभी वर्णों के लिए मान्य ठहराई। आगे चलकर कबीर, तुलसी ने इनके द्वारा प्रतिपादित रामोपासना को और अधिक जनप्रिय बनाया है।

(५) वल्लभाचार्य[2]

वल्लभाचार्य तक भक्तिवल्लरी का पूर्ण विकास और विस्तार हो चुका था। आपके सम्प्रदाय मे विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य के मतो का सुन्दर समन्वय मिलता है। यथा—

विष्णुस्वामी—माया रहित अद्वैतवाद } वैष्णव
निम्बार्काचार्य—पूर्णावतार कृष्ण और राधा की स्वीकृति } उपासना।

वल्लभाचार्य ने शकर-प्रतिपादित अद्वैतवाद की तो स्वीकृति दी, पर माया को आपने भी स्वीकार नही किया। माया की स्वीकृति का अर्थ जीव-

---

१ रामानन्द का जन्म १५वी शती मे हुआ। आपने काशी मे स्वामी राघवानन्द के आश्रय मे विद्याभ्यास किया। आपके विचारो के व्यापक होने का कारण आपका भारत-भ्रमण है।

२ वल्लभाचार्य अग्नि के अवतार माने जाते है। आपका जन्म किसी विष्णुस्वामी मतावलम्बी भक्त के घर मे हुआ। छोटी अवस्था मे ही आपने सस्कृत पढकर तथा अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ कर अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था। आपका जन्म सवत् १५३६ मे हुआ, १५८७ मे बैकुण्ठवास हुआ। आप चैतन्यमहाप्रभु के समकालीन थे और वैष्णव सम्प्रदाय के आदि-आचार्य हुए।

जगत् का मिथ्यात्व है, वास्तव मे जीव और जगत् मिथ्या नही है। इनके मत मे ब्रह्म के 'सत्' गुण के आविर्भाव तथा 'चित्' और 'आनन्द' के तिरोभाव से प्रकृति की, और ब्रह्म के 'सत्' और 'चित्' गुण के प्राकट्य तथा 'आनन्द' के तिरोभाव से जीव की उत्पत्ति होती है। सच्चिदानन्द रूप भगवान् सर्वव्यापक ब्रह्म है। जीव और जगत् ब्रह्म से प्रकट होते है और ब्रह्म मे लीन हो जाते है। ईश्वर स्वय अनुग्रह-रूप है। श्रीकृष्ण ब्रह्म के सब दिव्य गुणो से सम्पन्न अवतार है। भगवान् की दो लीला-भूमियाँ है—नित्य और अनित्य। नित्य लीलाभूमि मे यमुना, वृन्दावन, निकु ज, गोपिकाएँ—सब नित्य है। भूमिस्थ यमुना, वृन्दावन और निकु ज आदि अनित्य है, और उस नित्य लीला-भूमि के प्रतीक है। आत्मा का उस नित्य लीला-भूमि मे पहुँचना और विहार करना मोक्ष है। मोक्ष-प्राप्ति का साधन भगवद्-अनुग्रह है। भगवद्-अनुग्रह को पुष्टि कहते है। पुष्टि के अनुसार जीव चार प्रकार के हैं—

(१) **प्रवाहपुष्ट**—जो अन्य लोगो को भक्ति मे प्रवृत्त देखकर गतानुगतिक भक्ति करता है और भगवदनुग्रह का पात्र बन जाता है। जैसे—सधना कसाई।

(२) **मर्यादापुष्ट**—वेदविहित कर्मकाण्डपूर्ण भक्ति करने वाला जीव मर्यादापुष्ट कहलाता है। जैसे—सुदामा आदि।

(३) **पुष्टिपुष्ट**—जो जन्मजात भगवदनुग्रह का पात्र हो। जैसे—उद्धव और स्वय वल्लभाचार्य।

(४) **शुद्धपुष्ट**—जो ज्ञान और अनुभव के बाद रचनात्मक रूप मे कृष्णमय हो जाय। जैसे—गोपियाँ।

इस प्रकार अद्वैतवाद शकर से लेकर वल्लभाचार्य तक विकसित होता चला गया।

विष्णु के स्वरूप का राम और कृष्ण के रूप में विकास—धर्मप्रधान देश भारत को 'देवतावाद' ने वैदिककाल से ही अनुप्राणित किया है। देवताओ मे विष्णु की महिमा भी यथेष्ट रूप से गाई गई है। समय-समय

पर विष्णु के स्वरूप मे अन्तर आता गया है। वैदिककालीन 'विष्णु' सूर्य का ही एक रूप है। उसका वर्णन कई स्थानो पर इस रूप मे किया गया है कि उसने विश्व के सात विभागो को केवल तीन पग मे ही पार कर लिया।[1] ये तीन पग सूर्य के आकाश-मार्ग की तीन स्थितियो—उदय, उत्कर्ष और अस्त के उपमान-स्वरूप है। आगे चलकर 'शतपथ ब्राह्मण' मे विष्णु वामन रूप मे चित्रित किये गये है। वे यज्ञ-रूप होकर असुर से सारी पृथ्वी प्राप्त कर लेते है।[2] महाभारत मे विष्णु को स्रष्टा, प्रजापति तथा ब्रह्म रूप मे निरूपित किया गया है। ब्रह्म रूप मे उनकी तीन स्थितियाँ है—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। इन स्थितियो मे वे क्रमश उत्पादक, रक्षक और सहार रूप मे वर्णित हुए है। आगे चलकर विष्णु-पुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण और भागवत पुराण मे विष्णु को सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला है। वे 'सर्वशक्तिमयो विष्णु' की सज्ञा से विभूषित किये गये है। अब वे अधिकाशत सरक्षक के रूप मे निरूपित हुए हैं, और 'अवतार' पद पर भी प्रतिष्ठित हो गये है। वैष्णव (भागवत) धर्म के अनुयायी जन शैव और शाक्त धर्मानुयायियो के विपरीत, केवल विष्णु को ही परब्रह्म के रूप मे स्वीकार करते है। उनके मत मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति से भी परे विष्णु 'ब्रह्म' के आदिरूप है। इस प्रकार 'विष्णु' का स्वरूप वैदिककाल से पुराणकाल तक धीरे-धीरे विकसित एव परिवर्तित होता चला गया।

---

१. (क) अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णविचक्रमे।
पृथिव्याः सप्त धामभिः॥

(ख) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदं।
समूलहमस्य पां सुरे॥ ऋग्वेद

२ ते यज्ञमेव विष्णं पुरस्कृत्य ईयु ‥ । —शतपथब्राह्मण

पर यह विकास यहाँ तक पहुँचकर भी रुक नही गया। आगे चलकर ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे आभीरो ने वैष्णव धर्म मे श्रीकृष्ण की भावना सम्मिलित कर दी। ८वी शती से यह धर्म शकर के अद्वैतवाद के सम्पर्क मे आया। शकर का अद्वैतवाद रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य जैसे महामना साधको के चिन्तन-स्वरूप किस प्रकार विभिन्न रूप बदलता चला गया, इस पर हम यथास्थान प्रकाश डाल आये हैं। 'विष्णु' का रूप इन्ही साधको के विभिन्न वादो से भी प्रभावित हुआ। निम्बार्काचार्य ने इस विष्णु-रूप मे कृष्ण-रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया और उसमे राधा के स्वरूप को भी जोड दिया। मध्वाचार्य ने विष्णु को अपने द्वैतवाद के रूप मे ढाला। आगे चलकर वल्लभाचार्य ने कृष्ण और राधा का प्रेमात्मक निरूपण किया और बगाल मे चैतन्य महाप्रभु ने बालकृष्ण की भावना पर जोर दिया। इन्होने बालकृष्ण और राधा को मिलाकर वैष्णव धर्म मे प्रेम के मार्ग को प्रशस्त रूप दे दिया। वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु की इसी परम्परा को हिन्दी-साहित्य मे सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियो तथा मीराबाई ने अपने काव्य के रस से सीचा और इसी माध्यम से इसे सामान्य जनता तक पहुँचा दिया।

इस प्रकार 'विष्णु' का स्वरूप एक ओर कृष्ण के रूप मे विकसित हो गया। उधर दूसरी ओर रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय के अनुगामी रामानन्द ने विष्णु के रामरूप का प्रचार किया। हिन्दी मे रामानन्द का अनुगमन तुलसी और कबीर ने किया। पर आगे चलकर कबीर का दृष्टिकोण बदल गया। तुलसी का 'राम' दशरथ-पुत्र साकार राम बना रहा, पर कबीर का 'राम' दशरथ-पुत्र राम से बदलकर निर्गुण 'ब्रह्म' का पर्याय बन गया।

(३) सूफ़ीमत की विकासोन्मुख परिस्थिति—

'सूफी' शब्द 'सूफ' शब्द से बना है। इस शब्द के दो अर्थ हैं। सूफ या सुफा 'बरामदे' अथवा 'ऊनी वस्त्र' को कहते है। इन्ही दोनो अर्थो की

सगति इस प्रकार है। मुहम्मद साहब के समय मे कुछ ऐसे फकीर पैदा हो गये थे, जो घर-बाहर त्याग कर मसजिद के बरामदे मे निवास करते थे और इस्लाम धर्म के सिद्धान्तो की व्याख्या और प्रचार करते थे। ये अलमस्त जीवन बिताते थे। सभवत इनकी वेशभूषा भी निराले ढग से चल निकली, एक लम्बा-सा कन्था और कान तक ऊनी टोपी। कुछ विद्वान् इनकी वेशभूषा के आधार पर इनका 'सूफी' नाम रूढ हुआ बताते हैं। 'सूफ' शब्द से वे ऊनी कनटोप लगाते हैं। सभवत ये फकीर ऊनी टोपी से अपना सिर ढके रहते होगे।

मुहम्मद साहब से पूर्व मध्य-एशिया के लोग मूर्ति-पूजक थे और बहुदेवतावाद मे विश्वास रखते थे। इनमे 'बाद', 'कादेश', 'ईस्तर' आदि अनेक देवताओ की पूजा प्रचलित थी। यह सर्वा शत सत्य है कि देवपूजा का आधार भक्ति है और भक्ति का आधार प्रेम। मुहम्मद साहब द्वारा मूर्तिपूजा के विरोध करने पर इनसे मूर्तिपूजा तो छिन गई, बहु-देवतावाद भी हट गया, पर भक्ति, श्रद्धा या प्रेम की भावनाएँ एकदम लुप्त नही हो गई थी। पहले प्रेम की प्रवृत्ति देवतावाद की ओर थी, मुहम्मद साहब के विरोध-स्वरूप वह प्रवृत्ति ईश्वरोपासना की ओर उन्मुख हो गई। इस्लाम-मत मे नमाज, रोजा आदि के लिए 'प्रेम' की जरूरत नही पडती, इसलिए परम्परागत प्रेम के वातावरण मे पले कई ईश्वर-उपासको का दल अलग-सा खडा हो गया। प्रेम के आकर्षण से ये अलमस्त फकीर घर से निकल खडे हुए और मस्जिद के बरामदो मे डेरा डालकर रहने लगे। अवसर पाकर ये मुसलमानो मे इलहामी विचारो का प्रवचन भी करते थे। वस्तुत ये फकीर भी मुहम्मद साहब के अनुयायी थे। अन्तर केवल यह था कि इनकी जीवन-साधना मे प्रेमतत्त्व का मुख्य स्थान था।

मुहम्मद साहब के बाद खलाफत (गुरुत्ववाद) की परम्परा चली। इस्लाम के प्रचारार्थ ये अलमस्त फकीर अब देश-देशान्तरो के पर्यटन के लिए निकले। भारत मे इनका आगमन हिजरी की पहली शताब्दी—

(विक्रम की लगभग ७वी शताब्दी) मे हो गया था। तेज (सिध), देवल (सिन्ध), थाना (गुजरात), कोलयमली (मद्रास) तथा कामरूप मे अरबी व्यापारियो के साथ ये सूफी फकीर भी पहुँचने लगे। इन्हे भारत की विचारधारा बडी पसद आई। यद्यपि 'अद्वैतवाद' इस्लाम के अनुकूल नही है। इस्लाम खुदा और रूह को एक नही मानता, बल्कि इन्हे दो पृथक् पदार्थ मानता है, तथापि इन फकीरो ने बडी उदारता से 'अद्वैतवाद' को अपना लिया।

सूफियो ने भारत से मध्य एशिया मे लौटकर 'अनलहक' (सोऽहम्) का नारा लगाया, पर इसे इस्लाम ने सहन नही किया। मन्सूर जैसा सूफी इसीलिए फाँसी पर चढा दिया गया कि यह इस्लाम के विपरीत 'सोऽहम्' सिद्धान्त को मानता है। ये सूफी मध्य एशिया से खदेडे हुए पुन भारत मे आकर बस गये। परिणामत सूफी-सिद्धान्तो मे अद्वैतवाद को भी स्थान मिल गया। भारत मे मुसलमानो के आक्रमण से पूर्व ही इन सूफियो ने यहाँ इस्लामी वातावरण तैयार कर लिया था और कतिपय सम्प्रदाय भी खडे कर लिये थे। जिनमे से निम्नोक्त प्रसिद्ध हैं—चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, कादरी सम्प्रदाय, नक्शबन्दी सम्प्रदाय।

चिश्ती सम्प्रदाय—ख्वाजा मुईन-उद्दीन चिश्ती (सन् ११४४—१२३६) मुहम्मद गौरी की सेना के साथ भारत आये थे। सन् ११९५ मे अपनी साधना के लिए वे अजमेर मे रहने लगे। वे खुरासान, नैशापुर, मक्का मदीना मे यात्रा कर चुके थे। शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी तथा मखदूम अब्दुल कादिर जीलानी के सत्सग मे धर्मशिक्षा प्राप्त कर चिश्ती साहब अपने सिद्धान्तो मे पारगत हो गये। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सबसे अधिक है। मुगल-सम्राट् अकबर भी इन्ही के अनुयायी थे। कहते है कि शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से अकबर को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी, जिसका नाम सलीम रखा गया।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय—मुल्तान के समीप उच्चशरीफ (बहावलपुर) मे सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। इनका जन्म

११६६ ई० बुखारा मे और मृत्यु सन् १२६१ मे भारत मे हुई। इनकी वश-परम्परा मे अनेक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। सिन्ध, मुलतान, गुजरात, बिहार और बगाल मे इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार हुआ।

कादरी सम्प्रदाय—सन् १४८२ मे सैयद बदगी मुहम्मद गौस ने उच्चशरीफ मे इस सम्प्रदाय की स्थापना की। वैसे इसके आदि-आचार्य शेख अब्दुलकादिर जीलानी (सन् १०७८—११६६) बगदाद मे हुए थे। इनके वशजो ने अपने चमत्कारो के कारण विशेष प्रसिद्धि पाई। कश्मीर इसका प्रचार-केन्द्र रहा।

नक्शबंदी सम्प्रदाय—इसके आदि-आचार्य बहा-उल्दीन नक्शबद तुर्किस्तान मे हुए थे। ख्वाजा मुहम्मदबाकी गिल्लाह इस सम्प्रदाय को भारत मे लाये थे। इसके सिद्धान्त अधिक बुद्धिलभ्य थे, अत जनता को स्वीकार्य नही हुए। दूसरा, यह सम्प्रदाय भारत मे बहुत विलम्ब से आया था, अत जनता मे इसके लिए यथोचित स्थान न बनाया जा सका।

मुसलमान इन्ही केन्द्रो से प्रेरणा प्राप्त करते थे। इस प्रकार धार्मिकता की जागृति के साथ-साथ उनकी साहित्यिक चेतना भी उद्बुद्ध रहती थी। सूफियो ने प्रेम-काव्य की सृष्टि कर अपना धर्म-प्रचार तो किया ही, साथ ही हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि मे भी उनका योग अनायास हो गया। जायसी आदि सूफियो ने जनसम्पर्क के लिए ठेठ अवधी भाषा को अपनाया।

काव्य-रूप

भक्तिकाल मे उपलब्ध समस्त साहित्य का विभिन्न दृष्टियो से वर्गीकरण किया जाय तो उसे निम्नलिखित काव्य-रूपो मे कर सकते है—

१ उपासना-पद्धति की दृष्टि से भक्तिकालीन प्रमुख साहित्य दो धाराओ मे विभक्त है—(क) निर्गुण धारा और (ख) सगुण धारा। प्रथम धारा के अन्तर्गत सन्त-काव्य और प्रेम-काव्य निर्मित हुआ और द्वितीय धारा के अन्तर्गत कृष्ण-काव्य और राम-काव्य।

२ विषय की दृष्टि से ये रचनाएँ चार प्रकार की है—

(क) सन्त-काव्य, जिसमे सन्तो ने अधिकाश रूप मे आपबीती और आंशिक रूप मे जगबीती कही है।

(ख) प्रेमकाव्य, जिसमे सूफियो ने हिन्दू-गृहस्थ के रूढिगत कथानको का आश्रय लेकर इसलामी साधना की सरल व्याख्या की है।

(ग) कृष्ण-काव्य, जिसमे कृष्णलीलाओ के साथ-साथ आत्मसमर्पण की भावना निहित है।

(घ) राम-काव्य, जिसमे रामगुण और रामचरित के साथ-साथ जातीयता और राष्ट्रीयता का भी अमर सन्देश है।

३ प्रबन्ध की दृष्टि से समस्त साहित्य तीन कोटि का है—

(क) कथानकबद्ध साहित्य—इसके अन्तर्गत सूफियो के प्रेमकाव्य तथा रामचरितमानस जैसी रचनाएँ है।

(ख) विशुद्ध गेय विष्णुपद—इनमे सन्तो तथा कृष्ण-भक्तो ने अन्त-र्मुखी स्थिति अपना कर अपनी हृदयवेदना की गाँठ खोली है।

(ग) सूक्तियाँ—इनके माध्यम से कतिपय सन्तो ने सासारिक अनुभव की अभिव्यक्ति की है।

४ इस प्रकार भक्तिकाल के समस्त साहित्य मे विषय और निरूपण-शैली सम्बन्धी विभिन्नता होने पर भी एक अद्भुत समानता है। समूचा साहित्य किसी-न-किसी पद्धति से गेयकोटि मे आता है। सगुण और निर्गुण साहित्य की विष्णुपदावलियो के अतिरिक्त दोहा-चौपाई, कवित्त-सवैया आदि भी सफलतापूर्वक गाये जा सकते है।

५ भक्तिकाल मे 'हनुमन्नाटक' आदि कतिपय पद्य-नाटक भी निर्मित हुए है। नाटकीयता के अतिरिक्त 'गेयता' का गुण इनमे भी विद्यमान है।

इस काल मे कुछ अन्य फुटकर रचनाओ का भी निर्माण हुआ, हमने कहा है।

अब हम सन्तकाव्य, प्रेमकाव्य, कृष्णकाव्य और रामकाव्य का सामान्य परिचय तथा उनके कवियो का परिचय प्रस्तुत करेगे, तदनन्तर

भक्तिकालीन अन्य कवियो पर प्रकाश डालेगे ।

१. सन्तकाव्य

भारत मे विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी से मुसलमानो के आक्रमरण तीव्र से तीव्रतर होने लगे थे । अब मुस्लिम आक्रान्ता भारत के नागरिक जीवन को शनै-शनै अपनाने लगे थे । इस्लाम का प्रचार बादशाहो द्वारा हुआ, सो हुआ, सबसे अधिक प्रचार मुस्लिम फकीरो द्वारा हुआ । इन मुस्लिम फकीरो के धर्मप्रचार से भारतीय धार्मिक धारणाओ को धक्का-सा लगा । ठीक इसी विषम परिस्थिति मे सन्तो का उदय हुआ । मुस्लिम-धर्मप्रचार के कारण जिन निम्नजातियो के पतन की आशका हो चली थी, उन्हे इन सन्तो ने खूब सॅभाल लिया ।

सन्तकाव्य विभिन्न धर्मसस्थानो का विकसित रूप और विचित्र समिश्रण है । इस पर भारतीय वेदान्त का प्रभाव है, सूफीमत से इसने कुछेक विधान लिये है, और सबसे बढकर यह सिद्धो और नाथपथियो के सिद्धान्तो की नीव पर खडा है । यथा—

१ माया को सभी सन्तो ने स्वीकार किया है । कबीर पर तो माया का विशेष जादू है । यह माया शकर से आई प्रतीत होती है । कबीर ने इसके दो रूप माने है—एक कनक और दूसरा कामिनी ।

२ सन्तो ने ब्रह्म और आत्मा के बीच प्रेमभाव को 'पति-पत्नी' रूप मे अभिव्यक्त किया है । उधर सूफियो मे यही अभिव्यक्ति 'पत्नी-पति' रूप मे की गई है । सन्तो ने सूफियो की इस रूपक-पद्धति को अपनाते हुए भी भारतीय आदर्श के अनुसार इसे समर्पण भाव के रूप मे स्वीकार किया है ।

३ सन्तो पर सर्वाधिक प्रभाव सिद्धो और नाथो का पडा है । - वर्ण्य विषय की दृष्टि से भी और बाह्यरूप से भी । उदाहरणार्थ—

(क) सन्तमत का ईश्वर सिद्धो के 'शून्यवाद' का प्रतीक है । वह ओकार रूप है, इसलिए निराकार है, जगत् का कर्ता है, निर्भय है, निर्वैर

है, अजन्मा है। वह आकाश की तरह सर्वत्र व्यापक है। न उसका मुँह है और न ही उसका कोई रग-रूप है। वह अलख-निरजन है। उसकी प्राप्ति भक्ति और योग द्वारा ही सम्भव है। इसलिए सन्तो ने पूजाचार का विरोध कर केवल नामोपासना पर जोर दिया है। नाम-स्मरण से मानव भवबन्धन से छूट सकता है। नामोपासना के लिए सहज-समाधि की आवश्यकता पडती है। सहज-समाधि का अर्थ है—गृहस्थजीवन मे रहते हुए भी तटस्थभाव से इष्ट साधना करना। कबीर ने ऐसे व्यक्ति को 'मर-जीवा' कहा है, जिसकी तुलना शकर के 'जीवन्मुक्त'[1] से की जा सकती है। सहज-समाधि मे रमकर नाम-स्मरण को भक्ति कहते है और 'मर-जीवा' बनकर निर्लिप्त भाव से ससार मे रहना योग कहाता है।

(ख) कबीर ने हठयोग पर भी आस्था प्रकट की है। हठयोग का अर्थ है—शारीरिक यातनाएँ उठाते हुए प्राणायाम आदि करना।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछेक सन्तो ने केवल भक्ति का आश्रय लिया है, जैसे—गुरु नानकदेव तथा गुरु अर्जुनदेव। कुछ सन्तो ने केवल योग का सहारा लिया है, जैसे—मलूकदास, दादूदयाल। पर कबीर ने भक्ति, योग और हठयोग—सभी रास्तो को अपनाया है। सन्तो मे योग-परम्परा सिद्धो से आई है और हठयोग नाथो से आया है।

(ग) सन्तो ने सिद्धो की तरह, ईश्वर के बाद गुरुवाद का महत्त्व स्वीकृत किया है। कबीर ने उसे गुरु से भी बडा बतलाया है। ईश्वर रूठ जाय तो कोई हानि नही, गुरु रूठ जाय तो विश्व मे कही भी त्राण व शरण नही है। यह प्रभाव भी नाथ-सम्प्रदाय से आया प्रतीत होता है।

(घ) भाषा के विषय मे भी सन्तो ने सिद्धो और नाथो का अनुकरण किया प्रतीत होता है। उनकी तरह सन्तो ने दो प्रकार की भाषा अपनाई है—(१) सामान्य लोक भाषा, (२) सन्ध्या भाषा।

---

१. यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते।
—शंकर

सामान्य लोक-भाषा—सन्तो ने अपनी 'वाणी' परम्परागत भाषा या परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा मे न कहकर सर्वजनकल्याणार्थ लोक-भाषा मे कही है। इधर-उधर भ्रमण-स्वभाव के कारण अथवा बहुप्रान्तीय जन-सम्पर्क के कारण इन सन्तो की 'भाषा' अनेक क्षेत्रिय भाषाओ का मिश्रण बन गई है। अत इसे 'सधुक्कडी' भाषा कहा गया है।

सन्ध्या भाषा—जहाँ अपने सिद्धान्तो को रहस्यमय ढग से प्रतिपादन करने की आवश्यकता पडी है, वहाँ सिद्धो के समान सन्तो ने 'सन्ध्या भाषा' का प्रयोग किया है। सन्ध्या भाषा का अर्थ है—कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट भाषा अथवा मिलीजुली भाषा। कबीर की 'उलटबासियाँ' सब इसी कोटि मे आती है।

निष्कर्ष यह कि

सिद्धो और नाथो के मन्तव्यो को सर्वात्मना अपनाकर भी सन्तो की मौलिकता स्पष्ट है। इसे उनके प्रखर व्यक्तित्व का चमत्कार ही कह सकते हैं। वस्तुत सन्तकाव्य सिद्धो और नाथो के सिद्धान्तो का सुसम्पादित और परिवर्धित सस्करण है।

इस काव्य के प्रतिनिधि सन्त-कवियो का परिचय इस प्रकार है —

(१) कबीर

जीवन—कबीर-पथियो ने अन्य सम्प्रदायो के अवलम्बियो की भाँति इनके जन्म और जीवन को अलौकिक महत्त्व देने की कामना से अनेक चमत्कारी कथाएँ गढी हैं। परन्तु आज उनपर विश्वास करना कठिन है। कबीर का जन्म सवत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा के चन्द्रवार (सोमवार) को हुआ।[1]

कहा जाता है कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी से हुआ था जिसने लोक-लाजवश इन्हे काशी के लहरतारा तालाब के पास छोड दिया। नीरू नामक जुलाहे ने इसे यहाँ से उठा लिया और अपने घर में

१ **'चौदह सौ पचपन साल गए, चन्दवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए।।'**

उसका पोषण किया। इनका अधिकाश जीवन काशी मे बीता। इन्होने स्वय लिखा है—**'सकल जनम सिवपुरी गंवाया'**। इनकी पत्नी का नाम लोई था। जिनसे इनका एक कमाल नामक पुत्र भी हुआ था। इनका जीवन आत्मसयम और समाज-सुधार का जीवन था। आपने आजीवन अपनी अध्यात्मवाणी से जनता के कल्याण का पथ प्रशस्त किया। सवत् १५७५ मे आपका देहावसान हुआ, जिसकी पुष्टि मे यह दोहा प्रचलित है—

संवत् पन्द्रह् सै पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
मागसुदी एकादसी, रलो पौन में पौन॥

रचनाएँ—कबीरदास की रचनाओ की सख्या ५८ और ६१ के मध्य कही जाती है। इनमे से सर्वश्रेष्ठ 'बीजक' है। यह उनकी विभिन्न रचनाओ का सग्रह है और 'साखी', 'शब्द' और 'रमैनी' नाम से तीन भागो मे विभाजित है। इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय आचार्य शुक्ल के शब्दो मे निम्नलिखित है—वेदान्त-तत्त्व, हिन्दू-मुसलमानो को फटकार, ससार की अनित्यना, हृदय की शुद्धि, प्रेम-साधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि की निस्सारता, हज, नमाज, व्रत-आराधन आदि की गौणता, आदि।

सिद्धान्त और मन्तव्य—कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। इन्ही से उन्हे राम नाम की दीक्षा मिली थी। परन्तु इनके राम दाशरथि राम न होकर निराकार ब्रह्म के प्रतीक है—

'दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।

इसी राम के लिए उन्होने अनेक स्थलो पर समरथ, कर्ता, निरच्छर, खसम साहब आदि निर्गुण मत के पोषक नामो का व्यवहार किया है। इसी राम की अनन्य भाव से भक्ति और उपासना कबीर को अभीष्ट है। उनकी भक्ति 'भाव-भगति' कही जाती है—

भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसै मूल।
कहै कबीर हरि भगति बिनु मुक्ति नहीं रे मूल॥

इस भक्ति का आधारभूत तत्त्व है प्रेम, जिससे भक्त सदा छका रहता है—

हरि रस पीया जानिये, जे कबहूँ न जाय खुमार ।

इस प्रेम की साध मे साधक को अपने सिर की बलि देने के लिए तत्पर रहना चाहिए—

कबीर जो तुंई साध पिरम की, सीस काटि करि गोई ।

भक्त और भगवान् के इस प्रेम-पथ की सबसे बडी बाधा माया है । इसके मोहन मन्त्र से पण्डित-पाडे, मुल्ला-मौलाना सभी मत्त हो जाते है । इस माया के दो विकट रूप हैं, कनक और कामिनी—

एक कनक अरु कामिनी दुरगम घाटी दोय ।

माया के मोहन मत्र से मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी सद्गुरु की शरण लेना आवश्यक है । गुरु की कृपा से माया-नागिन का विष प्रभावशून्य हो जाता है और स्वय नागिन भी दग्ध हो जाती है—

नागिन डरपै सत पै उहवाँ नहिं आवै ।
कह कबीर गुरु मत्र से आपै जरि जावै ।।

इसीलिए गुरु-भक्ति भी कबीर की दृष्टि मे प्रभु-भक्ति के समान गौरवास्पद है, और कभी तो भावावेश मे आकर कबीर गुरु को भगवान् से भी ऊँचा समझने लग जाते हैं जिनके चरणो पर वे परम प्रफुल्ल भाव से अपना सर्वस्व तक अर्पित कर सकते है ।

कबीर की साधना मे उनकी समन्वयात्मक भावना के अनुरूप अपने समय की सभी स्वीकृत पद्धतियो का सम्मिश्रण हुआ है । भारतीय अद्वैतवाद, सूफियो का भावनात्मक रहस्यवाद, योगियो का साधनात्मक हठयोग और वैष्णवो का अहिसावाद तथा प्रपत्तिवाद—इन सब का सामञ्जस्य आपने अपनी वाणी मे किया है । कबीर की रहस्यवादी साधना मे प्रेम का रस है और भावना की स्निग्धता है । वेदान्त के अनुसार आपका विश्वास है कि आत्मा और परमात्मा की मूल एकता को माया ने भ्रान्त कर रखा है । पर गुरु की कृपा से इस माया का आवरण छिन्न-भिन्न हो जाता है और फिर 'जल-कुम्भ-न्याय' से आत्मा

और परमात्मा का द्वैत भाव तिरोहित हो जाता है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी ।
फूटा कुम्भ, जल जलहिं समाना, यह तत्त कह्यो गियानी ।।

परमात्मा के प्रति आत्मा के रहस्यमय प्रेम-सम्बन्ध को कबीर ने बहुधा दाम्पत्य-प्रणय के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किया है—

हरि मेरो पीव मै हरि की बहुरिया, राम बडे मै छुटक लहुरिया ।

निश्छल मन से एकमात्र राम-नाम के जाप पर बल देते हुए कबीर ने नाथो, सिद्धो और योगियो की भाँति धर्म के सभी वाह्याडम्बरो का खण्डन किया है। हिन्दू और मुसलमान दोनो धर्मो की अर्थहीन रूढियो और उथली निस्सार बातो की भर्त्सना मे कबीर का स्वर तीखा और ऊँचा हो गया है। हिन्दुओ की मूर्तिपूजा मे पुजारी का दम्भ है और मुसलमानो की बाँग मे खुदा के बहरा होने का सकेत है। दोनो धर्म के मर्म को नही जानते—

कहै हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना ।
आपस में दोउ लरि लरि मूये, मरम न काहू जाना ।।

हिन्दू और तुरुक का, ब्राह्मण और शूद्र का, ऊँच और नीच का भेद-भाव मिथ्या है, भ्रममूलक है। सभी उसी एक परम परमेश्वर की सन्तान हैं—

हम तौ एक एक करि जाना
दोई कहै तिनही कौ दो जग, जिन नाहिन पहिचाना ।

वाह्याडम्बर और वेश-भूषा पर उनका आघात बडा निर्मम है—

साधु भया तो क्या भया, माला पहिरी चार ।
बाहर भेष बनाइया भीतर भरी भंगार ।।

निरूपण-शैली और भाषा—कबीर ने अपने भावो को सुबोध भाषा मे व्यक्त करने की चेष्टा की है। उनकी वाणी मे कलापक्ष की हीनता होते हुए भी मार्मिकता अधिक है, अनुभूति की तीव्रता उनकी उक्तियो का प्रमाण है। उनकी कविता के कला पक्ष पर आचार्यो की दृष्टि से विवेचन

करना व्यर्थ होगा । इसमे कोई सन्देह नही कि उनका काव्य प्रमुख रूप से प्रचारात्मक है अत उसमे सिद्धान्त-तत्त्व की प्रधानता है, काव्य-तत्त्व की नही, और न ही काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से कबीर की वाणी का अध्ययन होना चाहिए । उनकी बाते एक सीधे-सादे सन्त की बाते है जो अपनी निष्कपटता की शक्ति से सीधे हृदय को छूती हैं । न उनमे अलङ्कार है न गुण, न रस । वे आपबीती कहते हैं, स्वानुभूत सत्य को जैसा बन पडे कह देते है और यही उनकी मौलिकता है । इसी का उन्हे गर्व भी है । वे ताल ठोक कर कहते है—

तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता अँखियन की देखी ।

कबीर ने अपनी सरल वाणी मे भी अपूर्व चमत्कार भर दिया है । अपनी रहस्यमयी अनुभूतियो को स्पष्ट करने के लिए इन्होने कही-कही उलटबासियो, अन्योक्तियो और रूपको को भी अपनाया है । इस पद्धति की विशेषता यह है कि इनका चयन हिन्दू और मुसलमानो के घरेलू जीवन मे हुआ है, जिसके कारण वे सुबोध और हृदयग्राही बन पडी है । अन्योक्तियो और रूपको के अतिरिक्त अन्य कई अलङ्कार भी अनायास इनके पद्यो मे आ गये है, जैसे विरोधाभास, दृष्टान्त, भावना, यमक आदि ।

कबीर की भाषा पूरबी है। उन्होने स्वय भी कहा है कि **'बोली मेरी पूरब की'** । परन्तु इस पूरबी भाषा मे भी घाट-घाट का पानी मिला है । पजाबी, ब्रजभाषा, खडीबोली, गुजराती और राजस्थानी प्रयोगो के अतिरिक्त अन्य प्रदेशीय शब्दो की भी उसमे भरमार है । कारण यह है कि कबीर सत्सङ्गी जीव थे । इसी धुन मे आपने पर्यटन भी खूब किया और स्थान-स्थान पर अपने सरल उपदेश से आपने जनता को भी तृप्त किया । कुछ पर्यटन के प्रभाव से और कुछ अपने आशय को तात्कालिक जनता के सम्मुख उन्हीकी प्रचलित भाषा मे स्पष्ट करने के उद्देश्य से कबीर को अपनी वाणी मे ये बेमेल सम्मिश्रण करना वाञ्छनीय था । इसमे कोई सन्देह नही कि उनकी भाषा इससे सधुक्कडी या खिचडी भाषा बन गई । परन्तु इसका परिणाम कबीर के लिए अच्छा हुआ । हिन्दू

और मुसलमान दोनो के लिए सुबोध होने के अतिरिक्त पश्चिम-पञ्जाब से लेकर बगाल तक और हिमालय से लेकर गुजरात तथा मालवा तक, यह भाषा उनके सिद्धान्तो का सर्वसुलभ वाहन बन सकी। इसी भाषा मे ही उन्होने राम और रहीम की एकता का प्रचार करके हिन्दू और मुसलमान दोनो को एक परवरदिगार का बन्दा बताया है—

हिन्दू तुरुक की एक राह है सतगुर इहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो संतो राम न केहुऊ खोदाई।।

उपसंहार—कबीर मानवता से ममता रखने वाले, क्रान्ति की प्रतिमूर्ति, परमहस सन्त थे। उन्होने अपने युग के भावो, विचारो और आदर्शो मे एक प्रबल परिवर्तन लाकर मानव-मात्र के ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय के उद्देश्य से श्रेय-साधना का एक सरल और सीधा पथ प्रशस्त किया। 'राम की माया के द्वन्द्व मे पडा हुआ समाज भ्रम के हिडोले मे भूल रहा था। धर्म के नाम पर अभिनय की प्रधानता थी। ऐसे समय मे बनारस के इस सत-जुलाहे ने 'ज्ञान और प्रेम के ताने-बाने से नई दुनियाँ और नये स्वर्ग की सृष्टि करने का बीडा उठाया।' कर्मकाण्ड के वितण्डावाद मे उलझी हुई जनता को उसने नि सन्दिग्ध शब्दो मे बतलाया कि ईश्वर किसी विशेष स्थान पर अड्डा जमाकर नही बैठा। उसका निकेतन तो मानव का मन है और तत्पर अन्वेषण से उसे प्राप्त किया जा सकता है। निम्नलिखित पद मे कबीर के मुख से उपनिषदो के किसी ऋषि की मानो ध्वनि-सी आ रही है—

मो को कहाँ ढूंढो तू बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलाश में।।
ना तौ कौनौ क्रिया कर्म में, नाही जोग बैराग में।
खोजी होय सो मोहीं पावै, पल भर की तालास में।।
मैं तो रहौं सहर के बाहर, मेरी पुरी सुवास में।
कहै कबीर सुनो भई साधो, सब सांसों की सांस में।।

कबीर निर्गुण अथवा सन्तमत के प्रवर्तक हैं। यह मत उनके बाद

कबीर-पथ के नाम से फला-फूला और जिसके प्रभाव से सन्तो की एक परम्परा का सूत्रपात हो गया। यही परम्परा विक्रम की १८वी शती तक देश को अपने उपदेशामृत से प्लावित करती रही।

(२) रैदास

जीवन—कबीर के सामयिक सन्तो मे रैदास (रविदास) का नाम बडे आदर से लिया जाता है। ये जाति के चमार और रामानन्द के शिष्य थे। इनके विषय मे धन्ना भगत ने कहा है कि इन्होने नित्यप्रति ढोरो का व्यवसाय करते हुए भी माया का परित्याग कर दिया और भगवान् का दर्शन करने मे सफलता प्राप्त की। रैदास के एक पद से स्पष्ट है कि गण्यमान्य पण्डित भी इन्हे वीतराग महात्मा मानकर इन्हे साष्टाग दण्डवत् करते थे—

जाके कुटुँब सब ढोर ढोवंत
फिरहि अजहुँ बानारसी आसपासा।
आचार सहित बिप्र करहि डंडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा॥

उक्त पद्य से स्पष्ट है कि इनका निवासस्थान काशी था। सन्त रविदास की शिक्षा आदि के सम्बन्ध मे अभी तक कुछ ज्ञात नही हुआ। सम्भावना यही है कि ये अशिक्षित रहे होगे।

रचना—'ग्रन्थ साहब' अथवा अन्य कई सग्रहो मे इनके अनेक पद बिखरे हुए मिलते है। कहा जाता है कि इनकी बहुत-सी रचनाएँ राजस्थान मे अभी तक हस्तलिखित रूप मे पडी हुई है। इनकी कुछ फुटकर रचनाओ का सग्रह 'रैदास जी की बानी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

मन्तव्य—सन्त रविदास के विचार अत्यन्त उदात्त और उदार थे। तर्क और वितर्क द्वारा प्राप्त कोरे ज्ञान के स्थान पर सत्य की पूर्ण अनुभूति ही इनके लिए महत्त्वपूर्ण थी। इस साधन से ही मनुष्य राम का परिचय पाकर दुविधा से मुक्त होता है और पिड का रहस्य जानकर जल के ऊपर तूम्बे की भाँति सदा विश्व मे विचरण करता है। रविदास ने इस सत्य

को अनुपम रूप मे कहा है—

जस हरि कहिए तस हरि नाहीं, है अस जस कुछ तैसा ।

किन्तु फिर भी इस सत्य का आभास दृश्यमान प्राकृतिक वैभव मे इस प्रकार मिलता है जिस प्रकार जलराशि मे उसकी वीचियाँ ।

साधना—इनकी भक्ति 'प्रेम भगति' कही जाती है । इसका मूलाधार है अहकार की निवृत्ति । अह की भावना साधक के पथ की सबसे बडी बाधा है । कबीर का माधुर्यभाव (ब्रह्म और आत्मा मे पति-पत्नी-सम्बन्ध) इन्हे भी अभीष्ट है । इन्होने स्पष्ट कहा है कि यथार्थ परिचय प्राप्त करने का सच्चा रहस्य केवल सच्ची 'सोहागिन' जानती है जो अपना मन-प्राण सब कुछ अर्पण कर देती है और अहकार का रचमात्र भी अपने मन मे नही आने देती और न ही किसी भेदभाव को प्रश्रय देती है । अपने पति से एकनिष्ठ प्रेम न करने वाली स्त्री सदा दु खिनी वा दुहागिन हुआ करती है ।

इन्होने ईश्वर-विषयक जो नाम प्रयुक्त किये हैं, वे सगुणात्मक है, परन्तु उनका सकेत निस्सन्देह निर्गुण ब्रह्म की ही ओर है ।

भाषा—रैदासजी की कविता बहुत सरल और सुगम है । इसमे भाषा का प्रचलित रूप अपनाया गया है । अरबी और फारसी शब्दो की बहुलता भी इसकी एक विशेषता है । नीचे के पद मे विदेशी शब्दो की अविच्छिन्न शृखला कौतूहलवर्धक बन पडी है—

खालिक सिकस्ता मै तेरा
दे दीदार उमेदगार, बेकार जिव मेरा ।।
औवल आखिर इलाह, आदम फरिस्ता बन्दा,
जिस की पनह पीर पैगम्बर, मै गरीब क्या गन्दा ।।

मूल्यांकन—'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास के अनुसार 'इन्होने सदाचार के जिन नियमो के उपदेश दिये थे, वे वेदशास्त्रादि के विरुद्ध न थे और उन्हे नीर-क्षीर-विवेक वाले महात्मा भी अपनाते थे ।' सन्त रविदास की विमल वाणी सन्देह की गुत्थियो को सुलझाने मे परम

सहायक है। सन्त रविदास के नाम पर रविदासी वा रैदासी सम्प्रदाय भी प्रचलित है। इनके अनुयायी प्रतिवर्ष इनकी जयन्ती मनाया करते है। आज के हरिजनो के पूज्य पैगम्बर आप ही है। भारत सरकार ने इनके जन्म-दिवस पर सार्वजनिक अवकाश घोषित करके इनके सास्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव पर राजकीय स्वीकृति की मोहर लगा दी है। सन्त रविदास वास्तव मे इसी प्रतिष्ठा के पात्र हैं।

(३) नानकदेव

सिखमत के आदि-गुरु नानकदेव का जन्म कार्तिक सुदी पूर्णिमा सवत् १५२६ विक्रमी मे तलवडी नामक गॉव मे हुआ था, जिसे आजकल 'ननकाना साहिब' कहते हैं और जो विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान मे रह गया है। इनके पिता का नाम कालूराम बेदी और माता का नाम तृप्ता था। इनके पिता साधारण पटवारी थे।

गुरु नानक जी बचपन से ही साधुवृत्ति के थे। बाल्यकाल मे इनका पठन-पाठन प० ब्रजनाथ शर्मा तथा मौलाना कुतुबुद्दीन के यहॉ हुआ। इनका विवाह पक्खो-निवासी मूलचद खत्री की कन्या सुलक्षणा से हुआ। इनके दो पुत्र हुए—श्रीचद और लक्ष्मीचद। इनमे श्रीचद उदासीन सम्प्रदाय के आचार्य हुए।

गुरु नानक ने दो बार देश-विदेश की यात्रा की। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् वासदेव शास्त्री से इनकी ज्ञानचर्चा की बात एक प्रसिद्ध घटना है। रैदास, नामदेव से भी इनकी भेट बताई जाती है। कबीर-नानक भेट की बात भी बडी प्रसिद्ध है, पर यह कहॉ तक सत्य है, निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है।

गुरु नानकदेव ने अपने सिद्धान्तो मे सस्कारवाद के विरोध, देवतावाद की अस्वीकृति, ऊँच-नीच के भेद-भाव के निवारण, सत्य की स्थापना और अकालपुरुष की उपासना आदि का उपदेश दिया।

गुरु नानकदेव जी की वाणियो का सचय गुरु अगददेव जी ने किया, और ये प्रतियॉ सचिकाएँ कहलाई। गुरु अर्जुनदेव जी ने प्रथम चार

गुरुओ की सचिकाएँ, अपनी रचनाएँ तथा अन्य अनेक सन्तो की वाणियाँ लेकर एक सग्रह तैयार किया, जिसका नाम 'आदिग्रन्थ' रखा। ऐसा कहा जाता है कि उक्त सचिकाएँ सर्वप्रथम देवनागरी लिपि मे लिखी गई थी।

इनकी भाषा सधुक्कडी है। इसमे ब्रजभाषा और पजाबी का अद्भुत मिश्रण है। एक नमूना देखिए—

साकु अति होइ सखाई।
हरिबिनु होर रासि है कूडी, चलदियाँ नालि न जाई।
हरि मेरा धनु मेरे साथ चाले जहाँ हौं जाऊँ तहँ जाई।।
सो झूठा जो झूठै लागै झूठै करम कमाई।
कहै नानकु हरि का भाणा होआ कहणा कछु न जाई।।

(४) दादूदयाल

जीवन—दादूपथ के अनुयायियो के अनुसार दादूदयाल का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर मे हुआ था। कहा जाता है कि दादूदयाल एक छोटे से बालक के रूप मे साबरमती नदी मे बहते हुए किसी ब्राह्मण को मिले थे। इनका जन्म फाल्गुन सुदी २, बृहस्पतिवार वि० सवत् १६०१ को हुआ। इनकी शिक्षा के सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक विवरण नही मिलता, परन्तु इनकी रचनाओ मे निहित गम्भीर भावनाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह निरक्षर साधक थे। इनकी साधना का आधार भी कबीर और गुरु नानक की भाँति स्वानुभूति और सत्सग था। बुड्ढन बाबा अथवा वृद्धानन्द नाम के कोई साधु इनके गुरु बताये जाते है। सवत् १६३० मे साभर मे आपने अपने पथ 'परब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की। आज यह पथ 'दादूपथ' नाम से प्रसिद्ध है। सवत् १६४३ मे सीकरी नामक स्थान पर अकबर बादशाह से आपकी भेट हुई थी। इनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अकबर ने अपनी मुद्राओ पर एक ओर 'अल्लाहो अकबर' और दूसरी ओर 'जल्ल जल्लालहु' कीलित कराया था। साभर के निकट नराना की एक गुफा मे जेठ वदी ८, सवत् १६६० मे आपने अपना नश्वर शरीर छोडा।

रचनाएँ—दादूदयाल की रचनाओ की सख्या प्राय बीस सहस्र कही जाती है। इनमे इनके पद, साखियाँ और अन्य सगृहीत बानियाँ भी सम्मिलित हैं। फिर भी इतनी बडी सख्या की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। सभव है यह सख्या उनके पदो की हो।

भाषा—दादू की बानी कबीर की साखी से पर्याप्त सादृश्य रखती है। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। अरबी और फारसी शब्दो का भी इनकी कृतियो मे बहुत प्रयोग हुआ है। कबीर-जैसा वाग्वैदग्ध्य न होते हुए भी इनकी उक्तियो मे सरसता और गम्भीरता काफी है। इनकी वाणी के विषय वही हैं जो प्राय सभी सन्तो के कथनो मे हमे उपलब्ध हैं—ईश्वर की व्यापकता, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, सत्गुरु का माहात्म्य, जातपात का खण्डन, आत्मज्ञान, नश्वर विश्व की निस्सारता आदि। इनकी कविता बडी प्रभावशालिनी है। सुबोध और सहज होते हुए भी वह एक आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि कर देती है। इनका पथ सर्वसुलभ है। निम्नलिखित पद मे शायद इसी ओर सकेत हुआ है—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
बादबिबाद काहू सौं नाही मैं हूँ जग थै न्यारा।
समदृष्टि सूँ भाई सहज में आप हि आप बिचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाही निरबैरी निरविकारा।
काम कल्पना कदे न कीजे पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुंचि पार गहि दादू सो तत सहज सँभारा।।

(५) गुरदास

सिख-इतिहास मे गुरुओ के पश्चात् भाई गुरदास का नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है। इसका प्रधान कारण है—इनका पजाबी तथा विशेषत ब्रजभाषा का सिद्धहस्त कवि होना। इनकी तुलना मे फरीद-उद्दीन शकरगज का नाम भी लिया जा सकता है, पर उनकी ब्रजभाषा की पृष्ठभूमि मुलतानी (लहदा) भाषा है। पजाब मे विशुद्ध ब्रजभाषा के

प्रथम कवि भाई गुरदास ही है।

भाई गुरदास के जन्म-सवत् के विषय मे बडा मतभेद है। डॉ० गोपालसिह ने सवत् १६१६ माना है और भाई प्यारासिह पद्म ने स० १६१०। पर उधर मौला बख्श कुश्ता ने आपका जन्मवर्ष सवत् १५५१ माना है। १७ आश्विन, सवत् १६८६ मे आपका निधन प्राय सर्वसम्मत है। आपका सम्बन्ध भल्ला कुल तथा गुरु अमरदास के वश से बताया जाता है।

गुरु अर्जुनदेव के आदेशानुसार आपने 'आदिग्रन्थ' का सकलन १६६१ सवत् मे किया। साथ ही अपने सिखधर्म के सिद्धान्तो का प्रतिपादन ब्रजभाषा मे प्रस्तुत किया। आपकी रचना को 'आदिग्रन्थ' की कुञ्जी माना जाता है। रचना का भावपक्ष और कलापक्ष व्यवस्थित और पूर्ण है। इनके ७०० के लगभग कवित्त-सवैये गुरुमुखी लिपि मे लब्ध है। रचना का नमूना देखिए—

(१)

सफल बिरछ फल देत ज्यो पखान मारे,
सिर करवत सहि तरु पार-पार है।
सागर से काढि मुख फोरियत सीप ज्यो,
देत मुक्ताहल अवग्या न विचार है।।
जैसे खनवारा खनि खानत रतन धन,
मानक अमोल हीरा पर उपकार है।
ऊखमैं पियूख जैसे प्रकास हो कोल्हू परै,
अवगुन किये गुन साधुन के द्वार है।।

(२)

जैसे सर सरिता सकल में समुंद बड़े,
मेरु में सुमेरु बड़े जगत बखान है।
तरवर विखै जैसे चदन विरख बड़े,
धातु मे कनक अति उत्तम के मान है।।

पच्छिन मे हंस मृगराजन में सारदूल,
रागन में सिरी राग पारस पखान है।
ग्यानन में ग्यान अरु ध्यानन में ध्यान गुरु,
सकल धरम मांहि गृहस्थ परधान है ॥

६ अर्जुनदेव

जीवन—गुरु अर्जुनदेव जी का जन्म गुरु रामदास के घर वैशाख कृष्णा ७, सवत् १६२० मगलवार को हुआ। गुरु अमरदास जी की पुत्री बीबी भानी इनकी माता थी। १८ वर्ष की आयु मे आपको गुरु-पदवी मिली। जहाँगीर ने किसी के बहकावे मे आकर विद्रोही खुसरो की सहायता के अपराध मे गुरु जी को बदी बना लिया और उन पर दो लाख का दण्ड किया तथा 'गुरु ग्रन्थ साहिब' से यह पक्ति निकालने की आज्ञा दी—

मिट्टी मुसलमान दी पेडे पई कुंभार

गुरु जी ने दोनो आज्ञाएँ अस्वीकार कर दी। फलत जेठ सुदी ४ सवत् १६६३ मे आप निरकारी जोत मे लीन हुए।

महत्त्व—सिख-मत मे गुरु अर्जुनदेव का विशेष स्थान है। इसके कई कारण है—

१ आपको आदि-ग्रन्थ के सकलन का श्रेय प्राप्त है। इनके प्रधान शिष्य भाई गुरुदास ने गुरु जी के निर्देशानुसार स० १६६१ मे इसका सग्रह किया था। इसमे पहले पाँच गुरुओ की रचनाएँ सगृहीत है, जिनकी पदसख्या निम्नलिखित है—

श्री गुरु नानकदेव ६७६, श्री गुरु अगददेव ६१, श्री गुरु अमरदास ६०७, श्री गुरु रामदास ६७६, श्री गुरु अर्जुनदेव २२१६ और भाटो के १२३ पद तथा सोलह अन्य सन्तो के न्यूनाधिक पद भी उसमे सगृहीत है।[1]

---

१ उनके नाम ये है—कबीर, त्रिलोचन, बेणी, रविदास, धन्ना, नामदेव, फरीद, जयदेव, भीखन, साई, पीपा, रामानन्द, परमानन्द', सधना, सूरदास, मीराबाई।

२ इन्होने अमृतसर मे 'हर मण्डल' (स्वर्ण मन्दिर) नामक सिखतीर्थ सम्पूर्ण कराया।

३ सिखो मे भक्ति के साथ-साथ शक्ति का भाव जागृत किया।

४ यही से गुरु-पदवी वशानुगत चली।

रचनाएँ—गुरु जी की रचनाएँ ये है—बारहमासा, बावन-अक्खरी, सुखमनी साहब। आपकी रचना मे शान्तरसपूर्ण भक्ति का अमन्द सन्दोह बह रहा है। इनकी रचनाओ मे हरि, नारायण, राम, गोविन्द आदि पदो को देखकर यह भ्रम नही होना चाहिए कि ये सगुणभक्त है, क्योकि इनके प्रेमरस-सिंचित ज्ञान-मार्ग के पद इतने गभीर हैं कि उनमे भारतीय दर्शन तथा सन्तमत सभी मन्तव्यो का विशद व्याख्यान मिल जाता है। गुरु अर्जुनदेव जी की भाषा ठेठ ब्रज है और उधर गुरु नानकदेव जी की भाषा सधुक्कडी कही जाती है। वस्तुत गुरु नानक जी से लेकर गुरु अर्जुनदेव जी तक पूज्य गुरुजनो की भाषा का ब्रजपन उत्तरोत्तर निखरता गया है। गुरु अर्जुनदेव की भाषा का नमूना देखिए—

जाकी राम नाम लिव लागी।
मजनु सुहृद सुहेला सहजे सो कहिए बडभागी।
रहित विकार अलिप माया तै अहं बुधि बिख त्यागी।
दरस प्यास आस एक ही की टेक हिये प्रिय पागी।
अचित सोई जागनु उठि बैसनु अचित हसत बैरागी।
कहु नानक जिनि जगतु ठगाना सुमाया हरिजन ठागी।

७ मलूकदास

जीवन—मलूकदास नाम से कई महात्मा उत्तर-भारत मे प्रसिद्धि पा चुके हैं। आलसियो का यह वेदमन्त्र—

अजगर करे न चाकरी, पछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम॥

भी किसी मलूकदास से सम्बद्ध किया जाता है। सम्भवत सत मलूकदास इनसे भिन्न व्यक्ति है। इन्होने अपना मलूक-पथ चलाया था। इस पथ के

अनुयायियो के अनुसार इनका जन्म वैशाख वदी ५, स० १६३१ को इलाहाबाद जिले के कडा नामक गाँव मे हुआ था। इनके पिता सुन्दरलाल जी जाति के खत्री थे और कक्कड उनकी उपाधि थी। साधु-सत्सङ्ग की इन्हे प्रबल कामना रहती थी और इसीके परिणाम-स्वरूप आध्यात्मिक वृत्ति का इनके हृदय मे पूर्ण विकास हुआ। कहते है कि किसी मुरार स्वामी नाम के महापुरुष से इन्हे ज्ञान-प्राप्ति हुई थी और अध्यात्म-साधना की वास्तविक दीक्षा भी मिली थी। दीक्षित होकर भी इन्होने गृहस्थ-जीवन से मुँह नही मोडा और कडा गाँव मे ही रहकर जीवन के सुख-सतोपमय क्षणो का यापन करते हुए वैशाख कृष्णा चतुर्दशी स० १७३९ मे इन्होने अपना नश्वर शरीर छोडा। इस समय उनकी अवस्था १०८ वर्ष की थी।

रचनाएँ—मलूकदास की शिक्षा के विषय मे बहुत कम ज्ञात हो सका है। उनकी प्राप्य रचनाओ से यह सकेत अवश्य मिलता है कि वे बहुश्रुत महात्मा थे। निम्नलिखित नौ रचनाएँ इनसे सम्बद्ध की जाती है—(१) ज्ञानबोध, (२) रतनखान (३) भक्त-बच्छावली (४) भक्त-विरुदावली (५) पुरुष-विलास (६) दस रत्न-ग्रन्थ (७) गुरु प्रताप (८) अलख बानी और (९) रामावतारलीला। इनका प्रकाशन अभी तक नही हुआ और पूर्ण आलोचनात्मक तथा परस्पर तुलनात्मक अध्ययन के अभाव मे यह कहना कठिन है कि इनमे कितनी मलूक की प्रतिभा की प्रसूति है और कितनी यूँ ही इनके नाम से सम्बद्ध है। हाँ इनके चुने हुए ग्रन्थो और साखियो का एक सग्रह 'मलूकदास जी की बानी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इससे मलूकदास के मन्तव्यो का कुछ ज्ञान हो सकता है।

सिद्धान्त—सन्त मलूकदास ने 'सतगुरु' और भगवान् को एक कहा है। 'सतगुरु' नितान्त अनिर्वचनीय है। इसकी महिमा का वर्णन करना सुई के मुख से सुमेरु को पार करने की चेष्टा करना है। इनके मत मे मुक्ति यही है कि अपना आपा खोजो जिससे भ्रान्ति का नाश हो और

तीनो लोको का मर्म ज्ञात हो। आत्मज्ञान इनके मत का सार है।

ईश्वर के अस्तित्व मे सन्त मलूकदास का विश्वास इतना दृढ और एकनिष्ठ था कि वह प्रतिक्षण उसके सान्निध्य की अनुभूति करते हुए उसे अपना आत्मीय समझते थे। निम्नलिखित सवैया मे भगवान् के प्रति उनका विनम्र दैन्यमय निवेदन है—

दीनदयाल सुनी जब तै, तब तै हिय में कछु ऐसी बसी है,
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ, मै तेरे हित की पट खैंच कसी है।
तेरो ई एक भरोस मलूक को, तेरो समान न दूजो जसी है,
एहो मुरारी पुकारि कहौ, अब मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है।।

कितना अनन्य भावमयपूर्ण और आत्मसमर्पण है! यही कारण है कि अब उनका सुख-दु ख अथवा हास-उपहास उनका नही प्रभु का है और उसकी टेक प्रभु को रखनी है। अधोलिखित दोहे मे यह आत्मसमर्पण पूर्ण विलय की सीमा तक पहुंच गया है—

माला जपौं न कर जपौ, जिभ्या कहौ न राम।
सुमरिन मेरा हरि करै, मै पाया बिसराम।।

भाषा—अरबी और फारसी शब्दो का प्राचुर्य होते हुए भी उनकी भाषा सरल, सुव्यवस्थित और स्वाभाविक है। कही-कही तो पदविन्यास अच्छे कवियो की रचनाओ से टक्कर लेता है। उपदेश और उद्बोधन के पदो मे इनकी भाषा मे ओजस्विता आ गई है जो प्रसङ्गानुरूप भी है। कुछ पद्य बिल्कुल खडीबोली मे है।

एक उदाहरण देखिए—

अब तो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुवा जाके मुनि गंध्रव हैं जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलौ, ऐसे रूप घनेरे।
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तै नैननि हेरे।
कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे।।

८ बाबालालदास

पजाब की सन्त-परम्परा मे बाबालालदास का विशेष स्थान है। इनका मठ गुरुदासपुर मे है। पजाव मे इस नाम के चार सन्त सुने जाते हैं—

१ पिड दादनखाँ के टाहली वाले बाबालालदास,

२ भेरा-म्यानी वाले लालदास,

३ गुरदासपुर वाले सन्त लालदास,

४ कसूर वाले लालदास।

यह कह सकना कठिन है कि ये चारो सन्त भिन्न-भिन्न है, या एक ही सन्त चार अलग-अलग स्थानो मे भ्रमण करने से चार व्यक्तियो के रूप मे प्रसिद्ध हो गया है। जो हो, गुरदासपुर वाले बाबालालदास ही हमारे आलोच्य सन्त है।

इनकी जन्मतिथि के विपय मे बडी भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई है। कुछ लोगो का मत है कि सवत् १४१२ मे सन्त जी प्रकट हुए। वे उनकी मृत्यु का सवत् १७२० बतलाते है। पर ३०८ वर्ष की आयु पर विश्वास कर लेना सुगम नही है। बाबाजी की दाराशिकोह से भेट होना बडी प्रसिद्ध घटना बताई जाती है। यह घटना स० १७०६ मे हो सकती है।[1]

---

१ सवत् १७०६ मे कश्मीर से लौटती बार सन्त बाबालालदास की दाराशिकोह से लाहौर मे भेट हुई थी। यह भेट पाँच-छ दिन निरन्तर होती रही। इस अवसर पर यदुनाथ खत्री, रामचन्द्र शर्मा तथा मीरमुशी उपस्थित थे। इनके वार्तालाप का कुछ अश इस प्रकार है, जो बाबाजी की निरीहता एव त्यागवृत्ति का परिचायक है—

दारा—घर फकीर दा किहडा है ? (फकीर का घर कौन-सा है ?)
बाबा—सारा जगत्
दारा—जदडा घर का ? (ताला घर का ?)

अत उक्त निधन-तिथि पर तो विश्वास किया जा सकता है, पर जन्मतिथि पर नही। परशुराम शर्मा का अनुमान है कि इनका जन्म सवत् १६४७ मे हुआ।

सन्त जी की माता का नाम कृष्णादेवी तथा पिता का नाम भोलानाथ था। १० वर्ष की आयु मे आपमे वैराग्योदय हुआ था। शाहदरा (लाहौर) के निकट सन्त चेतनदास से आपने दीक्षा ले ली।

बाबालालदास ने अपने शिष्यो के साथ पेशावर, गजनी, काबुल, कन्धार, देहली, बडौदा तथा राजस्थान का भ्रमण किया था। आपकी रचनाओ का प्रामाणिक सग्रह अभी तक देखने को नही मिला, पर यत्र-तत्र सग्रह-ग्रन्थो मे कुछ रचनाएँ मिल जाती है। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि आपकी भाषा मूलत ब्रज है। उसमे पजाबी तथा खडीबोली का आभास भी मिल जाता है और राजस्थानी के शब्द भी नजर पड जाते है। नमूना देखिए—

जाकै अन्तर ब्रह्म प्रतीत, धरै मौन भावै गावे गीत।
निसदिन उन्मन रहित खुमार, शब्द सुरत जुड़ एको तार।
ना गृह रहे न बन कौ जाय, लाल दयाल सुख आतम पाय।

बाबा—त्याग भोगो का,
दारा—न्यॉऊ फकीर का ? (न्याय साधु का ?)
बाबा—सभ किसी सो निरवैर, (सबसे निर्वैर-भाव)
दारा—जामा फकीर का क्या है ? (साधु का वस्त्र कौनसा है ?)
बाबा—सभ किसी का पाप कजणा, (सब किसी का पाप गुप्त रखना)
दारा—दुश्मन फकीर दा कौन है ? (साधु का शत्रु कौन है ?)
बाबा—मन आपणा, (अपना मन)
दारा—बादशाही फकीर दी क्या है ? (फकीर की बादशाही क्या है ?)
बाबा—बेपरवाही जगतसो, अर अपने सरीर सो।
(ससार से बेपरवाही, और अपने शरीर पर दोष।)

आशा विषय विकार की बान्ध्या जग संसार।
लख चौरासी फेर में भरमत बारंबार॥
जिह की आशा कछु नही आतम राखै शून्य।
तिह की कछु नही भरमणा लागै पाप न पुन्य॥
देहा भीतर स्वास है, स्वासे भीतर जीव।
जीवे अन्तर वासना किस विध पाइए पीव॥
जाकै अन्तर वासना बाहर धारै ध्यान।
तिह कौ गोविन्द ना मिले अन्त होत है ध्यान॥

(६) सुन्दरदास

सुन्दरदास की गणना सत दादूदयाल के योग्यतम शिष्यो मे की जाती है। ये बसूर गोत के खण्डेलवाल वैश्य थे। इनका जन्म चैत सुदी सवत् १६५३ को जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौसा मे हुआ। ग्यारह वर्ष की आयु मे इन्होने काशी जाकर दर्शन और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। लगभग १८ वर्ष ये काशी मे रहे और सस्कृत, व्याकरण, वेदान्त, पुराण आदि अनेक शास्त्रो मे निष्णात हो गये। फारसी से भी इनका अच्छा परिचय था। देशाटन की ओर इनकी विशेष रुचि थी। जीवन के अन्तिम दिनो मे आप सागानेर चले गये थे। वहाँ कार्तिक सुदी ८ सवत् १७४६ को इनका प्राणान्त हुआ।

रचनाएँ—सुन्दरदास ने छोटे-बडे कुल मिलाकर ४२ ग्रन्थो का प्रणयन किया था। ये सभी रचनाएँ 'सुन्दर-ग्रन्थावली' के नाम से सकलित हैं। इनके ग्रन्थो मे 'सुन्दर-विलास' अथवा 'सवैया' पर्याप्त ख्याति-लब्ध है। इसमे कुल ५६३ छन्द है जिनमे अत्यन्त सरस और हृदयग्राही भाषा मे भिन्न-भिन्न विषयो का प्रतिपादन हुआ है।

निरूपण-शैली तथा वर्ण्य-विषय—सत कवियो मे इन्हे अपने काव्य-कौशल के कारण शीर्षस्थान प्राप्त है। यतिगति-हीन रचना अथवा बेतुकी बाते इन्हे बिलकुल रुचिकर नही थी। इस विषय मे अपने मत को स्पष्ट करते हुए इन्होने लिखा है—

बोलिये तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिये।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक, छन्द अरथ अनूप जामें लहिये॥

काव्य-शास्त्र का भी इन्हे अच्छा ज्ञान था। यही कारण है कि इनकी कविता मे रसनिरूपण अथवा अलङ्कारो की सृष्टि प्रचुर मात्रा मे हुई है। शृङ्गार-रस के ये प्रबल विरोधी थे। नारी-निन्दा भी इन्होने भरपूर की है। सत होते हुए भी हास्य-रस से इन्हे विशेष अनुराग था। वेदान्त की गम्भीर उक्ति-युक्तियो को आपने मनोरजक रूप मे प्रस्तुत किया है। इनके हास्य-विनोदमय व्यग्य के प्रमाण मे इनकी कृति 'दशो दिशा के सवैया' है, जिसमे आपने भिन्न-भिन्न देशो की विभिन्न आचार-पद्धति पर बडी चुटीली और मनोरजक फबतियाँ कसी है।[1] इनकी रचनाओ मे इनकी भाषा का सौष्ठव अपने सहज प्रकृत रूप मे निखरा है। शिक्षा-सम्पन्न होने के कारण अन्य निर्गुणपथियो के रामान आप लोकरीति और मर्यादा के प्रति उदासीन न थे। इनके शिक्षा-सम्बन्धी कथन भी सारगर्भित है।

२. सूफी-काव्य

सूफियो के काव्य मे ईश्वर की परिभाषा हिन्दू-मुस्लिम सिद्धान्तो के अनुरूप पडती है। उसका नाम 'हक' है। वह निराकार है, बेमिसाल है

१. जैसे गुजरात पर—

आभड़ छीत अतीत सो होत, बिलार औ कूकर चाटत हाँडी।

मारवाड पर—

बृच्छ न नीर न उत्तम चीर, सुदेसन में गत देस है मारू।

दक्षिण पर—

राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज, करै सब भच्छन।

पूरब देश पर—

बाम्हन छत्रिय बैस रु सूदर, चारोइ बर्न के मच्छ बघारत।

और अजन्मा है। वह व्यापक और सृष्टिकर्ता भी है। परन्तु वह आत्मा से भिन्न नही है। आत्मा साधना की चार मजिले तै करके ही उस तक पहुँच पाता है। यह पीछे बताया गया है कि सूफियो पर वेदान्तवादियो का प्रभाव है और यही वेदान्तवाद सूफियो को कट्टर इस्लामवाद से पृथक् करता है और भारतीय सन्तमत के निकट लाता है। सूफियो ने ईश्वर के बाद गुरु को ऊँचा दर्जा दिया है। कही-कही गुरु ईश्वर-रूप हो गया है[1], और कही-कही गुरु को प्रेम का स्वरूप मान लिया गया है[2]। ईश्वर की प्रथम रचना प्रेम है और प्रेम के माध्यम से उसने शेष सृष्टि की रचना की है[3]। सूफीमत मे माया का कोई स्थान नही है। जायसी ने अल्लाउद्दीन को माया का प्रतीक[4] माना है, पर यह केवल अपवाद मात्र है। हाँ, मुस्लिम सस्कारो के कारण सूफी-काव्यो मे 'शैतान' का दर्जा बराबर बना हुआ है। शैतान के प्रभावो को निरस्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता सदा बनी रहती है।

सूफी-साहित्य का सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त है—प्रेम। प्रेम के सम्बन्ध मे ईश्वर और गुरु की चर्चा हो चुकी है। सूफी-साहित्य मे प्रेम के दो पक्ष हैं—सयोगपक्ष और वियोगपक्ष। पुन प्रेम के दो रूप है—सात्त्विक प्रेम और तामसी प्रेम। सूफीमत दोनो रूपो को ग्रहण करता है। नायक-नायिकाओ मे सात्त्विक प्रेम की अवतारणा हुई है और खलनायको मे तामसी प्रेम की। सात्त्विक प्रेम को भी 'सुखमय प्रेम' और 'दु खमय प्रेम' के भेद से दो धाराओ मे विभक्त कर सकते हैं। जायसी-प्रणीत 'पद्मावत'

---

१. **गुरु गोविन्द हर एकै जानौ, याही भाव तुम मन में ठानौ।**

—अली मुराद

२. **प्रेम गुरु है ध्यान कर मनसो सुमिरन लाव।** —अली मुराद

३ **प्रेम सों तीनो लोक संवारा नये-नये रूप औ नये अवतारा।**
निराकार जब प्रेम बनायो, पहले प्रेम वही मौ समायो॥

—अली मुराद

४. **माया अललाउदी सुलतानू।** —जायसी

मे नागमती का सात्त्विक प्रेम दु खमय है और पद्मावती का सुखमय। सूफी साधना के चार अग हैं—

(१) **शरीअत**—अर्थात् धर्मग्रन्थो के विधिनिषेध के अनुसार जीवन-यापन करना और उपासना मे रत रहना।

(२) **तरीकत**—अर्थात् जगत् से विमुख रहकर अन्तर्लीनावस्था मे ईश्वरी सत्ता का चिन्तन करना। इसकी तुलना भारतीय उपासना काड से की जा सकती है।

(३) **हकीकत**—अर्थात् ईश्वरी सत्ता का परम ज्ञान प्राप्त कर लेना।

(४) **मारिफ़त**—अर्थात् परम सत्ता मे अवस्थित होने की सिद्धि हासिल करना।

सूफियो की ये साधनाएँ विशुद्ध इस्लामवाद की सूचक है। साधक को मुक्त तभी माना जा सकता है, जब वह इन घाटियो को पार कर जाय।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना असगत न होगा कि सूफियो का हिन्दी-साहित्य मे उतरना तथा भारतीय विचारधाराओ और कथानको को अपनाना अनायास-सी घटना है। मूलत इसका उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था। उन्ही के कथनानुसार मुहम्मदी धर्म ही ससार मे सर्वश्रेष्ठ धर्म है—

विधना के मारग है तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।
तेहि पथ मँह कहौ भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बढ़ाई।
सो बड़ पथ मुहम्मद केरा। है निरमल कविलास बसेरा।

—जायसी

सूफियो का कलापक्ष बडा रमणीय है। इनके महाकाव्यो मे सरस-नीरस पदो और प्रसगो का समाहार बडे सुन्दर ढग से हो जाता है। इनकी दोहा-चौपाई की (मसनवी) गायन-पद्धति बडी निराली और आकर्षक है। सभी सूफियो की भाषा ठेठ अवधी है। वस्तुवर्णन और सालकार अभिव्यक्ति सूफियो की निजी विशेषता है।

हिन्दी के भक्तिकालीन प्रसिद्ध सूफी कवि ये है—कुतुबन, मझन, जायसी, उसमान और न्यामतखाँ (जान कवि)। पर यह सूफी-परम्परा आगे भी चलती रही। शेख नबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद, हुसैन अली, शेख निसार, नजफ अली, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, नसीर कवि, अली मुराद आदि सूफी कवि हिन्दी रीतिकाल की उपज है। भक्तिकालीन सूफी-कवियो का परिचय इस प्रकार है—

(१) कुतबन

कुतुबन का आविर्भाव-काल विक्रम की १६वी शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। आचार्य शुक्ल ने इन्हे चिश्ती वश के शेख बुरहान का शिष्य बतलाया है। परन्तु निम्नलिखित दोहे से—

सेष बुढ़न जग साचा पीरू, नाम लेत सुध होय सरीरू।
कुतबन नाम लेई पा धरे, सरवर दो दुहूं जग नीर भरे॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कुतुबन का शेख बुढन के प्रति बहुत आदर-भाव था और उन्हे ये **'सब सो बड़ा सो पीर हमारा'** कह कर याद करते थे। ये शेख बुढन और आईन-ए-अकबरी के शेख बुढन शत्तारी एक ही व्यक्ति प्रतीत होते है। ये मुस्लिम सुलतान शाह सिकदर लोदी (राज्य-काल स० १५४६–१५७४ वि०) के समसामयिक थे। कुतुबन ने 'मृगावती' मे शाहे वक्त की प्रशसा मे लिखा है—

साहे हुसैन आहे बड़ राजा, छत्र सिंघासन उनको छाजा।

इस हुसैन शाह को लेखक ने युधिष्ठिर और कर्ण के समान धर्मात्मा और दानवीर भी कहा है। जौनपुर का शासक हुसैन शाह इन गुणो से सम्पन्न धर्मपरायण व्यक्ति था और उसका राज्य-काल भी स० १५५० से १५७६ तक था। सम्भावना यही है कि कुतुबन इसी हुसैन शाह के आश्रित थे। कुतुबन की रचना 'मृगावती' (मृगावति) का रचनाकाल स्वयं कवि के कथनानुसार स० १५६० है, इसलिए हुसैन शाह की प्रशस्ति असगत भी प्रतीत नही होती।

रचना—कुतुबन की मृगावती की कथा भी रूपक-रूप मे लिखित

है। कथा सक्षेप मे इस प्रकार है—चन्द्रगिरि के राजा गरणपति का पुत्र कचन नगर के राजा रूपमुरारी की कन्या मृगावती के रूप पर मुग्ध हो गया। मृगावती उडने की कला जानती थी। राजकुमार ने उसे प्राप्त करने के लिए अनेक सकटो का सामना किया और अन्त मे उसे प्राप्त करने मे सफल हुआ। परन्तु मृगावती एक दिन उसे झाँसा देकर उड गई। राजकुमार उसके विरह मे योगी बनकर उसे खोजने लगा। एक दिन उसने एक पहाडी पर रुक्मिरणी नाम की एक सुन्दरी की एक राक्षस से रक्षा की। इससे प्रसन्न होकर सुन्दरी के पिता ने उसका विवाह राजकुमार से कर दिया। अन्तत राजकुमार मृगावती के राज्य मे पहुँचा। यहाँ अपने पिता की मृत्यु के बाद मृगावती राज्यासीन थी। राजकुमार १२ वर्ष वहाँ रहा। राजा गरणपति को यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने पुत्र को बुलवा भेजा। पिता का सदेश पाकर राजकुमार मृगावती को साथ ले अपने राज्य चन्द्रगिरि की ओर चला और मार्ग मे रुक्मिरणी को भी उसने साथ ले लिया। सुदीर्घ काल तक सुखी जीवन व्यतीत करने के बाद आखेट के समय हाथी से गिरकर राजकुमार की मृत्यु हो गई। दोनो रानियो ने सतीधर्म का पालन किया।

भाषा—'मृगावती' की भाषा ठेठ अवधी है और दोहा-चौपाई की शैली मे रचित है। पाँच चौपाइयो के बाद एक दोहे का क्रम है। काव्य-सौन्दर्य नगण्य है। स्पष्ट है कि सूफी-सिद्धान्तो का प्रचार ही इस का उद्देश्य है। साधना-मार्ग के त्याग और कष्टो का निरूपरण करते हुए कवि ने स्थान-स्थान पर सूफी शैली मे रहस्यात्मक सकेत भी किये हैं।

(२) मझन

मझन के जीवन और जन्मकाल के सम्बन्ध मे अभी तक कुछ सुनिश्चित रूप से नही कहा जा सकता। इनकी रचना 'मधुमालती' की केवल खण्डित और अधूरी प्रतियाँ ही मिली हैं। इसके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि 'मधुमालती' का प्ररणयन शाह सलीम के राज्यकाल मे हुआ। सलीम शेरशाह का उत्तराधिकारी था और स० १६०२ मे

राज्यासन पर बैठा। निम्नलिखित पंक्तियाँ इन तथ्यो की ओर निर्देश करती है—

साह सलेम जगत बलिहारी, जेहि यह बरनै मंद न मारी।
सत हरिचद दान बलि केरा, धरम युधिष्ठिर कलि अवतेरा ॥

शेख बदी और शेख मुहम्मद आदि मुस्लिम महात्माओ को इन्होने पूज्य-भाव से स्मरण किया है—

शेख बदी जग सिद्ध पिआरा, ग्यान सुमन्द और दलयारा।

× × ×

शेख मुहम्मद पीरु अमारा, सात समंद नांव कठ हारा।

'मधुमालती' की रचना दोहा-चौपाई छन्दो मे हुई है। पाँच चौपाइयो के बाद एक दोहे का क्रम है।

काव्य सौन्दर्य—कवि ने दो कथाओ को एक-साथ गुम्फित किया है। ताराचद और प्रेमा को उपनायक और उपनायिका का स्थान दिया जा सकता है। मझन की दृष्टि मे जीवन और जगत् का सार प्रेम है '**इस सरब सार जग पेम**'। यह प्रेम व्यापक और अखण्ड है। दूसरे जन्म मे भी इसका आभास अविच्छिन्न रूप से मिलता है। सूफियो की दृष्टि मे समस्त सृष्टि-प्रेम के रहस्यमय सूत्र से अनुबद्ध है और सर्वत्र उसका प्रसार ही दृष्टिगोचर होता है—

यहै रूप परगट यहु रूपा, यहै रूप जेहि भाव अनूपा।
यहै रूप सभ नैनन्ह जोती, यहै रूप सभ सागर मोती।
यहै रूप सभ फूलन्ह वासा, यहै रूप रस भंवर तरासा।
यहै रूप ससिहै औ सूरा, यहै रूप जग पूरा पूरा।
यहै रूप अन्त आदि निदाना, यहै रूप सभ सिष्टि समाना ॥

यह रचना मझन के कोमल और सवेदनशील हृदय का निदर्शन है। इनकी रचना समसामयिक सूफी-प्रेमकाव्यो की भाँति दुःखान्त नही है। मझन ने भारतीय आदर्श का आदर करते हुए इसे सुखान्त बनाया है। इसकी कल्पना मे विशदता है और वर्णनो मे विस्तार के साथ-ही-साथ मार्मिकता

भी। प्रकृति के सुन्दर दृश्यो के मनोरम चित्रो से आध्यात्मिक प्रेम-भाव की व्यञ्जना सुचारु रूप से हुई है। विरह के करुण-चित्र कवि की प्रत्यक्षानुभूति पर आश्रित जान पडते हैं। मधुमालती वस्तुत एक सरस और भावात्मक कृति है।

(३) मुहम्मद जायसी

जीवन—मौलिक मुहम्मद जायसी के जन्म सवत् के विषय मे कोई सुनिश्चित मत अभी तक प्रस्तुत नही किया जा सका। उनकी कृति 'आखिरी कलाम' के इस पद—

'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी।'

से यह समझा जाता है कि उन्हे हिजरी ९०० (सवत् लगभग १४९२) मे नर-रूप मे अवतार मिला। परन्तु 'पद्मावत' की निम्नोक्त पक्तियाँ इस निष्कर्ष को सही समझने मे कठिनाई उपस्थित करती है—

सन नव सै सत्ताईस अहा
कथा-अरम्भ बैन कवि कहा।

इस कथन के अनुसार पद्मावत की रचना हिजरी ९२७ मे हुई अर्थात् जब जायसी की आयु २७ वर्ष की थी। पद्मावत के उत्कृष्ट काव्य-कौशल को देखते हुए उसे २७ वर्ष के चढते यौवन की रचना मानना आपत्तिजनक लगता है। जायसी-काव्य के गम्भीर अध्येताओ ने उक्त कथन मे 'नव सै सत्ताईस' के स्थान पर 'नव सै सैतालीस' पाठ को अधिक उपयुक्त समझा है। उनके इस विचार के अनुसार पद्मावत की रचना कवि की ४७ वर्ष की अवस्था मे हुई होगी, और यह युक्ति-युक्त भी है। अत जायसी का जन्म 'आखिरी कलाम' के अन्त साक्ष्य के आधार पर हिजरी ९०० अर्थात् स० १४९२ मे हुआ। इसका समर्थन पद्मावत के आरम्भ मे तत्कालीन बादशाह शेरशाह के प्रति की गई प्रशस्ति से भी हो जाता है, क्योकि शेरशाह का शासनकाल ९४७ हिजरी (स० १५३९) मे आरम्भ हुआ।

आप रायबरेली जिला के जायस नामक गॉव के निवासी थे। इनके

माता-पिता किसान थे जिनका देहान्त इनकी बाल्यावस्था मे ही हो गया था। इनका पालन-पोषरण नाना के घर हुआ। बचपन से ही भाग्य ने इन्हे अपने कोप का भाजन वना लिया। ७ वर्ष की अवस्था मे चेचक ने वाई आँख को वेकार कर दिया और इसके साथ ही बायाँ कान भीविकल हो गया। गृहस्थ-जीवन का सुख भी इन्हे न मिला। पत्नी का देहान्त हो गया और सात सन्ताने छत के नीचे दफन हो गई। ईश्वर की ओर रुचि वचपन से थी ही, इन विपत्तियो ने उसे और भी उद्दीप्त किया और समार से विरक्त होकर इन्होने प्रसिद्ध सूफी महात्मा शेख मोईउद्दीन से दीक्षा ले ली। अमेठी के राजा रामसिह के ये विशेष कृपा-भाजन थे। कहते है कि इनके आशीर्वाद से ही राजा को पुत्र-प्राप्ति हुई थी। यह भी कहते है कि अपनी मृत्यु के सम्वन्ध मे इन्होने पहले ही वता दिया था कि इनकी मृत्यु एक शिकारी के बारग से होगी। राजा राममिह ने अपने राज्य मे इसलिए शिकार का निपेध कर दिया परन्तु जो होना था होकर रहा। एक दिन एक शिकारी ने भ्रमवश इन्हे बाघ समझकर अपनी गोली का निशाना वना दिया।

रचनाएँ—इनके तीन ग्रन्थ अब तक प्रकाश मे आये हैं—आखिरी कलाम, पद्मावत और अखरावट। इनमे प्रथम और तृतीय सिद्धान्त-मूलक ग्रन्थ है। आखिरी कलाम मे मरणानन्तर जीव की अवस्था और प्रलयकालीन न्याय का वर्णन है और अखरावट मे वर्णमाला के एक-एक अक्षर से आरम्भ करके साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का उल्लेख है।

पद्मावत—जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार 'पद्मावत' नामक प्रबन्ध-काव्य है, जिसकी रचना दोहा-चौपाई मे की गई है। यह ग्रन्थ उनके कवि-कर्म का उत्तम निदर्शन है। इसके प्रेम-कथानक मे इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण है। कथा का पूवार्ध कल्पना की उपज है और उत्तरार्ध राजस्थान के इतिहास के एक उज्ज्वल परिच्छेद से लिया गया है।

फारसी की प्रेम-कथाओ (दास्तान-ए-इश्क) की मसनवी पद्धति पर

भारतीय आदर्शो का निरूपण करने मे कवि को बहुत सफलता मिली है। इस पद्धति मे कृति का विभाजन अध्यायो और सर्गो मे न होकर घटनाओ के शीर्षक पर आधारित होता है। कथा के आरम्भ मे एक प्रशस्ति-खण्ड होता है जिसमे ईश्वर की प्रार्थना, मुहम्मद और उनके चार मित्रो का अभिवादन और समसामयिक महीपति को प्रणामाञ्जलि अर्पित की जाती है। पद्मावत की कथा ५७ घटनात्मक खण्डो मे विभक्त है। इसके प्रारम्भ मे भी ईश्वर का विनम्रतापूर्वक स्मरण है, मुहम्मद और उनके सुहृच्चतुष्टय का सादर उल्लेख है, तथा शाहेवक्त अर्थात् तत्कालीन सुल्तान की गौरव-गाथा है। इसके उपरान्त आत्मकथात्मक सकेत है। यह सब उसी मसनवी ढङ्ग का अनुसरण है—

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोई विमोहा जेह कबि सुनी ।।
जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू ।।
हौ पण्डित केर पछलगा। किछु कहि चला तबल देई डगा ।।

प्रबन्ध सौष्ठव—

पद्मावत घटना-प्रधान महाकाव्य है। इसमे कथावस्तु की प्रधानता है, जिसका विकास आधिकारिक और प्रासङ्गिक कथाओ के योग से हुआ है। रत्नसेन और पद्मावती के कथा-प्रसग को आधिकारिक कथा कहते हुए अन्य कथाओ को प्रासङ्गिक कहा जा सकता है। इनमे से उल्लेखनीय घटनाएँ ये है—

(१) राघवचेतन का षड्यन्त्र,
(२) हीरामन तोते का प्रसङ्ग,
(३) समुद्र का रौद्र रूप (तूफान),
(४) देवपाल-दूती का प्रकरण,

जायसी ने इन सभी प्रसङ्गो को आधिकारिक कथा के साथ एक निपुण कलाकार की भाँति गूँथ दिया है। सत्य तो यह है कि पद्मावत के इस विशाल कलेवर मे किसी अनावश्यक प्रसङ्ग को स्थान नही मिला। उदाहरणार्थ, समुद्र से जो रत्न रतनसेन को मिले थे वे भी अला-

उद्दीन के साथ सन्धि करते समय राजस्व-रूप मे काम आये। यही प्रबन्ध-कौशल पात्रो के चित्रण मे भव्य एवं मनोवैज्ञानिक रूप मे प्रस्फुटित हुआ है। सयोग तथा वियोग शृगार रस के अतिरिक्त वीररस के चित्र भी सुन्दर बन पडे है। उदाहरणार्थ, गोरा बादल का उत्साह वीरोचित दर्प और आत्मसम्मान का प्रतिरूप है।

रूपक-महाकाव्य—पद्मावत का वस्तुविन्याम वस्तुत एक आध्यात्मिक रूपक के रूप मे गठित है। कवि का मुख्य उद्देश्य लौकिक आलम्बनो के माध्यम से अलौकिक जगत् की झलक दिखाना है, जहाँ एकमात्र प्रेम का ही साम्राज्य है। पद्मावत के उपसहार मे जायसी ने स्वय स्पष्ट किया है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ एक अप्रस्तुत योजना है। सभी पात्र एक रूपक मे सम्बद्ध हैं—

तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेहि पथ देखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ?
नागमती यह दुनियां धंधा, बाँचा सोइ न एहि चित बधा।
राघव दूत सोइ सैतानू, माया अलाउदी सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भांति विचारेहू, बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इसके अतिरिक्त दर्पण मे पद्मावनी की छाया को अलाउद्दीन द्वारा देखने का यह तात्पर्य भी लिया जा सकता है कि परमात्मा के दर्शन विश्व के मुकुर मे ही होते है। स्वय जायसी ने कहा है—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहि हंसी, तहँ तहँ छिटक ज्योति परगसी॥

इस दृष्टि से देखने पर यह सारा प्रवन्ध व्यङ्गय-गर्भित है, परन्तु फिर भी रूपक का निर्वाह पूर्णरूप से नही हो पाया। 'नागमती जैसी सती-साध्वी नारी को 'दुनिया-धधा' कहकर उसमे सावधान रहने की बात कही गई है, पर यह भी नितान्त अनुचित है। वस्तुत 'दुनिया-धधा' और 'माया' मे मूलत कोई अन्तर ही नही है। अत हमे इनके प्रतीक अलाउद्दीन और नागमती को एक ही स्तर पर रखना पडेगा जो निस्सन्देह अनुचित एव अमान्य है। फिर भी कुल मिलाकर अपने धार्मिक

और दार्शनिक सिद्धान्तो को—विशेषत 'प्रेम की पीर' की अभिव्यक्ति को सरस रूपक के रूप मे प्रस्तुत करने मे कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

पद्मावत मे यो तो प्रेम के दोनो पक्ष सयोग और वियोग का चित्रण कवि के काव्य-कौशल का द्योतक है। पर विप्रलम्भ पक्ष का निरूपण जिस अन्तर्दृष्टि, गम्भीरता और सरसता से चित्रित किया गया है, वह देखते ही बनता है। हिन्दी-साहित्य मे जायसी के इस विरहवर्णन ने अपने लिए एक अलग स्थान बना लिया है। 'नागमती का विरह' वस्तुत कवि की प्रतिभा का विलक्षण निदर्शन है। नागमती विरहाग्नि मे दग्ध-हृदय के साथ वन-वनान्तर की खाक छानती फिरती है। समस्त विश्व उसके आँसुओ से आर्द्र है, उसकी विरह-ज्वाला से भस्मीभूत हो रहा है। वन के पक्षियो से वह आतुर प्रार्थना करती है—

पिउ सौं कहेउ सदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहि क धुंवा हम लाग॥

विरहाग्नि ने उसकी कमनीय काया को अत्यन्त कृश और क्लान्त बना दिया है—

दहि कोइला भई कंत सनेहा, तोला मांसु रहि नहीं देहा।
रकत न रहा, विरह तन जरा, रती रती होई नैनन्ह ढरा॥

विरह-प्रसग मे जायसी ने 'बारहमासा' का वर्णन भी किया है, जिसमे प्राकृतिक परिवर्तनो के साथ विरही हृदय का सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। वियुक्त व्यक्ति को प्रकृति के सभी सुन्दर दृश्य विपरीत प्रभाव दिखाते है—

खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा, बुन्द बान बरसहिं घनघोरा।
कातिक सरद चद उजियारी, जग शीतल हौं विरहै जारी॥

नागमती के हृदय की चरम अभिलाषा यह है कि—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव॥

इस कथन मे कितना दैन्य और आत्मविसर्जन भरा हुआ है ! तभी तो कवि की लेखनी यह लिखने के लिए विवश हो गई है—

गिरि समुद ससि मेघ रवि, सहि न सर्कोह वह आगि ।
मुहमद सती सराहए, जरै जो अस पिय लागि ।।

दोष—पद्मावत हिन्दी-साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान् रत्न है । साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से यह हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यो मे उच्च स्थान का अधिकारी है, फिर भी यह रचना निर्दोष नही है—

(१) घटना-प्रधान रचना होने के कारण इसमे विवरणो की बहुलता स्वाभाविक है । परन्तु कई स्थलो पर इसके विवरण वर्णन की समुचित सीमा को लाघ गये है। उदाहरणार्थ, सिंहल द्वीप और तत्सम्बन्धी यात्रा का वर्णन, समुद्र, विवाह और युद्ध का वर्णन । बादशाह के भोज के वर्णन मे भोज्य पदार्थो की लम्बी सूची पाठक के धैर्य की परीक्षा करने वाली है । इसी प्रकार षट्ऋतु और बारहमासा के वर्णनो मे भी अवाञ्छित विस्तार से काम लिया गया है। इन्ही लम्बे वर्णनो के कारण प्रबन्ध-प्रवाह भी कुठित हो जाता है ।

(२) हिन्दू-कथाओ से कवि का परिचय अधूरा प्रतीत होता है ।

(३) फारसी-मुहावरो को हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नही बनाया जा सकता । उदाहरणार्थ, 'होय मुख रात सत्य के बाता मे फारसी-परम्परा के अनुरूप लाल मुँह को प्रफुल्लता का द्योतक वताया गया है जो कि हिन्दी-भाषा मे उचित नही जॅचता ।

(४) विप्रलम्भ-शृङ्गार के वर्णन बीभत्सपूर्ण हो गये हैं । यह भी फारसी-सस्कार का प्रभाव है । इस प्रकार के चित्रण से रति का पोषण होने के स्थान पर हृदय को आघात-सा लगता है—

रोवँ रोवँ वे बान जो फूटे, सूतहि सूत रुधिर मुख छूटे ।
नैनहि चली रकत कै धारा, कंथा भीजि भएउ रतनारा ।।

भाषा—पद्मावत की भाषा पूर्वी अवधी है । फारसी लिपि मे लिखी होने के कारण उसमे अवधी का ठेठ रूप अब तक भी सुरक्षित रह सका

है। हिन्दी के अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थो की भाति इसके शब्दो का अगभग अथवा शब्द-शोधन की इच्छा से उनमे अन्य किसी प्रकार का विशेष परिवर्तन नही हुआ। इस सुरक्षा का कारण यह है कि देशीय विद्वान् फारसी लिपि से प्राय अपरिचित थे और न ही फारसी लिपि के ग्रन्थो की ओर उनकी विशेष रुचि ही थी।

जायसी को सस्कृत भाषा का ज्ञान न था और दूसरे, उन्होने अपनी रचना द्वारा सूफी-सिद्धान्तो को लोकप्रिय बनाना था। अत पद्मावत की भाषा एक ओर सस्कृत भाषा की परम्परागत पाण्डित्य-प्रणाली से रहित है और दूसरी ओर फारसी-अरबी के साधारण प्रचलित शब्दो और मुहावरो से सयुक्त है।

जायसी का अलङ्कार-विधान पूर्ण स्वाभाविक है। वैसे तो सम्पूर्ण पद्मावत अन्योक्ति अथवा समासोक्ति के रूप मे आबद्ध है, परन्तु इसमे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अन्य अलङ्कारो का भी यथा-स्थान प्रयोग सुन्दर तथा मौलिक रूप से हुआ है।

महत्त्व—जायसी का मुख्य उद्देश्य सूफीमत के मूल सिद्धान्त 'प्रेम की पीर' का प्रतिपादन करना था, जिसका प्रतिफलन पद्मावत मे हुआ है। उनका यह ग्रन्थ इसी प्रेम की स्निग्ध आर्द्रता से परिप्लावित है। सूफी सिद्धान्त की बात छोड दे, तो भी उनके प्रेम-तत्त्व का व्यावहारिक रूप भी है। पद्मावत दो प्रमुख-विरोधी जातियो के तत्त्वो से निर्मित है—हिन्दू-कथा को मुसलिम शैली मे ढालने का सफल प्रयास है और इस प्रकार यह ग्रन्थ पारस्परिक वैमनस्य को दूर करके उन्हे एक-दूसरे के निकट लाने मे समर्थ हुआ है। स्वयं जायसी को दोनो जातियो की मूलगत एकता मे दृढ विश्वास था—

बिरिछ एक लागी दुइ डारा, एकहिं ते नाना परकारा।
मातु कै रकत पिता के बिन्दू, उपजे दुवै तुरुक औ हिन्दू॥

सन्तो की शुष्क साधना से जो सम्भव न हो सका, जायसी ने उसे प्रेम-प्रबन्ध द्वारा बडे सरस और मनोरम रूप मे निष्पन्न कर दिया। इनके

काव्य की अन्य महत्ता है—तत्कालीन ठेठ अवधि भाषा की सुरक्षा, और इसीके माध्यम से चमत्कारपूर्ण सरस काव्य की सृष्टि। इन विशेषताओ से पूर्ण ग्रन्थ का यह लेखक भक्तिकालीन कवियो मे अपना महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान रखता है।

(४) उसमान

जीवन—उसमान जहाँगीर के समकालीन थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था। ये गाजीपुर के रहने वाले थे और शाह निजामुद्दीन की शिष्य-परम्परा मे हाजी बाबा के शिष्य थे। सुविज्ञ पण्डित होते हुए भी अपने को 'अच्छर चारि' का पढा हुआ कहकर इन्होने अपनी निरभिमानता प्रकट की है। 'मान' इनका उपनाम था। निम्नलिखित पक्तियो मे इनका आत्मपरिचय निहित है—

आदि हुता विधि माथे लिखा, अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा।
देखत जगत चला सब जाई, एक बचन पै अमर रहाई।
बचन समान सुधा जग नाहीं, जेहि पाए कवि अमर रहाही।
मोहू चाऊ उठा पुनि हीरा, होऊ अमर यह अमरित पीरा।

रचना—इनकी कृति का नाम **'चित्रावली'** है। इसकी कथा कल्पित है। स्वय कवि ने कहा है—

कथा एक मैं हिए उपाई, कहत मीठ औ सुनत सुहाई।
कहौं बनाय जैस मोहि सूझा, जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा॥

इस ग्रन्थ पर जायसी के पद्मावत का बहुत प्रभाव पडा है। यदि इसे उसकी छाया भी कहा जाय, तो असगत न होगा। जायसी ने जिस प्रकार सात-सात अर्धालियो (चौपाइयो) के बाद एक दोहे का क्रम रखा है, उसमान ने भी 'चित्रावली' का गठन उसी प्रकार किया है और इसके वर्णनो मे भी पद्मावत का ही आभास लगता है। केवल इतना अन्तर है कि पद्मावत का कथानक मिश्र है और चित्रावली का कल्पना-प्रसूत है।

इस ग्रन्थ की कथा का साराश यह है—नैपाल के राजा धरनीधर पवार के पुत्र सुजान अनेक कष्टो और कठिनाइयो को झेलने के बाद

कवलावती और चित्रावली, दोनो राजपुत्रियो का पाणिग्रहण करने मे समर्थ हुए। सुजान की उद्देश्यपूर्ति मे जो भौतिक अथवा दैवी बाधाएँ आती हैं और जिन लौकिक अथवा अलौकिक शक्तियो की सहायता से राजकुमारी को अभीष्ट की प्राप्ति होती है, सबका विशद और सविस्तर वर्णन उसमान ने किया है।

यह कथा भी अन्य सूफी प्रेम-कथाओ की भाँति एक रूपक है जिसमे साधक के अध्यात्म-पथ की भयङ्कर बाधा-विपदाओ को पात्रो के रूप मे साकार करने की चेष्टा की गई है। सुजान को साधक और चित्रावली तथा कवलावती को विद्या और अविद्या के प्रतिरूप मे प्रस्तुत किया गया है। स्थान-स्थान पर वेदान्त और अद्वैतवाद के सकेत देने मे भी कवि नही चूकता। जलविहार के वर्णन मे प्रकारान्तर से 'ईश्वरोपलब्धि' की रहस्यमय साधना की ओर निर्देश किया गया है। चित्रावली गम्भीर जल मे तिरोहित हो जाती है और उसकी बहिन उसे खोजने मे असमर्थ रहती है। मनुष्य की ईश्वर के लिए खोज भी इस प्रकार सफल नही होती—

सरबर ढूंढ़ि सबै पचि रही, चित्रिनि खोज न पावा कहीं।
निकसी तीर भई बैरागी, धरे ध्यान सब बिनवैं लागीं।
गुपुत तोहिं पावहिं का जानी, परगट मॅह जो रहै छपानी।
चतुरानन पढ़ि चारौ बेदू, रहा खोजि पै पावै न भेदू।
हम अंधी जेहि आपुन सूझा, नेह तुम्हार कहाँ लौ बूझा।
कौन सो ठाऊँ जहाँ तुम नाहीं, हम चषु जोति न देखहि काहीं।।

और फिर हमे उपनिषदो के उस वचन की—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' की ध्वनि सुनाई पडती है—

पावै खोज तुम्हार सो, जेहि दिखलावहु पथ।
कहा होई जोगी भये, औ पुनि पढ़े गरथ।।

लोक-नीति विषयक उक्तियाँ भी इस ग्रन्थ मे जहाँ-तहाँ भरी पडी हैं—**मूसहि तसकर धर अंधियारे'**; **'जस जस देस करै तस भेसा'**, **'आगे चले सो पंवरि उघारे'** आदि लोकोक्तियाँ उसमान के व्यावहारिक ज्ञान की साक्षी है।

इस प्रकार सूफी-परम्परा को प्रत्येक रूप मे आगे बढाने मे उसमान ने भी बहुत बडा सहयोग प्रदान किया है।

(५) जान कवि

'जान कवि' कवि का उपनाम हे, वास्तविक नाम नही है। पुरोहित हरिनारायरण शर्मा ने इनका असली नाम अलिफखा बताया है, पर अगरचन्द नाहटा ने इसका खण्डन करके इसे 'अलिफखा का बेटा' कहते हुए इनका असली नाम न्यामतखा सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध मे उन्होने यह प्रमाण दिये है—

(क) **कायमखा दादा अलिफखां . . ..**
सोलह सै इक्कीस में जनमें दीवाण।
कीये ऊजले न्यामतखां चकवै चौहाण।
सवत हुआ तियासिया छड़इ दिया जहाण।

(ख) **कहत जान अब बरनिहै अलिफखान की बात।**
पिता जानि बढ़ि न कहौं भाखो सांची बात॥

—कायमरासो

(ग) जान कवि रचित बुद्धिसागर मे न्यामतखॉ का स्पष्ट उल्लेख है।

जान कवि की एक रचना 'उत्तररासो' मे अलिफखा के पॉच पुत्रो का नाम दिया गया है—दौलतखा, न्यामतखा, शरीफखा, जरीफखा, फकीरखा। इससे सिद्ध होता है कि न्यामतखा अलिफखा का पुत्र है और 'जान कवि' इसका उपनाम है।

न्यामतखा का जन्म कब हुआ—यह निश्चित नही हो सका। उपर्युक्त प्रथम पद्य मे अलिफखॉ का जन्म स० १६२१ तथा मृत्यु स० १६८३ मे हुई बताई गई है। अत. न्यामतखॉ का जन्म अनुमानत स० १६४० मे हुआ होगा। न्यामतखॉ ने अपने गुरु का नाम पीर शेख मुहम्मद बताया है, जो कि हाँसी (पजाब) के निवासी थे—

पीर सैख मुहम्मद है चिश्ती। बदन नूरि भाषत है फिस्ती।
रहन गाँव जानहु तिहि हांसी। देखत कहै चित्त की फांसी॥

न्यामतखाँ अपनी बहुसख्यक पुस्तको के लिए प्रसिद्ध है। इनमे से उनके प्रेमकथात्मक ग्रन्थ ये है—कथा-रतनावली, कथा-कनकावती, कथा-कँवलावती आदि। इनके कुछ साधारण प्रेम-काव्य भी है, जिनमे सूफी सिद्धान्तो की चर्चा नही है, यथा—कविमोहिनी, नलदमयन्ती, लैला-मजनू आदि। जान कवि का रचना-काल बडा विस्तृत है, यथा—रसकोष (स० १६६७), कथा-रूपमजरी (स० १६७१), कनकावती (स० १६७५), वियोगसागर (स० १६८०), बुद्धिसागर (स० १६९१), रतनावली (स० १६९१), सिगारतिलक (स० १७००) आदि। इससे वे अनुमानत दीर्घजीवी माने जा सकते है। कवि ने कई स्थानो पर अपने समय के शासको का भी स्मरण किया है, यथा—

साहिजहाँ साहिन को साह। जहाँगीर सुत जगत पनाह।
दीनदार कवभभौ भूभार। औरगजेब साहि मूछार।।

न्यामतखाँ की सामान्य भाषा ब्रज है, पर उस पर पजाबी की छाप स्पष्ट है। इसका कारण सम्भवत यह है कि न्यामतखाँ कुछ समय अपने गुरु के पास हाँसी मे रहा होगा।

न्यामतखाँ भावपक्ष का बडा धनी है। इनकी वर्णनशैली बडी अनूठी है, विशेषत वियोगप्रसग अत्यन्त हृदयग्राही है। इन्होने दोहा-चौपाई के अतिरिक्त कवित्त, सवैये आदि भी लिखे है।

न्यामतखाँ की कतिपय सुन्दर रचनाएँ देखिए —

घूँघट पट मेली नउढा अति निरझाई दुराइ।
बरिषा रित के चँद ज्यो झाँकि-झाँकि फिर जाइ।

नैन बान कवि जान कहि जिह उर लागत आइ।
सालि करेजे में रहे करक न कबहुँ जाइ।

नैनिन के रसना नहीं बरनत रूप सुभाइ।
रसना बिन देखी कहै ताते कही न जाइ।।

यहे पुरान मे लिष्यो जानु लेहु कवि जान।
सुष काजे दुख देषिए तो सुषु होई निदान ।।

चंद चाँदनी देखि कै संजोगिनी हुलास।
विरहिनी भाये जरि उठे धरनी और अकास ।।

कौन काज मनु पेमु बिन कहा दीप बिनु गेहु।
जैसे धरती मेह बिनु नेह बिना ज्यो देहु ।।

सन्तमत और सूफीमत की तुलना

किसी देश मे दो विभिन्न जातियो के एक साथ वस जाने पर उनका एक-दूसरे पर सास्कृतिक प्रभाव पडना नितान्त स्वाभाविक है। भारत मे भी मुसलिम फकीर और भारतीय सन्त बहुत शीघ्र एक-दूसरे के प्रभाव मे आ गये। भारत मे पहुँचकर मुसलिम फकीरो ने भारत से दार्शनिक सिद्धान्त ग्रहण किये। यद्यपि भारत से बाहर भारतीय दार्शनिकता को स्वीकार नही किया गया, यहाँ तक कि दर्शनवाद पर निष्ठा रखने वाले मुसलिम फकीरो को सूली पर चढा दिया गया, फिर भी भारत मे मुसलमान फकीरो ने इस दिशा मे पर्याप्त रुचि दिखाई। फकीरो के अतिरिक्त दारा शिकोह जैसे मुसलिम बादशाह ने उपनिषद्-ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार राजा से लेकर फकीरो तक—सब दरवेशो ने भारतीय दर्शन पर आस्था प्रकट की। इधर भारतीय सन्तो ने भी इस्लाम से कुछ ग्रहण किया। निस्सन्देह निर्गुण उपासना के लिए तो भारतीय सन्त मुसलिम सूफियो के ऋणी नही है, पर वे कुछेक सामाजिक सुधारो के लिए अवश्य ऋणी है। निर्गुणोपासना-पद्धति भारत मे कोई नवीन नही है। पर फकीरो के ससर्ग से यह पद्धति सन्तो तथा उनके अनुयायियो मे यथेष्ट प्रचार अवश्य पा गई। हाँ जातिपाति-विच्छेद, सामाजिक समता, सह-भोज आदि सामाजिक विशेषताएँ इस्लाम से चलकर सन्तो तक पहुँची। उपासक-पद्धति में विशिष्ट प्रकार के गुरुवाद के लिए भी सन्त जन मुसलिम

फकीरो से प्रभावित हैं। यदि इस सास्कृतिक आदान-प्रदान को एक वाक्य मे कहना चाहे तो कह सकते हैं कि—

(क) सन्तमत इस्लाम का विशुद्ध भारतीय सस्करण है।

(ख) सूफीमत भारतीय औपनिषद् ज्ञान का विशुद्ध इस्लामी अनुवाद है।

सन्तमत और सूफीमत मे कुछ बाते समान है, और कुछ विषम।

समानताएँ—

१—दोनो मतो मे गुरुवाद की स्वीकृति की गई है। गुरु के बिना ईश्वर तक पहुँच सकना असम्भव है। सन्तो मे यह गुरुवाद सूफियो के 'खलाफत' का भारतीयकरण है, क्योकि भारतीय सस्कृति मे गुरु अथवा आचार्य का अस्तित्व केवल ज्ञानदाता अथवा विद्याप्रदाता के रूप मे स्वीकृत है, सूफीमत के समान वह मुक्ति-प्राप्ति का साधन नही है।

२—प्रेम आत्मा-परमात्मा का मध्यवर्ती मिलन-सूत्र है—ऐसा दोनों मत मानते हैं। फिर भी सूफीमत मे प्रेम-तत्त्व मुख्यरूप मे स्वीकृत है और सन्तमत मे गौण रूप से।

३—दोनो मतो को ईश्वर का निराकार रूप एक-सा स्वीकार्य है।

४—साधना दोनो मतो का अवलम्बन है। सन्तमत मे इसे 'हठयोग' के रूप मे अपनाया गया है, और सूफी-मत मे 'शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफित' के रूप मे।

विषमताएँ—

१—सन्तमत धर्मनिरपेक्ष उपासना करता है, इनका परमात्मा ईश्वर है, अल्लाह है, अकालपुरुष है, आदि। परन्तु सूफीमत उपासना के द्वारा इस्लाम का प्रचार भी साथ-साथ चाहता है। इन्हे मिश्नरी ढग का साधक कह सकते हैं।

२—सन्त कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर केवल ज्ञान का अवलम्बन चाहते हैं, पर सूफी कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनो मे रुचि रखते हैं।

३—सन्तो ने भाषाभिव्यक्ति के लिए स्फुट पद, राग-रागनियो तथा

दोहो को चुना है, सूफियों ने मसनवी ढग से गा-गाकर प्रबन्ध काव्य रचे है।

४—सन्त साधक हैं, केवल साधक, सूफी साधक भी हैं, और महाकवि भी।

३. कृष्ण-काव्य

पीछे लिख आये हैं कि श्री वल्लभाचार्य ने उत्तर भारत मे कृष्ण-भक्ति की लहर चलाई। उन्ही की शिष्या-परम्परा मे हिन्दी कृष्ण-काव्य का उद्भाव हुआ। इस काव्य का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

रचना एवं भाषा-शैली—कृष्ण-काव्य के रचयिताओ मे अष्टछाप के सूरदास आदि भक्त-कवियो के अतिरिक्त मीरा और रसखान का नाम उल्लेखनीय है। कृष्णकाव्य प्राय मुक्तक रूप मे ही लिखा गया है। इस काव्य का प्रतिनिधि विशाल ग्रन्थ सूरदास-प्रणीत 'सूरसागर' मुक्तक रचना ही है। कृष्ण-काव्य मे रासपचाध्यायी, भ्रमरगीत आदि प्रसग अवश्य प्रबन्धात्मक नजर आते है, पर वे आनुषगिक रूप मे—अनायास ही—प्रबन्धवत् बन पडे है, इन्हे मूलत प्रबन्ध-रूप मे प्रस्तुत नही किया गया। इस मुक्तक रचना को दो रूपो मे विभक्त कर सकते है—गेयपदो के रूप मे और कवित्त-सवैयो के रूप मे। रसखान ने अधिकाशत द्वितीय रूप को अपनाया है और शेष कवियो ने अधिकाशत प्रथम रूप को। कृष्ण-काव्य ब्रजभाषा मे रचित है। भावुक कृष्ण-भक्तो के हाथो यह भाषा अत्यन्त मधुर, स्वाभाविक, ठेठ, साहित्यिक और सगीत-सक्षम बन गई है। ब्रजभाषा का ऐसा अनुपम प्रयोग भक्तिकाल को छोडकर अन्यत्र दुर्लभ है।

उपासना—वल्लभाचार्य ने बाल-कृष्ण की उपासना-पद्धति की स्थापना की। उनके अनुसार बाल-कृष्ण की उपासना या सेवा दो रूपो मे की जा सकती है—सखा या सखी बनकर अथवा माता बनकर। सखी का प्रतीक राधा है और माता का प्रतीक यशोदा। उनके मतानुसार कोई भी साधक—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बाल हो या वृद्ध, राजा हो या रक—

यदि अपने ऊपर सखी राधा का अथवा माता यशोदा का आरोपण करके बालक कृष्ण को सर्वात्मना आत्म-समर्पण कर देता है, तो वह मोक्ष का अधिकारी है। इस प्रकार के आत्मसमर्पण की भावना उसी के हृदय मे जागृत होती अथवा हो सकती है, जिसपर स्वय साक्षात् भगवान् कृष्ण की कृपा हो जाती है। कृपा का पारिभाषिक पर्याय है—अनुग्रह तथा पुष्टि। अत वल्लभाचार्य के अनुयायी पुष्टिमार्गीय कहलाते हैं। पुष्टिमार्ग मे आत्मसमर्पण की भावना अति मधुर एव सरस है।

भक्ति—कृष्ण-काव्य मे वर्णित भक्ति माधुर्य-भाव से ओत-प्रोत है। इसके कई कारण है। एक यह कि कृष्ण-भक्तो ने ज्ञान और कर्म का उल्लघन करके एकमात्र 'प्रेम' का अवलम्बन लिया है। दूसरा—बाल-चरित्र यो भी अत्यन्त मनोमोहक होता है और यहाँ तो कृष्ण की मधुर एवं सलोनी मूर्ति विशेष आकर्षक है, तथा उसकी बाल-लीलाएँ अत्यन्त मनोमोहक हैं। तीसरा—इस माधुर्य भाव का कारण इन कृष्ण-भक्तो की व्यक्तिगत गहन अनुभूति भी है। वे रामभक्तो के समान अपने इष्टदेव के लोकरञ्जक एव लोकमर्यादा-पालक रूप पर आसक्त न होकर इनके मनोमुग्धकारी बाह्य रूप पर ही अधिक आसक्त है। यही कारण है कि इन कवियो द्वारा वात्सल्य रस का निर्वाह अत्यन्त प्रभावपूर्ण, सजीव, सशक्त तथा मनोवैज्ञानिक बन गया है। इसकी तुलना मे ससार की सम्भवत किसी भी भाषा का काव्य इस रस को इतने सुन्दर रूप मे प्रस्तुत नही कर सका।

प्रेम—कृष्ण-भक्तो से पूर्व नाथ, सिद्ध, सत और सूफी साधक प्रेम की अभिव्यजना करते चले आ रहे थे। कृष्ण-भक्तो ने भी 'प्रेम' को अपनाकर अपने सिद्धान्तो मे उसे प्रमुख स्थान दिया है। गोपिकाएँ इस प्रेम की प्रतीक मानी जाती है। इन्होने 'सयोग' और 'वियोग' दोनों कोटियो के प्रेम-सम्बन्ध का निर्वाह बडी निपुणता के साथ किया है। रासलीला, दानलीला, मानलीला, वनविहार आदि मे सयोग-पक्षीय प्रेम का मार्मिक चित्रण है, तथा भ्रमरगीत विरह-पक्षीय प्रेम का मार्मिक प्रसग।

विरह-प्रसग (भ्रमरगीत)—कृष्ण-काव्य मे विरह-प्रसग का सूचक 'भ्रमरगीत' एक असाधारण प्रसग है। प्राय प्रत्येक कृष्ण-भक्त कवि ने इस प्रसग पर रचना की है। इस प्रसग के असाधारण होने के कई कारण हैं। एक—इसमे 'ज्ञान' और 'प्रेम' की सीधी टक्कर है। तर्क, प्रमाण युक्ति आदि से प्रेमपक्ष द्वारा ज्ञानपक्ष का खण्डन अत्यन्त रमणीय बन पडा है। दूसरा—इसमे हास्य-रस और करुण-रस का अद्भुत मिश्रण है। प्रेम-पात्र कृष्ण और आदर-पात्र उद्धव पर व्यग्यपूर्ण चोटो के साथ इस प्रकार की निर्व्याज हृदय की अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। तीसरा—कृष्ण-भक्त कवियो ने जिस बालप्रेम का निरूपण अनेक लीलाओ मे वर्णित किया है, यह प्रसग उस प्रेमलीला की चरम परिणति है। चौथा—इसमे पुरुष और स्त्री की, यो कहिए, मस्तिष्क और हृदय का तर्कपूर्ण विवाद वर्णित है।

अब कतिपय वरिष्ठ कृष्ण-कवियो का परिचय लीजिए—

अष्टछाप

स० १६०२ मे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता श्री वल्लभाचार्य जी के चार शिष्यो और अपने चार शिष्यो के मेल से अष्टछाप की स्थापना की और सूरदास को उसमे प्रमुख स्थान दिया। इस अष्टक के नाम निम्नलिखित हैं—

महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य—(१) कुम्भनदास, (२) सूरदास, (३) परमानन्ददास, (४) कृष्णदास,

गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य—(१) गोविन्द स्वामी, (२) नन्ददास, (३) छीतस्वामी, (४) चतुर्भुजदास।

ये आठो महानुभाव 'पुष्टि-सम्प्रदाय' के एकनिष्ठ सेवक, महाभक्त, विश्रुत कवि और सगीत-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। ये भक्तजन श्रीनाथजी के कीर्तन के अवसर पर स्वनिर्मित पदो को अति मधुर स्वर मे गाते भी थे। इन कवियो का सक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत है। इनमे से

प्रमुख कवि सूरदास है, अत. सर्वप्रथम उनका परिचय दिया जा रहा है ।

(१) सूरदास

जीवन—सूरदास का जन्म दिल्ली के पास ४ कोस के अन्तर पर सीही ग्राम मे स० १५३५ की वैशाख शुक्ला ५ मङ्गलवार को हुआ । मिश्र-बन्धुओ और आचार्य शुक्ल आदि कई विद्वानो ने उनका जन्म सवत् १५४० अनुमानित किया है परन्तु अधोलिखित प्रमाणो से सूर का जन्म सवत् १५३५ ही सिद्ध होता है—

१. श्री वल्लभाचार्य की जन्मतिथि स० १५३५ की वैशाख कृष्णा १० उपरात ११ रविवार मानी गई है । पुष्टिमार्ग की परम्परा मे सूरदास को आचार्य जी से १० दिन छोटा माना गया है और यह परम्परा अव्याहत रूप से इस बात का समर्थन करती आ रही है । गोसाई श्री गोकुलनाथ ने 'निज वार्ता' मे लिखा है—"**सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभु कौ प्रागट्य भयौ है, तब इनकौ जन्म भयौ है । सो श्री आचार्य जी सौ ये दिन दस छोटे हुते ।**"

२ 'सूरसारावली' का रचनाकाल स० १६०२ है—इस समय कवि की आयु ६७ वर्ष की थी—

'गुरु परसाद होत यह दर्शन सरसठ बरस प्रवीन' ।

इस दृष्टि से भी स० १५३५ ही सूर का जन्म सवत् निश्चित होता है ।

सूरदास के जीवन का प्रामाणिक वृत्त उपलब्ध नही है । 'साहित्य-लहरी' मे दिया हुआ उनका वशवृक्ष पूर्णतया अविश्वसनीय सिद्ध किया जा चुका है । इमके अनुसार सूर का सम्बन्ध वीरगाथाकाल के प्रसिद्ध कवि चन्द की कुल-परम्परा से माना जाता था । परन्तु अब यह मत भी निर्भ्रान्त नही रहा । नई-नई खोजो ने भी इस विषय पर अधिक प्रकाश नही डाला । श्री हरिराय के 'भाव-प्रकाश' के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि सूरदास का पिता एक दीन दरिद्र ब्राह्मण था । सूरदास जी उसके चार पुत्रो मे सबसे छोटे थे । छ वर्ष की आयु मे ये अपने माता-पिता से अलग होकर सीही से कुछ दूर एक सरोवर के तट पर रहने लगे ।

कुछ वर्ष यहाँ रहते-रहते उन्हे ससार मे विरक्ति हो गई और ये मथुरा होते हुए व्रज मे गऊघाट पर आकर रहने लगे। ३१ वर्ष की अवस्था मे वल्लभाचार्य जी से इनका साक्षात्कार हुआ और पुष्टिमार्ग मे दीक्षित हो कर ये उनके साथ गोवर्धन को चले गये। गोवर्धन के पास पारसौली गाँव भगवान् कृष्ण की लीला-स्थली होने के कारण इन्हे विशेष प्रिय था और यही स० १६४० मे इनका देहान्त हुआ। इनकी निधन-तिथि के विषय मे भी मनीषियो मे एक मत नही है। परन्तु इतना सभी मानते है कि सूरदास सवत् १६२८ तक विद्यमान थे और गो० विट्ठलनाथ जी (मृत्यु स० १६४२) इनकी मृत्यु के समय इनके पास थे।

रचनाएँ—सूरदास जी की पाँच कृतियाँ मानी जाती हैं—सूरसागर, साहित्य-लहरी, सूरसारावली, नल-दमयन्ती और व्याहलो। इनमे अन्तिम दो रचनाएँ उपलभ्य नही हैं।

(क) **सूरसारावली**—तीसरी रचना 'सूरसारावली' की प्रामाणिकता पर आपत्ति करते हुए डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने इसी ग्रन्थ की एक तुक को प्रस्तुत किया है, जिसमे ये शब्द आये है—

एक लक्ष पदबंद,
ताको सार 'सूरसारावली' गावत अति आनंद।

अर्थात् यह कृति 'सूरसागर' के एक लाख पदो का सार-सम्पुट है। इस सम्बन्ध मे डॉ० वर्मा का कथन है कि सूरसागर के एक लाख पद ही नही हैं, अत यह रचना उसका सार नही हो सकती। श्री प्रभुदयाल मीतल ने डॉ० वर्मा के इस निष्कर्ष को भ्रान्त बताते हुए लिखा है कि वस्तुत. 'सूरसारावली' सवा लाख पदो का सूचीपत्र नही है जैसा कि कई विद्वान् मानते हैं। यह एक स्वतन्त्र रचना है और प्रामाणिक रूप से सूरदास की कृति है। कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण से 'सूरसारावली' का सूक्ष्म अध्ययन इस तथ्य का समर्थन करता है। रचना मे आये हुए 'ताको सार' का अर्थ 'सूचीपत्रात्मक सार' नही है, बल्कि इसका अर्थ है 'सैद्धान्तिक तत्त्व'। श्री मीतल जी ने लिखा है—"सूरदास ने जिन

कथात्मक और सवादात्मक हरिलीलाओ का वर्णन स०१६०१ तक किया था, उन्ही के सैद्धान्तिक तत्त्व-रूप से उन्होने 'सारावली' की रचना की है, जैसे परम्परा नन्ददास जी ने 'रासपञ्चाध्यायी' के कथात्मक वर्णन के अनन्तर उसी के सैद्धान्तिक सार रूप से 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' की रचना की है।" निस्सन्देह इस तर्क का प्रतिवाद नही किया जा सकता। 'सूरसारावली' की प्रामाणिकता एक मानी हुई बात है। "कवि ने श्री वल्लभ गुरु से तत्त्व-श्रवण कर जिस लीला का रहस्य समझा, उसे उन्होने 'एक 'लक्ष'-स्वरूप श्रीकृष्ण की पदवन्दना करते हुए गाया"। इस ग्रन्थ मे उन्ही का सैद्धान्तिक सार निहित है। कवि के अपने शब्दो मे यह सकेत स्पष्ट है—

करम योग पुनि ग्यान उपासन, सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ॥
ता दिन ते हरिलीला गाई, एक लक्ष पद वंद।
ता कौ सार 'सूरसारावलि', गावत अति आनंद॥

(ख) **साहित्य-लहरी**—यह सूरदास की एक कूट-प्रधान रचना है। इसमे कुल ११८ दृष्टिकूट-पदो का सकलन हुआ है। राधा-कृष्ण के नख-शिख के सौन्दर्य और नायिका-भेद की पद्धति पर कृष्ण की रग-रास-लीला का रमणीय रूप यमक और श्लेष अलङ्कारो मे प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ मे सूर का साहित्यिक पाण्डित्य अपने विदग्ध रूप मे यहा प्रकट हुआ है। राधा के रूप की रम्य रेखाओ का एक प्रसिद्ध कूटमूलक रूपक देखिए—

अदभुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, ता पर सिह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग॥

इस प्रकार समस्त रचना 'नवल किशोर' और 'नवल नागरिया' के रसमय रमण का वर्णन पारिभाषिक गूढोक्तियो मे प्रस्तुत करती है।

(ग) **सूरसागर**—सूरदास को हिन्दी-साहित्य का 'सूर' रूप से ख्याति

प्रदान करने वाली उनकी कृति है 'सूरसागर'। कवि की यह सर्वश्रेष्ठ कृति हिन्दी-कामिनी का कोमल कमनीय कण्ठहार है। इसमे सूरदास ने अपने उपास्यदेव की लीलाओ का अत्यन्त सरस और मर्मस्पर्शी गेय पदो मे मधुर गान किया है। इसमे बारह स्कन्ध है। इसकी कथा श्रीमद्भागवत पर आधारित है। परन्तु सूर ने इस ग्रन्थ से कथा का केवल आश्रय मात्र ही लिया है। रूप-विधान तथा रग-रेखाएँ इनकी अपनी है। इसे सगुण सिद्धान्त पर ढाल कर इसे प्राणवान् भी इन्होने किया है। किसी भी दशा मे इसे श्रीमद्भागवत का अनुवाद अथवा रूपान्तर-मात्र नही कहा जा सकता। कथा के क्रम-विन्यास की रक्षा करते हुए, कवि ने बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग रूप से इसकी जो रूप-सज्जा की है वह उसकी अपूर्व मौलिकता का अनूठा प्रमाण है। इस ग्रन्थ का दशम स्कन्ध सारी रचना का शृङ्गार है। कवि ने इसी स्कन्ध मे ही अपने हृदय-सम्राट् कृष्ण की मुग्धकारी क्रीडा-केलियो का अत्यन्त मनोयोग से चित्रण किया है। इस स्कन्ध मे ३६३२ पद है जो दूसरे स्कन्धो के पदो के पूर्ण योग से भी कही बढकर है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'भागवत' और 'सूरसागर' की विषय की दृष्टि से तुलना करते हुए लिखा है कि भागवत के ३३५ अध्यायो मे केवल ९० ही कृष्णावतार से सम्बद्ध है, परन्तु 'सूरसागर' के ४०३२ पदो मे ३६३२ पद पूर्णतया कृष्ण-लीला की गीतियाँ है। स्पष्ट है कि 'सूरसागर' मे कवि का प्रमुख उद्देश्य भगवान् की लीला अथवा बाल-क्रीडाओ को ही चित्रित करना है और इस लीला मे भी उन्होने प्रधानता कृष्ण की ब्रजलीला को दी है। भगवान् का बाल्य और यौवन ब्रज मे ही अकुरित, विकसित और पल्लवित हुआ। ब्रज मे ही उसके बाल्य-सारल्य और तरुण-चापल्य के वे चारु-चटुल, मञ्जुल-मृदुल और रग-रस-बहुल मधुमय क्षण व्यतीत हुए। जिन्होने सूर की प्रतिभा को प्रवण, कल्पना को कुशल और कवि-कर्म को कोमल एव कमनीय बनाया।

'सूरसागर' की पदसख्या के विषय मे दो मत प्रचलित है। एक मत के अनुसार पदो की कुल सख्या एक लाख है और दूसरे मत के

अनुसार सवा लाख। परन्तु ये केवल जनश्रुतियाँ हैं और प्रामाणिक अनुशीलन से निराधार ठहरती है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे गो० गोकुलनाथ जी ने लिखा है—**'और सूरदास ने सहस्रावधि पद कीये हैं, ताको सागर कहियें सो सब जगत मे प्रसिद्ध भये।'** इस कथन का 'सहस्रावधि' पद ही उपर्युक्त जनश्रुतियो का प्रतिवाद कर रहा है। अब तक 'सूरसागर' की जितनी प्रतियाँ प्राप्त हुई है किसी मे भी पदो की सख्या दस हज़ार से अधिक नही है। यह ग्रन्थ एक सकलन है। भिन्न-भिन्न राग और रागिनियो मे नटवर प्रभु की मनोरम लीला की गीतिमय झाँकियाँ प्रज्ञाचक्षु कवि ने प्रस्तुत की हैं। इसे एक बृहद् गीति-काव्य कहना अधिक उपयुक्त है।

काव्य-सौष्ठव—सूर ने अपनी कृतियो मे रसराज शृङ्गार के भव्य और मनोमुग्धकर चित्र प्रस्तुत किये है। उनके 'सूरसागर' मे कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला का दिव्य उल्लासमय रूप नव-नवोन्मेषो मे देखने को मिलता है। बाललीला के प्रसङ्ग मे कवि ने नन्द और यशोदा के प्रेम-विभोर हृदय को मूर्त करने का प्रयास किया है। वात्सल्य भाव का ऐसा सरस चित्रण अन्यत्र बहुत कम मिलता है। कृष्ण की बाल-सुलभ चपलता को देख-देखकर माँ यशोदा बलि-बलि जाती है। समस्त ससार का निरीह सौन्दर्य मानो शिशु कृष्ण की बालक्रीडा मे समाहित हो गया है। श्याम की तोतली बाते, उसकी विकासोन्मुख मुकुल सी छोटी-छोटी दँतियाँ, और कमल-सा आनन—यशोदा इस छवि पर अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है। सूरदास बाल-प्रकृति के एक चतुर चितेरे थे। अबोध बालक की निश्छल प्रमोद-क्रीडा और कल किलकारियाँ निम्नोक्त पद मे कितने कलित भाव से कूजित हो रही है—

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक तनक चरननि सो नाचत, मनहिं मनहिं रिझावत।
बाँह ऊँचाई कजरी धौरी गैयनि टेर बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर में आवत।

माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में, लौनी लिये खवावत॥

बालक की यह सरल नैसर्गिक छवि माँ के हृदय को हर्ष-विभोर कर दे तो क्या आश्चर्य है। यशोदा का मानस प्रफुल्लता के अतिरेक से उर्मिल हो उठता है और कहीं मोदमग्न शिशु के स्वर्गिक उल्लास मे बाधा न पडे, वह छुपकर समस्त दृश्य को मानो तृषातुर आँखो से पीती रहती है—

दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरखि अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बालचरित ये नित देखत ही भावत॥

सूर ने वात्सल्य के वियोग-पक्ष का अङ्कन भी अत्यन्त ललित रूप मे किया है। कजरी के गोरस और हृदय के सुधारस से पोपित ऐसे पुत्र का वियोग भी अतिशय दु:खद होता है। कंस के बुलाने पर कृष्ण के मथुरा जाने पर माँ यशोदा का मन असह्य यातना से मथित हो जाता है। उसका प्रेमकातर हृदय अनेक प्रकार की आशङ्काओ से आकुल है। एक पथिक को देखकर अपने आतुर हृदय की मर्मव्यथा को माता यशोदा कितने विह्वल छन्दो मे अभिव्यक्त करती है, देखिए—

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि, मेरे मोहन के मुख जोग।
प्रातकाल उठि माखन रोटी, को बिनु माँगे दै हैं।
अब उहि मेरे कुँवर कान्ह को, छिन छिन अंकम लै हैं।
कहियो पथिक! जाइ घर आवहु, रामकृष्ण दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी, जिन के मो सी मैया॥

सुत-स्नेह और शिशु-केलि के सीमित क्षेत्र मे भी सूर ने अपनी उर्वर प्रतिभा से जिन नव-नवीन प्रसङ्गो की उद्भावना की है वे उनके कल्पना-कौशल के सवाक् साक्षी है। बालक ने मिट्टी खाई है। माँ की कृत्रिम रोष से भरी मुद्रा कितनी मार्मिक बन पडी है। एक हाथ मे कान्ह को थामे और दूसरे हाथ मे दण्ड को उठाये हुए यशोदा का चित्र देखिए—

इक कर सो भुज गहि गाढे करि इक कर लीनें सांटी।
मारति हौ तोहि अबहि कन्हैया बेगिन उगलौ माटी।।

वात्सल्य का चित्रण सूर-काव्य मे अपनी पराकाष्ठा को पहुचा है। आलोचको ने सूर को वत्सल रस का अवतार कहा है। वस्तुत सूर के इन चित्रो मे एक अपूर्व स्वाभाविकता, बाल-मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता के दर्शन होते हैं। इस क्षेत्र मे सूर अद्वितीय हैं। यहाँ तक कि विश्व-साहित्य मे इस विषय मे उनका प्रतियोगी मिलना दुर्लभ है।

सूर के कृष्ण की.यौवनलीला के चित्र भी अनूठे बन पडे है। यहाँ भी शृंगार के दोनो पक्षो–सयोग और विप्रयोग–का अङ्कन सूर की लेखनी का एक चमत्कृत रूप प्रस्तुत करता है। कृष्ण का सारा गोकुल-जीवन प्रेम के सयोग पक्ष का निदर्शन है। इस पक्ष के बडे भव्य चित्र, दानलीला, माखनलीला, चीरहरणलीला और रासलीला आदि रमणीय प्रसङ्गो मे अङ्कित हुए है। राधा और कृष्ण का प्रेम प्रस्फुटित और पल्लविन होकर स्वत ही विविध वक्र क्रीडाओ मे प्रकट होने लगता है। गोदोहन के समय प्रेम का कल कौतुक देखिए—

धेनु दुहत रति अति हि बाढी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढी
मोहन करतै धार चलति पय, मोहनी मुख अति हि छवि बाढ़ि।

दूध दोहते हुए नागर प्रेमी अपनी वल्लभा को दूध पिलाने का कैसा निपुण नाट्य करता है, रसिक पाठक इसका आनन्द लेते हुए नही अघाता।

सूर के सयोग-चित्र छिछली भौतिक वासना से दूषित नही हुए। उनका उद्देश्य भौतिक आनन्द का आस्वादन कराना कभी नही रहा। उनके लौकिक प्रेम मे भी आध्यात्मिकता की एक अन्तर्धारा बह रही है जो उनके उत्कृष्ट और पावन व्यक्तित्व की परिचायक है।

शृंगार का विप्रलम्भ पक्ष भी सूरकाव्य मे अपने पूर्ण विस्तार के साथ प्रकट हुआ है। वियोग की समस्त अन्तर्दशाओ की व्यञ्जना सूर ने की

है। कृष्ण की अनुपस्थिति मे दिन-रात अथवा साय-प्रभात के सभी दैनिक और स्वाभाविक व्यापार वदल गये है—

मदन गोपाल बिना या तन की सभी बात बदलीं।

सयोग के दिनो मे उल्लसित करने वाले प्राकृतिक दृश्यो मे न जाने यह कठोरता कहाँ से आ गई है। वृन्दावन के उर्वर, श्यामल वन और शाद्वल कुंज अब विरहिणी व्रजाङ्गनाओ को परितृप्त नही करते। अब तो इनकी ललित हरीतिमा गोपियो के हृदय को दग्ध करती है। कितने करुण शब्दो मे वे मधुवन को उपालम्भ देती है—

मधुवन तुम कत रहत हरे
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यो न जरे।

सूर का विरह-वर्णन 'भ्रमरगीत' मे अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ है। भ्रमरगीत' को हम 'सूरसागर' का एक उज्ज्वल रत्न कह सकते है। कवि ने इस प्रसङ्ग से दो कार्य सिद्ध किये है। गोपियो की विरह-जर्जर दशा का अङ्कन तो इसमे उत्कट रूप मे सम्पन्न हुआ ही है, साथ ही सूर ने इसमे एक सामयिक माँग की पूर्ति भी की है। सूर और तुलसी के युग मे सन्तो की निर्गुण-साधना जन-मन को शुष्क और नीरस करके जनसाधारण के हृदय मे एक प्रकार की विरक्ति का बीज बो रही थी—वह विरक्ति जो मनुष्य को जीवन के सक्रिय सौन्दर्य से विमुख करके उसे अन्त साधक बनाकर अन्तत जीवन और उसके सघर्षमय सौन्दर्य से पराङ्मुख कर देती है। निर्गुण की यह अन्त साधना जनता को भक्ति के प्रकृत मार्ग अथवा हृदय की रागात्मिका वृत्ति से कैसे परे हटा रही थी, इस बात को तुलसी और सूर दोनो ने लक्षित किया। जहाँ तुलसी ने स्पष्ट शब्दो मे इसकी भर्त्सना की—

(क) **गोरख जगायो जोग, भक्ति भगायो लोग**
(ख) **'तुलसी' अलख हि का लखै रामनाम जपु नीच**

वहाँ सूरदास ने अपने भ्रमरगीत मे प्रेम की हार्दिक भावना के उत्कट आवेगमय प्रवाह मे जन-मन के इस विकार को वहा देने की चेष्टा की

और उनका यह प्रयास सफल सिद्ध हुआ।

भ्रमरगीत का प्रसङ्ग इस प्रकार है—कृष्ण ने विरह-दग्ध गोपियो को उद्धव द्वारा योगसाधना करने की प्रेरणा की। उद्धव यह सन्देश लेकर गोपियो के पास आये। परन्तु गोपियो ने इस सन्देश पर मर्माहत होकर एक अलि के रूपक मे ऊधो का जो तिरस्कार-तर्जन किया वह सूर की प्रतिभा का प्रचुर प्रमाण है—

अविगत गति कछु कहत न आवे।
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन, निरालम्ब मन आवे।।

इन शब्दो मे निर्गुण का प्रतिवाद करके स्पष्ट शब्दो मे गोपियो ने कह दिया—

ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सग को अवराधै ईस।

× × ×

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसहु निकसत नही ऊधो, तिरछे ह्वै जो अड़े।।

अन्त मे अनन्त के विराट् सौन्दर्य और मधुर सगीत को सकेत करते हुए गोपियो ने सगुण भक्ति की विजय-दुन्दुभि बजा दी—

ऊधो कोकिल कूजत कानन।
तुम हम को उपदेस करत हो, भस्म रमावत आनन।

इसलिए ऊधो—

बार बार ये बचन निबारो।
भक्ति-विरोधी ज्ञान तिहारो।

और परिणामतः गोपियो की प्रेम-पराकाष्ठा से प्रभावित होकर उद्धव उनकी स्तुति करते हुए वापस चले गये।

भाषा—सूर-काव्य की भाषा ब्रजभाषा है। यह सूर के समय की प्रचलित भाषा थी जिसे उन्होने काव्य-भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करके साहित्यिक और लोकव्यवहार की भाषा मे समन्वय स्थापित किया। सूर ने

अपनी प्रतिभा से इसे सुसस्कृत और समृद्ध किया। इसे कोमल-कान्त पदावली मे भूषित किया। सूर साहित्यिक ब्रजभाषा के प्रथम अधिकारी कवि थे, अत उन्हे 'ब्रजभाषा का वाल्मीकि' कहना असगत न होगा। वस्तुत सूर के हाथो मे आकर ब्रज भाषा का स्वाभाविक माधुर्य और भी कोमल हो गया। सूर ने परुष वर्णो का प्रयोग यथासम्भव बहुत कम किया है। 'श' के स्थान मे 'स' और 'ण' के स्थान मे 'न' का व्यवहार सूर-काव्य मे बहुत हुआ है। इसी प्रकार पञ्चम वर्ण के स्थान पर उन्होने अनुस्वार का प्रयोग किया है और सयुक्त वर्णो मे स्वरागम कर दिया है। जैसे विश्वास के लिए बिसास, जन्म के लिए जनम आदि। इन प्रक्रियाओ से भाषा-लालित्य बढ गया है। अरबी और फारसी के शब्द भी सूर-काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं पर वे हिन्दी के साचे मे ढले हुए हैं। मुहावरो के प्रयोग से सूर-काव्य मे सजीवता आ गई है—

तुमको प्रेम-कथा को कहिबो, मानो काटिबो घास।

और—

खल, कारी कामरी चढे न दूजौ रङ्ग।

आदि लोकोक्तियो से इनके काव्य का सौन्दर्य निखर उठा है।

महत्त्व—सूरदास हिन्दी-साहित्य की अमर विभूति हैं। उनकी प्रतिभा तुलसी की भाँति सर्वतोमुखी न होते हुए भी उर्वर और सर्जनशील है। अपने परिमित क्षेत्र मे भी उन्होने अपनी कुशल कल्पना से नवीन प्रसङ्गो की उद्भावना की है। उनकी प्रतिभा वस्तुत 'नव-नवोन्मेषशालिनी' है। आप हिन्दी-साहित्य मे माधुर्य-भावना के सबसे बडे साधक हैं। आपने मनोवैज्ञानिक स्तर पर कृष्ण-जीवन का विकास किया। आपके चित्रात्मक वर्णन अपनी भव्यता और मार्मिकता मे देश-काल-निरपेक्ष हो गये हैं। मातृ-हृदय की विप्रयुक्त वेदना के विह्वल चित्र आपकी तूलिका से उत्कृष्ट रूप मे उतरे है। भाषा मे साहित्यिकता और ग्रामीणता का सामञ्जस्य करके आपने लोक-हृदय को शिष्ट साहित्य के सन्निकट लाने का प्रयत्न किया। आपका साहित्य अनेक समसामयिक

और परवर्ती कवियो के लिए प्रेरणा-स्रोत बना, परन्तु वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्र मे अभी तक आपकी टक्कर का कवि पैदा नही हुआ। आपके पदो की मनोमोहक मधुरता पर मुग्ध होकर ही तानसेन ने कहा था—

किधौ सूर को सर लग्यो, किधौ सूर को तीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेधत सकल सरीर॥

(२) कुम्भनदास

जीवन—ये सूरदास से आयु मे दस वर्ष बडे थे और इनसे पूर्व श्रीनाथजी के कीर्तन का प्रमुख दायित्व इन पर था। इनका जन्म सवत् १५२५ की चैत्र कृष्णा ११ को गोवर्धन के समीप जमुनावतौ ग्राम मे हुआ। परासौली गाँव के पास इनकी कुछ पैतृक भूमि थी जहाँ खेती करके ये अपने कुटुम्ब का पालन करते थे। उनके सात पुत्र थे। बाल्यकाल से ही इनकी रुचि काव्य-रचना और सगीत की ओर थी। अवकाश के समय भगवद्भक्ति के पदो को बनाकर ये गाया करते थे। स० १५५० के आसपास महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हे पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित किया। गोवर्धन पर श्रीनाथ जी की सेवा और पूजा का भार आपको सौपा गया।

ये परमभक्त थे। इनकी भक्ति-भावना और ललित पदरचना की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। अनेक साधु-महात्मा और राजा भी इनके दर्शनो को आया करते थे। स० १६२० मे राजा मानसिंह ने इनसे भेंट की और श्रीनाथ जी के मन्दिर मे इनके कीर्तन पर मुग्ध होकर बहुत सी द्रव्य-राशि इन्हे अर्पित की। परन्तु आपने उसे स्वीकार नही किया। इनके स्वभाव मे सतोष और निर्लोभ कूट-कूट कर भरा हुआ था। श्रीनाथ जी की मूर्ति से इन्हे अनन्य अनुराग था और उससे ओझल होना इन्हे बिल्कुल सह्य न था। सं० १६३१ के लगभग गो० विट्ठलनाथ के आदेश से इन्होने उनके साथ द्वारिकापुरी की यात्रा करना स्वीकार तो किया, परन्तु पहले ही पडाव अप्सरा-कुण्ड पर, जो श्रीनाथ जी के

मन्दिर से थोडी दूर पर था, ये श्रीनाथ जी के विरह से आतुर होकर यह पद गाने लगे—

केते द्वं जुग गे बिन देखें

इनकी यह दशा देखकर गोस्वामी जी ने इन्हे वापिस भेज दिया।

इनके एक पद को एक गायक के मुँह से सुनकर राजा अकबर ने इनसे मिलने की उत्सुकता प्रकट की और बडे सम्मान और समारोह के साथ इन्हे फतेहपुर सीकरी आने का निमन्त्रण दिया। परन्तु बडी अनिच्छापूर्वक ये वहाँ गये। अकबर के अनुरोध करने पर इन्होने एक पद गाया जिसमे उनके हृदय की रोष-भरी व्यथा प्रकट की गई थी—

भक्तन को कहा सीकरी सो काम।
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम।
जाकौ मुख देखं दुख लागै, ताको करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम॥

कहते है कि इनकी स्पष्टवादिता पर बादशाह रुष्ट नही हुआ और उसने इन्हे आदरपूर्वक घर पहुंचा दिया। अकबर से इनकी भेट स० १६३८ मे हुई थी। उस समय इनकी अवस्था ११३ वर्ष की थी।

ये अनासक्त गेही थे, रूखी-सूखी खाकर भी परम तुष्ट रहने वाले। इन्हे केवल श्रीनाथजी के दर्शनो का ही व्यसन था। एक दिन वे श्रीनाथ-जी की सेवा के बाद घर लौटते हुए सकर्षण-कुण्ड पर ठहर गये। उन्हे ज्ञात हुआ कि अब आगे उनसे नही जाया जायगा और उनका अन्त समय सन्निकट है। कहते है वही उनका प्राणान्त हुआ। इनकी मृत्यु लगभग सवत् १६४० मे हुई। उस समय ये ११५ वर्ष के पूर्ण वृद्ध थे।

रचना—इनके द्वारा निर्मित कोई विशेष रचना प्राप्त नही है। हाँ, कीर्तन-सग्रहो मे उनके स्फुट पद पर्याप्त रूप मे मिलते है। काकरौली विद्या-विभाग मे उनके २०० पद सकलित है। गो-दोहन और गो-चारण सम्बन्धी पदो मे कुछ सरसता है अन्यथा काव्यतत्त्व की दृष्टि से इनकी कविता सामान्य कोटि की है। भक्ति-भावना का अतिरेक ही उसे कुछ

सरसता प्रदान करता है। नीचे उनकी कविता के कुछ पद दिये जाते हैं। इनसे उनके सन्त-हृदय की सरल भक्ति-भावना का दिग्दर्शन होगा—

(१)

कबहुँ देख हौं इन नैननु।
सुन्दर स्याम मनोहर मूरत अंग-अग सुख दैननु।
बृन्दाबन बिहार दिन-दिन प्रति गोपवृन्द संग लैननु।
हँसि-हँसि हरषि पतौवन पावन बांटि-बांटि पथ फैननु।
कुम्भनदास किते दिन बीते किये रेणु सुख सैननु।
अब गिरिधर बिन निस और वासर मन न रहत क्यौं चैननु॥

(२)

माई गिरिधर के गुन गाऊं।
मेरे तौ व्रत ये हैं निसिदिन और न रुचि उपजाऊं।
खेलन आंगन आउ लाड़िले नैकहुं दरसन पाऊ।
कुम्भनदास इह जग के कारन लालच लागि रहाऊ।

(३) परमानन्द दास

जीवन—इनका जन्म स० १५५० मार्गशीर्ष शुक्ल सोमवार को कन्नौज मे हुआ। इनके पिता एक साधारण स्थिति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। परमानन्द जी बाल्यकाल से ही काव्य और सगीत मे निष्णात थे। युवक होते-होते इनकी प्रसिद्धि एक कवि और कीर्तनकार के रूप मे हो चुकी थी। इनके कीर्तन मे अपूर्व आकर्षण रहता था। श्रोतृवृन्द मन्त्र-मुग्ध हो इनके पदो को सुनते थे। अपने कीर्तन कौशल के कारण ही ये 'स्वामी' नाम से प्रसिद्ध हो गये। विरक्ति इनकी प्रकृति थी और ये आजीवन अविवाहित रहे।

सवत् १५७६ मे मकर-सक्रान्ति के अवसर पर प्रयाग मे महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से इनका साक्षात्कार हुआ। आचार्य जी इनके विरह-पदो को सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उन्होने अपना शिष्य बनाकर परमानन्द स्वामी से परमानन्द दास बना दिया। आचार्य जी ने इन्हे विरह के

स्थान पर कृष्ण की बाललीला का गान करने की प्रेरणा की और इन्हे श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका सुनाई। महाप्रभु से ये प्राय भागवत की कथा और उसकी सुबोधिनी टीका सुना करते थे और एक प्रसङ्ग का पारायण होने के उपरान्त तत्सम्बन्धी पद रचकर उन्हे सुनाते थे। महाप्रभु के साथ ही ये ब्रज मे गये। कुछ दिन गोकुल मे रहकर ये गोवर्धन मे सुरभी-कुण्ड पर श्याम तमाल वृक्ष के नीचे स्थायी रूप से रहने लगे। वहाँ भगवद्भजन और पदरचना करने मे इनका सारा जीवन बीता। स० १६४१ की जन्माष्टमी के दूसरे दिन भाद्रपद कृष्णा नौ दोपहर को ६१ वर्ष की अवस्था मे इनका देहावसान हुआ।

रचनाएँ—पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पूर्व ही परमानन्द दास एक कवि और गायक के रूप मे ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनकी कृतियाँ परमानन्द स्वामी, परमानन्द, परमानन्द दास और परमानन्द प्रभु नामो से उपलब्ध हुई हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि महाप्रभु से सम्पर्क स्थापित होने के पूर्व की रचनाओ पर 'परमानन्द स्वामी' की छाप है।

सूरदास के समान परमानन्द दास ने भी कृष्णचरित्र की बाललीलाओं को अपने पदों का विषय बनाया है। इन लीला-कथाओ का आधार भागवत है जिसके प्रसङ्गो का पारायण महाप्रभु इनके सम्मुख बहुधा किया करते थे। इनके निर्मित पदो की सख्या काफी विपुल है। इनका सकलन कवि के जीवनकाल मे ही 'परमानन्द-सागर' नाम से हो गया था। इस कृति की उपलब्ध प्रतियो मे कुल मिलाकर २००० पद मिलते है। परमानन्द दास के निम्नलिखित ग्रन्थ मिले है—

(१) परमानन्द-सागर (२) परमानन्द दास जी कौ पद (३) दानलीला (४) उद्धवलीला (५) ध्रुवचरित्र (६) सस्कृत-रत्नमाला।

काव्य-सौष्ठव—परमानन्द दास की कविता मे सरसता और भाव पर्याप्त मात्रा मे हैं। इन्हे एक भावुक हृदय मिला था। कृष्ण के विरह में इनके व्याकुल हृदय के उद्गार तो पूर्णतया मनोहारी है। प्रसिद्ध है कि इनके निम्न विरह-पद को सुनकर महाप्रभु तीन दिवस मूर्छित पड़े रहे—

हरि तेरी लीला की सुधि आवै ।
कमलनैन मनमोहनी मूरत, मन मन चित्र बनावै ।
एक बार जाय मिलत मया करि, सो कैसे बिसरावै ।
मुख मुसिक्यान, बक अवलोकन, चाल मनोहर भावै ।
कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिङ्गन, कबहुँक पिक सुर गावै ।
कबहुँक संभ्रम क्वासि-क्वासि कहि, संगहीन उठि धावै ।
कबहुँक नैन मूँदि अन्तरगति, मनिमाला पहिरावै ।
'परमानन्द' स्याम-ध्यान करि, ऐसै बिरह गंवावै ।।

सरल भक्त हृदय की निश्छल कामना यही है कि उसे अपने एकमात्र प्रेमालम्बन का सम्पर्क सदा प्राप्त रहे। नन्द-नन्दन के अभाव मे स्वर्ग के सब वैभव तुच्छ हैं, स्वय मुक्ति भी अवाञ्छनीय है—

'कहा करौ बैकुण्ठहिं जाय ।
जहँ नही नंद, जहाँ न जसोदा, जहँ नही गोपी-ग्वाल न गाय ।
जहँ नही जल जमुना कौ निर्मल और नही कदबन की छाय ।
'परमानन्द प्रभु' चतुर ग्वालिनी, ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय ।।

इनकी कविता मे सहृदयो के मर्म को स्पर्श करके काव्यानन्द की उच्छल तरङ्गे उत्पन्न करने की क्षमता है, इसमे कोई सन्देह नही। कुछ नमूने देखिए—

(१)

बड़भागिन गोकुल की नारि ।
माखन रोटी दै जू नचावति, जगदाता मुख लेति पसारि ।
सोभित बदन कमल-दल लोचन सोभित केस मधुप अनुहारि ।
सोभित मकराकृत कुंडल छवि, सोभित मृगमद-तिलक लिलारि ।
सोभित गात, चरन-भुज सोभित, सोभित किंकिनी करत उचारि ।
सोभित नृत्य करत परमानंद, गोप बधु वर भुजा पसारि ।।

(२)

रंचक चाइन दै री दह्यौ ।
अद्भुत स्वाद स्रवन करि मो पै, नाँहिन परत रह्यौ ।
ज्यो ज्यो कर-अम्बुज कुच झंपति, त्यो त्यो मर्म लह्यौ ।
नदकुमार छबीलो ढोटा, अचल धाय गह्यौ ।
हरि हठ करत दास परमानद इहि मै बहुत सह्यौ ।
इन बातन खायौ चाहत हौ, संत न जात बह्यौ ।।

(४) कृष्णदास

जीवन—इनका जन्म स० १५५३ मे गुजरात के चलोतर ग्राम मे हुआ । इनके पिता कायस्थ थे और गाँव के मुखिया भी थे । सत्सग और कथा-वार्ता मे बाल्यकाल से ही इनकी विशेष रुचि थी । स्वल्प आयु मे ही, अपने पिता के अनैतिक आचरण के कारण उनसे इनका विरोध हो गया और ये विरक्त होकर यात्रा करते हुए व्रज मे आ गये । यहाँ से स० १५६८ मे, जब इनकी आयु १३ वर्ष की थी, इन्होने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ली । व्रज मे आकर कृष्णदास ने व्रजभाषा, काव्य और सगीतशास्त्र का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था । इनकी प्रतिभा असाधारण थी । मन्दिर के कार्य से अवकाश मिलने पर इनका समय धर्मशास्त्रो के अनुशीलन और काव्य एव सगीत के अभ्यास मे बीतता था । यह एक निपुण गायक और कवि भी थे । स्वरचित पदो को कई बार ये श्रीनाथ जी के सम्मुख गाते थे । कीर्तन मे भी इन्हे काफी कुशलता प्राप्त थी ।

रचना—कृष्णदास ने अनेक पदो की रचना की है । इनमे शृङ्गार-भावना की प्रधानता है । उनके ६७६ पदो का एक सग्रह काकरौली विद्या-विभाग मे विद्यमान है । 'जुगलमान-चरित्र' भी एक छोटा-सा ग्रन्थ इनका रचा हुआ मिला है । काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट के अनुसार निम्नलिखित ग्रन्थ भी इनके रचे बताये गये हैं—भ्रमर-गीत, प्रेमतत्त्व-निरूपण, भक्तमाल की टीका, वैष्णववन्दन, बानी, प्रेम-रसराशि, हिडोरा-लीला आदि ।

कृष्णदास की रचना पर सूरदास का प्रभाव काफी लक्षित होता है। इनकी रचना मे शैली की स्वाभाविकता कम मिलती है। वस्तुतः ये प्रयास-सिद्ध कविता करते थे। अत इनका काव्य उच्चकोटि का नही बन सका। फिर भी राधाकृष्ण की प्रेमलीला, रासलीला और खण्डिता नायिका से सम्बद्ध पदो मे इन्हे पर्याप्त सफलता मिली है। नीचे उनकी कविता के कुछ निदर्शन प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१)

कमल मुख देखत कौन अघाय।
सुन री सखि ! लोचन अलि मेरे, मुदित रहे अरुसाय।
मुक्तामाल लाल उर ऊपर, जनू फूली बन जाय।
गोवर्धन के अग अंग पर, कृष्णदास बलि जाय।

(२)

राधा रंग भरी नहीं बोलति।
मोहन मदनगोपाल लाल सों, अपनौ यौवन तोलति।
चाहति मिलन प्रानप्यारे को, मेरौ मन टकटोलति।
छाँडहु बहुत चातुरी भामिनि, कहँ हमसों झकझोरति।
प्रात होन लागौ सुनि सजनी, अब ही तमचर बोलति।
कृष्णदास प्रभु गिरिधर पिय हित सारंग नैन सलोलति॥

(५) गोविन्द स्वामी

इनका जन्म स० १५६२ मे वर्तमान भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आतरी ग्राम मे हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके कुटुम्ब तथा माता-पिता के सम्बन्ध मे कुछ ज्ञात नही हुआ। इतना ज्ञात हुआ है कि इनका विवाह हुआ था और इनकी एक लडकी भी थी। गृहस्थ-जीवन से इन्हे विरक्ति हुई और यह ब्रज के महाबन ग्राम मे जाकर भगवद्-भजन और कीर्तन मे लीन रहने लगे। इनकी शिक्षा साधारण थी, परन्तु काव्य एव सगीत-शास्त्र मे इनका अभ्यास अच्छा था। वार्त्ताकार ने लिखा है कि ये गान-विद्या में निष्णात, प्रथम श्रेणी के गायक और श्रेष्ठ कवि थे।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अद्भुत चरित्र और उनकी हरि-भक्ति पर मुग्ध होकर स० १५६२ मे गोविन्द स्वामी ने उनसे पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा ली और गोवर्धन को अपना स्थायी निवास बना लिया। गोवर्धन के समीप की एक सुन्दर वाटिका आज भी 'गोविन्द की कदमखण्डी' के नाम से प्रसिद्ध है। सवत् १६४२ मे गोस्वामी विट्ठलनाथ के लीला-सवरण के उपरान्त, उसी वर्ष ही इनका भी देहान्त हुआ। अन्त समय आपकी आयु ८० वर्ष थी।

ये उत्कृष्ट कोटि के गायक थे। प्रसिद्ध गायक तानसेन भी कभी-कभी इनका गाना सुनने आया करने थे। परन्तु इनकी काव्य-रचना सामान्य श्रेणी की है। इन्होने कई स्फुट पद लिखे है। इनके पदो का एक सग्रह मिलता है। इसमे २५२ पद है। कीर्तन-सग्रहो मे भी इनके कुछ पद बिखरे हुए मिलते हैं।

अन्य कृष्णभक्त कवियो के समान इनके काव्य का विषय है, राधा-कृष्ण की रमणीय रग-लीला। कालिन्दी के तट पर युगल किशोर की रास-लीला देखिये कवि ने रागविद्या की पारिभाषिक पुट भी इसमे दे दी है—

आजु गोपाल रच्यौ है रास, देखत होत जिय हुलास,
नाचत वृषभानु सुता संग रस भीने।
गिडि गिडि तक, थंग थग, तत तत तत, थेई थेई,
गावत केदारौ राग, सरस तान लीने।
फूले बहु भाँति फूल, परम सुभग जमुना कूल,
मलय पवन बहत गगन, उडुपति गति छीने।
गोविन्द प्रभु करत केलि, भामिनि रस-सिंधु मेलि,
जै जै सुर शब्द करत, आनन्द रस कीने।

उपर्युक्त पद्य मे रासगत उल्लास की अपेक्षा वातावरण का विवरण देने में ही कवि का मन अधिक रमा है। सम्पूर्ण पद्य एक इतिवृत्त-सा बनकर रह गया है।

(६) नददास

जीवन—इनका जन्म स० १५७० के लगभग सूकरक्षेत्र (सौरा जि० एटा) के समीपवर्ती ग्राम रामपुर मे हुआ। सम्भवत यह सनाढ्य ब्राह्मण थे। गोस्वामी तुलसीदास इनके चचेरे भाई थे। इनकी बाल्यावस्था मे ही इनके माता-पिता का देहान्त हो गया और दादी ने इनका पालन-पोषण किया। बचपन मे ही इन्होने सस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। काव्य-रचना और सगीत की ओर भी इनका झुकाव बाल्यकाल से था। इन दोनो विषयो मे भी यह शीघ्र सिद्धहस्त हो गये। एक बार द्वारिका-यात्रा पर जाते हुए आप मार्ग भूलकर एक ग्राम सिहनद मे जा निकले। वहाँ की एक रूपवती स्त्री पर यह इतने लट्टू हुए कि उसके पीछे-पीछे गोकुल जा पहुँचे। यहाँ गो० विट्ठलनाथ जी के सदुपदेश से इनका सारा मोह-तम दूर हो गया और उनसे आपने पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा ले ली। इस समय इनकी अवस्था अनुमानत तीस वर्ष की थी। दीक्षित होने के अनन्तर इनकी अनुरक्ति भगवद्भक्ति की ओर खूब बढी। विद्वानो के सम्पर्क, कथा-वार्ता और शास्त्र-चर्चा से इनका भक्तिभाव उत्तरोत्तर बढता गया। काव्य और सगीत मे प्राकृतिक रुचि होने के कारण कीर्तन इनकी वृत्ति के विशेष अनुकूल था। शास्त्रीय विधि से भक्ति-भावित पदो का गान आपने आरम्भ कर दिया। इनकी पदरचना मे इनकी कवि-प्रतिभा का विकास देखने को मिलता है। पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रमुख कवियो मे आपकी गणना थी। कवि सूरदास के सात्त्विक जीवन का इनपर बहुत गहरा प्रभाव पडा था। उन्ही के सत्सग से ही इनमे दैन्य-भाव का उदय हुआ और इनकी काव्य-कला भी बहुत कुछ समृद्ध हुई। कहते हैं कि सूरदास ने इन्हे विवाह करने का परामर्श दिया और इन्होने अपने ग्राम रामपुर मे वापिस आकर कमला नामक एक कन्या से विवाह किया। इनके एक कृष्णदास नामक पुत्र भी हुआ। परन्तु कुछ काल तक गृहस्थ-सुख भोगने के बाद यह फिर विरक्त होकर स० १६२४ के लगभग गोवर्धन चले गये और आमरण वहाँ रहे। स० १६४० के

आसपास गोवर्धन मे मानसी गगा के किनारे एक पीपल वृक्ष के नीचे भक्त नन्ददास ने अपने नश्वर शरीर को त्याग कर लीला-प्रवेश किया। इनका अधिकाश जीवन भजन-कीर्तन और काव्य-सर्जन मे व्यतीत हुआ।

रचनाएँ—नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्ट के अनुसार नन्ददास निम्नलिखित ग्रन्थो के रचयिता कहे जाते है—

१ अनेकार्थ-भाषा, २ अनेकार्थ-मञ्जरी, ३. जोगलीला, ४. दशम स्कन्ध भागवत, ५. नाम चिन्तामणि माला, ६. नाममाला, ७ नाम-मञ्जरी, ८. नासिकेत पुराण भाषा, ९. रासपञ्चाध्यायी, १०. विरह मजरी, ११. भवरगीत, १२. रसमंजरी, १३ राजनीति हितोपदेश, १४. रुक्मिणीमंगल, १५. श्याम-सगाई, १६. सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी। इन सोलह ग्रन्थो के अतिरिक्त और भी अनेक पदो की रचना करने का श्रेय इनको दिया जाता है।

रासपञ्चाध्यायी—लेखक ने इस ग्रन्थ की रचना के पीछे एक परम मित्र की प्रेरणा स्वीकार की है—

परम रसिक इक मित्र मोहि तिन आज्ञा दीनी।
ताही ते यह कथा यथामति भाषा कीनी॥

भागवत के २९ से ३३ अध्यायो को आधार बनाकर कवि ने इस कृति मे श्रीकृष्ण की रासलीला का रोला छन्द मे वर्णन किया है। श्रीकृष्ण का नखशिख, वृन्दावन की चाँदनी रात की शोभा, कृष्ण का मधुर मुरली-वादन और फिर सहसा अन्तर्धान होना, गोपियो का कुञ्ज-कुञ्ज मे कृष्ण को खोजना, उनका प्रलाप और उपालम्भ, कृष्ण का फिर अपने-आपको प्रकट करना, गोपियो का उत्सुकतापूर्ण मिलन और अन्त मे कृष्ण और गोपियो की रासलीला का कवि ने अत्यन्त मनोरम चित्रण ग्रन्थ के पाँच अध्यायो मे किया है।

काव्य-सौन्दर्य—कथानक की दृष्टि से मुख्यत भागवत का रूपान्तर होते हुए भी, कवि ने रासपचाध्यायी मे अपनी मौलिकता का रग ऐसा भरा है कि यह एक स्वतन्त्र रचना बन गई है। इसकी वर्णनशैली और

शब्द-मधुरता नन्ददास की अपनी है। कवि की कला का विकास यहाँ उत्तम रूप मे हुआ है। नन्ददास का साहित्यिक पाण्डित्य ग्रन्थ की कोमल-कान्त पदावली और श्रुतिमधुर शैली मे पूर्ण-रूप से अभिव्यक्त हुआ है। 'गीत-गोविन्द' के माधुर्य पर मुग्ध होकर सम्भवत कवि ने इस कृति की सृष्टि की है। वियोगी हरि के शब्दो मे 'रासपञ्चाध्यायी' को हिन्दी का गीतगोविन्द कहा जा सकता है।'

भवरगीत—'भवरगीत' भ्रमरगीत शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। कृष्ण-काव्य के कवियो मे सूरदास के अनुकरण पर भ्रमरगीत लिखने का प्रचलन हो गया था। गोपियो के भक्ति-विभोर प्रेम की तुलना मे ज्ञान-मार्ग की शुष्क नीरसता का प्रदर्शन एव खण्डन करने के लिए यह प्रणाली बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुई। नन्ददास ने इस ग्रन्थ मे निर्गुण की अपेक्षा सगुण भक्ति का सापेक्ष्य महत्त्व प्रदर्शित किया है। हॉ, सूरदास की सरसता और भावात्मकता को वे इस ग्रन्थ मे प्रस्तुत नही कर सके। कारण यह है कि इन्होने निर्गुण साधना का प्रतिवाद तर्कपद्धति का आश्रय लेकर किया है। इसलिए यहॉ दार्शनिकता को प्रमुखता मिल गई है और मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी हो गई है। सूरदास की भॉति नवीन प्रसङ्गो की उद्भावना भी वे नही कर सके। यो भी भंवरगीत मे कथा के केवल उपदेश-अश और उसके निराकरण का विस्तार हुआ है, किसी प्रासङ्गिक उद्भावना अथवा सूर के भ्रमरगीत की-सी प्रस्तावना को यहाँ स्थान नही मिला। ग्रन्थ का आरम्भ सीधे उपदेश से हो गया है—

ऊधव को उपदेश सुनो ब्रजनागरी।

शैली—भँवरगीत की रचना 'रोला' और 'दोहा' के मिश्रण से बने हुए एक नवीन छन्द मे हुई है। सूरदास इस छन्द का सूत्रपात अपने गीत मे कर चुके थे। अलङ्कार-योजना सुन्दर हुई है, परन्तु रासपञ्चाध्यायी की उत्तमता को प्राप्त नही कर सकी। इसका कारण भी यही है कि कवि का ध्यान काव्य-सौन्दर्य की ओर कम और ज्ञानभक्ति की चर्चा की ओर अधिक है। इस ग्रन्थ मे प्रधानता विप्रलम्भ शृगार की है। शान्त और

अद्भुत रस भी गौण रूप मे प्रस्तुत हुए है। भाषा मे सरसता और प्रवाह है। कुशल शब्द-योजना मे नन्ददास अत्यन्त निपुण थे। इसीलिए उनके सम्बन्ध मे यह उक्ति प्रसिद्ध है—**'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया'**। मुहावरो के प्रयोग से भाषा को सरल और व्यावहारिक बनाकर कवि ने इसकी अभिव्यञ्जना-शक्ति मे वृद्धि की है—

'घर आयो नाग न पूजहिं, बांबी पूजन जाहि।'

और—

'जो तुम को अवलम्बहिं तिन को मेला कूप।'

आदि लोकोक्तियो के प्रयोग से कवि ने रचना की प्रभावशालिता को बढा दिया है। इनकी भाषा मे सानुप्रासता स्वभावत आ जाती है। कही-कही नाद-सौन्दर्य इससे मिलकर चित्र को और भी मधुर बना देता है—

ब्रज बनितन के पुंज माहि गुंजत छबि छाया।

नन्ददास की रचनाओ के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे न केवल परम भक्त थे बल्कि एक उच्च कोटि के कवि भी थे। पाण्डित्य और अभ्यास ने उनके सहज कवित्व को व्युत्पन्न कर दिया था। काव्य शास्त्र मे उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होने विविध शैलियो मे रचना की है। 'रासपञ्चाध्यायी' शैली के विचार से एक खण्डकाव्य का रूप लिये हुए है। 'रसमजरी' उन्हे रीतिशास्त्र का आचार्य भी सिद्ध करती है। छोटे-छोटे छन्द जैसे 'रोला' और 'चौपाई' लिखने मे नन्ददास विशेष अभ्यस्त थे। भाषा-कोष के भी आप धनी थे। अपने विपुल शब्द-भण्डार मे से प्रसङ्ग के अनुरूप शब्द चुनकर और उसे यथास्थान प्रयुक्त करके अपनी रचनाओ मे आपने रुचिर चयनशक्ति का चमत्कार दिखाया है। कवित्व की दृष्टि से अष्टछाप मे सूर के बाद आपका ही गौरवपूर्ण स्थान है। भक्ति के क्षेत्र मे भी इनका दृष्टिकोण उदार रहा है। राम-कृष्ण दोनो का भजन इन्हे अभीष्ट है। दोनो का सौन्दर्य और शौर्य इनको मुग्ध करता है—

राम कृष्ण कहियै उठि भोर।
अवध ईस वे धनुष धरै है, ये ब्रज माखन चोर।
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत सत्रुहन लछमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित गायन संग नदकिसोर।
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यो गिरि नख की कोर।
नंददास प्रभु सब तजि भजियै, जैसे निरखति चंद चकोर।।

(७) छीतस्वामी

जीवन—छीतस्वामी का जन्म स० १५७२ के लगभग मथुरा मे हुआ। ये मथुरा के चौबे और तीर्थ-पडा थे। इनका प्रारम्भिक जीवन काफी बुरा रहा। यहाँ तक कि अपने दुष्कृत्यो के कारण मथुरा के गुण्डो मे इन्हे कुख्यात स्थान मिला हुआ था। इनके अक्खडपन और उद्दण्डता के कारण 'छीतु चौबे' के नाम से इनकी प्रसिद्धि हो गई थी। कहते है गोस्वामी विट्ठलनाथ के चमत्कार से इनका भेट किया हुआ खोटा रुपया और थोथा नारियल दोनो ठीक हो गये। रुपया बाजार मे चल गया और नारियल को तोडने पर उसमे से बडी मधुर सफेद गिरी निकली। इस चमत्कार ने छीतस्वामी का मन बदल दिया। वे गोस्वामी जी के शिष्य बनकर पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित हो गये। दीक्षित होने के बाद ये स्थायी रूप से गोवर्धन के पास पूँछरी नामक स्थान पर श्याम तमाल के वृक्ष के नीचे रहने लगे। इनका सारा समय श्रीनाथ जी के कीर्तन मे ही बीतता था। काव्य और सगीत के प्रति इनका आकर्षण आरम्भ से ही था और कुछ-कुछ पद-रचना भी आप करते थे। ठाकुर जी के कीर्तन मे उनकी काव्य-प्रतिभा को विकसित होने का सुयोग मिला और अपने भक्तिभाव को यह पदो मे ढालने लगे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के निधन के बाद सवत् १६४२ मे इनका भी देहान्त हो गया। मृत्यु के समय आप ७० वर्ष के थे।

रचना—ग्रन्थ-रूप मे इनकी कोई रचना प्राप्त नही हुई। इससे यह समझा जाता है कि इन्होने केवल फुटकर पदो की ही रचना की थी।

ये पद भी, जो कई कीर्तन-सग्रहो मे मिले है, सख्या मे अधिक नही है। इन पदो मे काव्य-तत्त्व साधारण कोटि का हे। भाषा सीधी और सरल है। इनके पदो मे शृङ्गार के अतिरिक्त व्रज-भूमि के प्रति असीम प्रेम का प्रदर्शन भी हुआ है। इनकी कविता की बानगी देखिए—

(१)

जैं श्री बल्लभ राजकुमार।
पर पाखंड कपट खडन करि, सकल वेद धुनि धार।
परम पुनीत तपोनिधि पावन, तन भूजित भू भार।
निज मुख कथित कृष्न लीलामृत, सकल जीव निस्तार।
निज मति सुदृढ सुकृत कृत हरिपद, नवधा भजन प्रकार।
दुरित करत अचेत प्रेत गति, दलित पतित उद्धार।
नहि मति नाथ कहाँ लौं बरनो, अगनित गुन विस्तार।
छीतस्वामी गिरधरन श्री विट्ठल प्रगट कृष्न अवतार॥

(२)

भई भेंट अचानक आई।
हौं अपने गृह ते चली जमुना, वे उततें चले चारन गाई।
निरखत रूप ठगोरी लागी, उत कौं डगर अरी चल्यौ न जाई।
छीतस्वामी गिरिधरन कृपा करि, मो तन चितए मुरि मुस्काई॥

(८) चतुर्भुजदास

जीवन—इनका जन्म स० १५७५ के लगभग गोवर्धन के पास जमुनावतौ ग्राम मे हुआ था। इनके पिता अष्टछाप के वयोवृद्ध कवि कुम्भनदास जी थे। यह अपने पिता के आज्ञाकारी पुत्र थे और खेती-बाडी के काम-काज एव श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा मे अपने पिता का हाथ बटाते थे। अपने पिता के सत्सग से बाल्यकाल मे ही इन्हे काव्य और सगीत की शिक्षा मिली थी। कीर्तन मे सम्मिलित होकर यह अपने उत्तम पदो को गाया करते थे। श्रीनाथ जी की अनन्य भक्ति और निस्पृह सेवा-भावना के कारण यह गोस्वामी विट्ठलनाथ के विशेष कृपापात्र बन गये। इनका

जीवन एक अनासक्त गृहस्थ का जीवन था। आजीवन इन्होने तन्मय एकाग्र भाव से श्रीनाथ जी की पूजा-परिचर्या की। अपने गाँव से प्रतिदिन श्रीनाथ जी के दर्शन के लिए जाना इनका नित्य नियम था। सवत् १६४२ मे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के निधन से इन्हे इतना दु ख हुआ कि कुछ काल बाद रुद्र कुण्ड पर इमली के वृक्ष के नीचे श्रीनाथ का स्तोत्रगान करते हुए इनकी लौकिक लीला समाप्त हुई।

रचना—इनकी काव्य-रचना केवल फुटकर पदो मे मिलती है। इनके स्फुट पदो के तीन सग्रह चतुर्भुज-कीर्तन-सग्रह, कीर्तनावली और दानलीला नाम से काकरौली विद्या-विभाग मे सुरक्षित हैं। 'मधुमालती' और 'भक्ति प्रताप' नामक दो कृतियाँ भी इनके नाम से जोडी जाती हैं, परन्तु उनकी प्रामाणिकता मे पर्याप्त सन्देह है। इनकी कविता मे भक्ति-भावना और शृङ्गार की झलक मिलती है। काव्य-सौष्ठव साधारण श्रेणी का है। जन्म से लेकर गोपी-विरह पर्यन्त इन्होने कृष्णचरित का गान अपने पदो मे गाया है। उनकी कविता का निदर्शन देखिए—

भोर भयो नन्द जसुदा जी बोलत, जागो जागो मेरे गिरधरलाल।
रतन जटित सिंहासन बैठो, देखन को आई ब्रजबाल।
नियरे जाइ सुपेती खैंचत, बहुरौ हरि ढाँपत बदन रसाल।
दूध दही और माखन मेवा, भामिनी भरि लाई है थाल।
तब हरि हरषि गोद उठि बैठे, करत कलेउ तिलक दै भाल।
दै बीरा आरति वारति है, चतुर्भुज गावत गीत रसाल॥

अन्य कृष्णभक्त कवि

(१) मीराबाई

मीराबाई मेडतिया के राठौर रत्नसिह की पुत्री थी। इनका जन्म स० १५५५ मे कुडकी गाँव मे हुआ था। बचपन मे ही इनकी माता का देहान्त हो गया था, अत इनके पालन-पोषण का भार इनके पितामह दूदा जी ने ले लिया। दूदा जी परम वैष्णव थे। इनके ससर्ग से दो बालिका

मीरा के हृदय मे वैष्णव-धर्म के सस्कार पडे जो आगे चलकर उनकी भक्ति-भावना मे विकसित हुए। जब यह १८ वर्ष की थी तो इनका विवाह चित्तौड के महाराणा सागा जी के ज्येष्ठ कुमार भोजराज के साथ हुआ। परन्तु कुछ वर्षों बाद ही इनके पति का देहान्त हो गया और तब से बाल्यकाल के वैष्णव सस्कारो ने अङ्कुरित होकर इनके हृदय को गिरिधर गोपाल की माधुर्योपासना की ओर उन्मुख कर दिया। भक्ति का स्रोत ऐसे उद्दाम वेग से इनके मन मे उमडा कि लोक-लाज और राजमर्यादा के सभी आडम्बर त्यागकर मीरा ने साधु-सत्सग द्वारा अपने भक्ति-भाव को पल्लवित किया। इस दिशा मे अपने राजकुल का विरोध भी मीरा ने सहन किया और घर छोडकर वृन्दावन और द्वारिका की यात्रा की। द्वारिका-धाम मे ही सवत् १६०३ मे इनकी मृत्यु हुई। किवदन्ती है कि मृत्यु के समय रणछोड जी की मूर्ति ने इन्हे अपने मे अन्तर्हित कर लिया।

रचनाएँ—निम्नलिखित रचनाएँ इनके नाम से सम्बद्ध है—नरसीजी रो माहेरो, गीत-गोविन्द की टीका, राग सोरठ के पद, गर्वागीता और फुटकर पद। कहा जाता है कि 'नरसी जी रो माहेरो' की रचना पदो मे हुई थी परन्तु इसकी कोई पूरी प्रामाणिक प्रति नही मिल पाई। इस कृति मे प्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता के 'माहेरो' वा 'भात' भरने की प्रथा का वर्णन है। 'माहेरा' राजस्थान की एक प्रचलित प्रथा है जिसके अनुसार लडकी अथवा बहन के घर उसकी सन्तान के विवाह के अवसर पर, पिता वा भाई पहरावनी ले जाते हैं। 'गीतगोविन्द की टीका' अभी तक अप्राप्य है। 'राग सोरठ के पद' मे मीरा, कबीर और नामदेव के सोरठ पदो का सग्रह है। 'गर्वागीता' के गीत, रासमण्डली के गीतो की भाँति गाये जाते है। मीराबाई की कृतियो मे सब से अधिक निश्चित पता 'फुटकर पदो' का ही मिला है। इनकी सख्या २०० के लगभग बताई जाती है। श्री पुरोहित हरिनारायण जी ने मीरा के पदो की सख्या ५०० बताई है और उनके पास इन पदो का एक सग्रह भी है।

काव्यत्व—मीरा का काव्य गीति-काव्य का एक आदर्श प्रस्तुत करता है। इस काव्य ने मीरा को 'दरद दिवानी' के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। 'गिरिधर गोपाल' उसके इष्टदेव थे। मीरा ने माधुर्य भाव से उसकी उपासना की है। शृङ्गारिक रचना होते हुए भी यह कविता आध्यात्मिक रग मे रगी हुई है। वासना की गन्ध तक उसे छू नही गई। कुछ राजस्थानी-मिश्रित भाषा मे और कुछ शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा मे अपने पदो मे मीरा ने प्रेम की तल्लीनता का मधुर गान किया है। नीचे उनके गीति-काव्य का कुछ परिचय कराया जाता है—

(१)

मेरो तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जा के सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
छाँड़ि दई कुल ही कानि, कहा करिहै कोई।
सन्तन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई।
अँसुवन जल सींचि सीचि, प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई, आनन्द फल होई।
भगति देखि राजी हुई, जगति देखि रोई।
दासी मीरां लाल गिरधर, तारो अब मोही ॥

(२)

हेरी मैं तो दरद दिवानी, मेरो दरद न जाणै कोइ।
घाइल की गति घाइल जाणै, की जिण लाई होइ।
जौहरी की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होइ।
सूली ऊपरि सेज हमारी, सोवण किस विध होइ।
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होइ।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीरां की प्रभु पीर मिटै जब बैद सांवलिया होइ ॥

(१०) रसखान

इनके जीवनवृत्त के विषय मे प्रामाणिक रूप से कुछ ज्ञात नही हुआ।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे इनके विषय मे जो उल्लेख मिलता है, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने उसे भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। रसखान की कृतियो के अन्त साक्ष्य से उक्त 'वार्ता' मे उनके सम्बन्ध मे लिखी हुई किसी बात की पुष्टि नही होती। श्री पाण्डेय ने निश्चयपूर्वक लिखा है कि रसखान न गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे और न उनका कृष्णकाव्य महाप्रभु वल्लभाचार्य की पुष्टि-सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति पर लिखा गया हैं। इनके काव्य मे सूफियो की 'प्रेम की पीर' को प्रधानता मिली है। रसखान ने अपने काव्य मे इस प्रेम की पीर का सगुण (मूर्त) आलम्बन ढूँढ निकाला है। इनके विषय मे प्रचलित किम्वदन्तियो अथवा 'वार्ता' के लेखो से हम केवल इतना निष्कर्ष निकाल सकते है कि रसखान एक प्रेमी जीव थे। उनका जीवन लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की ओर उन्मुख हुआ था। उनकी प्रेमभक्ति को लक्ष्य करके श्री पाण्डेय ने लिखा है कि रसखान नारदी भक्त थे, श्री वल्लभी नही। प्रेम उनके जीवन का मूल आधार था। उन्होने एक दोहे मे स्पष्ट कहा है—

आनन्द अनुभव होत नही, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द, कै, ब्रह्मानन्द बखान॥

रचना—इनकी दो छोटी-छोटी पुस्तके प्रकाश मे आई हैं **'प्रेमवाटिका'** और **'सुजानचरित'**। प्रथम कृति इनके प्रेम-विषयक दोहो का सग्रह है और दूसरी कृति मे इन्होने कवित्त-सवैयो मे शुद्ध एकनिष्ठ प्रेम की व्यजना की है। 'बिलोकना' और 'बिकाना' इनके प्रेम की पृष्ठभूमि का काम करते है। सूफी काव्य के 'दीदार' और 'दीवाना' की भाँति 'बिलोकना' और 'बिकाना' की इनके काव्य मे भरमार है। प्रिय की मुस्कान उस प्रेम मे अपना मोहक मधुर रग भर देती है—

अब ही गई खरिक गाय के दुहाइबे को
बाबरी है आई डारि दोहनी यो पान की।
कोऊ कहै छरी कोऊ भौन परी डरी
कोऊ कहै मरी गति हरी अँखियान की।

सास व्रत ठाने नन्द बोलत सयाने
धाय दौरि-दौरि जानै माने खोरि देवतान की।
साखी सब हँसै मुरझान पहिचान कहूं
देखो मुस्कान वा अहीर रसखान की।

रसखान के काव्य को प्रेम का एक छलकता हुआ चषक कहा जा सकता है। इस प्रेम मे पगा हुआ व्यक्ति फिर इसी का ही हो रहता है। इस नेह का बन्धन नही छूट सकता—

प्रेम पगे जू रंगे रग सांवरे मानै मनायें न लालची नैना।
धावत है उत ही नित मोहन रोकै सकै नही घूँघट ऐना।
कानन लौं कल नांहि परै सखि प्रीति में भीजे सुने मृदु बैना।
रसखान भई मधु की मखियाँ अब नेह को बन्धन क्यो हूँ छुटै ना।

रसखान का मन कृष्ण की किशोर लीला मे अधिक रमा है। रासलीला और चीरहरण के वर्णन चलते-से कर दिये गये हैं। बासुरी के हृदयहारी चमत्कार का वर्णन भी इन्होने मनोयोग से किया है। कूबरी और ऊधो के प्रसङ्ग पर भी इन्होने कुछ दृष्टिपात किया है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रेम—रसविह्वल प्रेम—ही इनके काव्य की धुरी है। नन्दलाल से प्रेम नही तो फिर सब-कुछ कुबेर का वैभव तक तुच्छ है। रसखान का यह निनाद है—

कंचन के मन्दिरनि दीठि ठहराती नांहि
सदा दीपमाला लाल रतन उजारे सों।
और प्रभुताई सब कहा लौं बखानौं
प्रतिहारिनि की भीर भूप टरत न द्वारे सो।
गंगा जू में न्हाय मुक्ताहल हु लुटाय
बेद बीस बार गाय ध्यान कीजत सकारे सों।
ऐसे ही भये तो कहा दीख रसखान जु पै
चित्त दै न कीन्हीं प्रीति पीत पटवारे सो।

रसखान जैसे भावुक कवियो के भक्ति-विह्वल उद्गारो को देखकर

ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने द्रवित हो कर कहा था—

इन मुसलमान हरिजनन प, कोटिन हिन्दुन वारिये ।

भाषा—रसखान की ब्रजभाषा मे सरसता और स्वाभाविकता व्यवस्थित रूप मे मिलती है। हार्दिकता और तन्मयता से इनकी भाषा सहज मधुर बन गई है। शब्दालंकारो और अर्थालङ्कारो का प्रयोग इनकी काव्यश्री के अकृत्रिम सौन्दर्य की वृद्धि मे सहायक हुआ है। सानुप्रासता होते हुए भी इनकी भाषा मे एक चुस्ती और सफाई पाई जाती है। यह एक चलती हुई सरल, सरस और सुबोध भाषा है। अरबी और फारसी के शब्दो का यथास्थान प्रयोग भी प्रभावपूर्ण एव स्वाभाविक है।

कृष्ण-काव्य की परम्परा

कृष्ण-काव्य की यह परम्परा भक्तिकाल के उपरान्त भी अजस्र रूप से चलती रही। रीतिकाल मे यह परम्परा राधाकृष्ण के शृंगार के कलुष-कर्दम मे अपनी आध्यात्मिकता खो बैठी, पर इसका उद्धार आगे चलकर आधुनिक काल मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हाथो हुआ। इस काल के अन्य कृष्ण-काव्य के कवियो मे अयोध्यासिह उपाध्याय, सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथ दास रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त तथा द्वारकाप्रसाद मिश्र के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं।

४. रामकाव्य

पीछे लिख आये हैं कि दक्षिण भारतीय रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा मे स्थित रामानन्द ने उत्तर-भारत में रामभक्ति की लहर चलाई। उन्ही के अनुकरण मे हिन्दी के भक्तिकाल मे रामकाव्य का उद्भव हुआ। इस काव्य का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

राम-भक्त कवि—भक्तिकाल मे रामकाव्य के लिखने वालो मे सर्वाग्रगण्य महात्मा तुलसीदास है। यद्यपि प्राणचन्द्र चौहान, अग्रदास, नाभादास, सेनापति, हृदयराम, केशव, कीरतसिह आदि के नाम भी इस

दिशा मे उल्लेखनीय है। पर रामकाव्य की वास्तविक महत्ता एकमात्र तुलसी पर ही अवलम्बित है, अन्य कवियो पर नही। अत रामकाव्य की विशेषताएँ अधिकाशत तुलसी-साहित्य को ही लक्ष्य मे रखकर प्रदर्शित की जाती हैं।

राम-काव्य की विविधता—इन कवियो का, विशेषत तुलसी का साहित्य विविध शैलियो का एक सुन्दर पुञ्ज है। उदाहरणार्थ तुलसी का रामचरितमानस प्रबन्ध-काव्य है, विनय-पत्रिका और गीतावली सगीत मुक्तक है, जानकी-मगल, पार्वती-मगल, रामलला नहछू मगल-काव्य हैं। प्राणचन्द्र चौहान की रामायण और हृदयराम का हनुमन्नाटक—ये दोनो ग्रन्थ दृश्यकाव्य हैं। अग्रदास की राम ध्यान-मजरी एक रामभक्ति सम्बन्धी मुक्तक रचना है। सेनापति के कवित्त रत्नाकर की चौथी और पाँचवी तरगो मे रामायण और रामरसायन के रूप मे रामकथा को भी स्थान मिला है। राम की दिनचर्या का निर्देशक नाभादास का अष्टयाम अपने प्रकार का निराला काव्यरूप है। केशव की रामचन्द्रिका विविध छन्दो मे रचित महाकाव्य है। कीरतसिह की सतसैया-रमायण एक प्रकार का कोप-काव्य है।

इस प्रकार भक्तिकालीन रामकाव्य यद्यपि मात्रा की दृष्टि से कृष्ण-काव्य से न्यून है और शायद सन्तकाव्य और सूफीकाव्य से भी न्यून हो जाय, पर काव्यरूपो एव शैली की विविधता की दृष्टि से सर्वाग्रगण्य एव पर्याप्त समृद्ध है। इसके अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से तो यह महान् है ही, क्योकि इसमे तत्कालीन दोनो जन-भाषाओ—अवधी और ब्रज—मे साहित्य की रचना की गई है।

राम का स्वरूप—राम के भक्तकवि अपने उपास्यदेव 'राम' को समझने और समझाने मे नितान्त स्पष्ट है। कृष्ण-भक्तो के समान इनकी रामसम्बन्धी धारणाएँ अस्पष्ट या रहस्यपूर्ण नही हैं। कृष्ण-भक्तो का कृष्ण ब्रह्म का प्रतीक है, गोपियाँ जीवात्मा है। स्वय कृष्ण-भक्त भी अपने पर गोपियो का आरोप करके कृष्ण-सेवा मे आत्म-समर्पण करते

है। पर इधर रामभक्त उक्त प्रतीकवाद मे नितान्त मुक्त होकर राम को विष्णु का अवतार और अपने-आपको मानव-रूप मे राम का भक्त एव साधक मानते है।

इनका राम शील, शक्ति और सौन्दर्य का पुज है। वह हमे इसलिए प्रिय है कि वह ससार मे सर्वाधिक सुन्दर है। ससार का प्रत्येक सुन्दर पदार्थ उसी महान् सौन्दर्य का एक अश है। राम शक्तिशाली है। भक्तो के सकट-मोचन की उसमे अपूर्व सामर्थ्य है। इन दोनो मे से किसी एक का सद्भाव अथवा दोनो गुणो का समन्वय भी आदर्शचरित्र के लिए पर्याप्त नही है, अत राम महान् शील-सम्पन्न भी है। वे मर्यादास्थित है, और अपने शीलाचार से भक्त को आचार-पालन की शिक्षा देते हैं। यही कारण है कि रामभक्त कवियो ने 'राधा-कृष्ण' के असमान 'सीता-राम' को लक्ष्य मे रखकर उच्छृङ्खल प्रेम को अपने काव्य का विषय नही बनाया। राम के नाम पर उच्छृङ्खल साहित्य का निर्माता 'सखी-सम्प्रदाय' न केवल रामकाव्य के नाम पर कलक है, अपितु राम-भक्ति के मूलभूत आदर्शो एव सिद्धान्तो के विपरीत है।

राम-भक्ति—राम-से इतर देवता को मानने वाले भक्तजन ज्ञान और कर्म का लोप करके भक्ति को श्रेष्ठ बतलाते है, पर रामभक्त ज्ञान और कर्म दोनो की अलग-अलग महत्ता स्वीकार करते हुए भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते है। रामभक्त कवियो ने अपने और राम के बीच "सेवक-सेव्य-सम्बन्ध' की स्वीकृति की है। विभीषण, हनुमान्, लक्ष्मण और भरत के समान ये राम के सेवक है और राम इनका सेव्य है। वस्तुत इसी सम्बन्ध मे ही वैष्णव-धर्म के आदर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा है।

आचार-शिक्षा—रामकाव्य की, विशेषत तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की आचार-सम्बन्धी शिक्षाएँ एव मान्यताएँ इतनी महान् है कि रामकाव्य को 'आचार-शास्त्र' भी समझा जाता है। इस काव्य मे जीवन का मूल्याकन आचार की कसौटी पर किया जाता है। राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, स्वामी-सेवक और पडोसी-पडोसी के सम्बन्धो मे

सम्बद्ध समाज केवल आचार के बल पर ही जी सकता है। रामकाव्य के पात्र आचार और लोकमर्यादा की आदर्श व्याख्या प्रस्तुत करते है। इनका चरित्र महान् एव अनुकरणीय है।

कतिपय राम-कवियो का परिचय

(१) तुलसीदास

हिन्दी-गगन मे गोस्वामी तुलसीदास का उदय अद्भुत एवं चमत्कारपूर्ण है। वे परम भक्त, अनन्य साधक, समर्थ साहित्यिक और सात्विक सन्त थे।

जीवन-परिचय—इनके जन्म, जन्मस्थान, माता-पिता और अधिकाश जीवन-घटनाओ के सम्बन्ध मे अभी तक विद्वान् एक निर्णय पर नही पहुँचे। अन्त साक्ष्य और वहि साक्ष्य के आधार पर इनका अनिर्णीत जीवन-परिचय इस प्रकार है—

(क) **जन्मस्थान**—वेणीमाधवदास-प्रणीत 'गोसाई-चरित' और रघुवरदास-प्रणीत 'तुलसी चरित' के आधार पर इनका जन्मस्थान राजापुर है। तुलसी के अपने कथन—

मै पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।

के अनुसार सूकर क्षेत्र मे उनका वास बताया जाता है। सूकर क्षेत्र सोरो (जिला एटा) मे स्थित है। बादा के गजेटियर मे भी तुलसीदास का सोरो से आना तथा राजापुर गॉव का बसना लिखा है। इस गजेटियर के आधार पर उक्त दोनो स्थानो का समर्थन प्राप्त हो जाता है, पर फिर भी इनके जन्मस्थान के विषय मे अभी कोई दृढ आधार विद्वानो के सम्मुख नही है।

(ख) **जाति**—इनकी जाति के सम्बन्ध मे भी किसी एक निर्णय पर पहुँचना कठिन है, पर यह निर्विवाद है कि इनका जन्म ब्राह्मण वश मे हुआ था। जनश्रुति के अनुसार इनके पिता पत्यौजा के दुबे थे—

तुलसी परासर गोत दुबे पतिऔजा के।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य लोग इनको सरयूपारीण ब्राह्मण मानते थे और मिश्रबन्धु इनको कान्य-कुब्ज मानते थे। पत्यौजा के दुबे कान्यकुब्ज ही होते हो, पर इनका जन्मस्थान सोरो मे मानने वाले इन्हे सनाढ्य ब्राह्मण मानते है।

(ग) **सगे-सम्बन्धी**—जनश्रुति के आधार पर इनके पिता का नाम आत्माराम था, और 'तुलसी चरित' के आधार पर मुरारी मिश्र। जन-श्रुति, अन्त साक्ष्य तथा बहि साक्ष्य के आधार पर इनकी माता का नाम हुलसी था। गोकुलनाथ-प्रणीत 'दो सौ बावन वेष्णवन की वार्ता' के अनुसार प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि नन्ददास इनके बडे भाई थे। सोरो के पक्ष वाले इनकी धर्मपत्नी का नाम रत्नावली बताते हैं। पत्नी द्वारा भर्त्सना किये जाने पर रामभक्ति मे सलग्न होने की कथा भी जनश्रुति के आधार पर बहुत प्रसिद्ध है।

(घ) **जन्म और मृत्यु**—तुलसीदास जी के जन्मसवत् के विषय मे तो मतभेद है, पर मरण-सवत् के विषय मे नही। 'गोसाई-चरित' के अनुसार इनका जन्मसवत् १५५४ है और रामगुलाम द्विवेदी आदि विद्वानो के अनुसार १५८९। 'रामचरितमानस' की रचना का प्रारम्भ स० १६३१ मे हुआ, यह निश्चित है। इस समय सवत् १५५४ के अनुसार इनकी आयु ७० वर्ष की होगी और सवत् १५८९ के अनुसार ४२ वर्ष की। ७० वर्ष की आयु की अपेक्षा ४२ वर्ष की आयु मे ही 'मानस' का प्रारम्भ माना जाना अधिक जँचता है, अत इनका जन्मसवत् १५८९ ही युक्ति-सगत प्रतीत होता है। इनकी मृत्यु सवत् १६८० मे असी गग के तीर पर हुई—

सवत् सोरह सौ असी, असी गग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

कोई विद्वान् इनकी निधन-तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी के स्थान पर श्रावण कृष्णा तीज भी कहते है।

रचनाएँ—इनके नाम के साथ वैसे तो बहुत-सी रचनाओ को सम्बद्ध

किया जाता है। परन्तु इनकी प्रामाणिक रचनाएँ १२ या १३ है। नीचे उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

रामलला नहछू—इसमे बीस छदो मे एक उपसस्कार का वर्णन है, जिसका सम्बन्ध कुछ विद्वान् यज्ञोपवीन से और कुछ विवाह से मानते है। इसमे सोहर छन्द का प्रयोग है। मागलिक अवसरो पर नारियाँ इसी छन्द मे गाया करती है। वर्णन काफी शृङ्गारिक है। तरुणी स्त्रियो की चटक-मटक और उनकी साज-सज्जा का चित्र कवि की यौवनकालीन रसिकता का द्योतक है। इसलिए इसे तुलसी की प्रारम्भिक रचना कहा गया है—

कटि के छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो।
चन्द्रवदनि मृगलोचनि सब रस खानिहि हो॥

इस कृति का काव्यतत्व बहुत साधारण है। भाषा ठेठ अवधी है।

(२) **वैराग्य-संदीपिनी**—इसमे कुल ६२ पद्य हैं। इसके वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध मे कवि ने स्वय लिखा है—

तुलसी वेद पुरान मत, पूजन शास्त्र विचार।
यह विराग संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥

सरल छन्दो मे और सन्तुलित शब्दो मे शान्त रस का वर्णन इस ग्रन्थ की विशेपता है। सस्कृत भापा का इस पर स्पष्ट प्रभाव है।

(३) **रामाज्ञा-प्रश्न**—इस रचना मे सात सर्ग है। प्रत्येक सर्ग मे सात-सात दोहो के सात-सात सतक हैं। इसके कुल दोहो की सख्या ३४५ है, जिनमे ग्रन्थारम्भ के दो दोहे भी सम्मिलित हैं। प्रसिद्ध है कि छ घण्टो के अनवरत परिश्रम से कवि ने इस रचना को अपने किसी मित्र गगाराम के लिए तैयार किया था—

सगुन प्रथम उनचास शुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर, गोगन गंगाराम॥

(४) **जानकी-मगल**—सीता-राम का विवाह इसका वर्ण्य-विपय है। इसमे कुल २१६ छन्द है जिनका क्रम इस प्रकार है—आठ अरुण छन्दो

के पीछे एक एक हरिगीतिका। इसकी कथा पर वाल्मीकि-रामायण का प्रभाव है। भाषा अवधी है और शैली वर्णनात्मक। इसमे परम्परागत वैवाहिक प्रथाओ का वर्णन स्वतन्त्र रूप मे हुआ है।

(५) **रामचरितमानस**—यह ग्रन्थ कवि की काव्यकला का अपूर्व निदर्शन है। ससार-भर के साहित्य की सर्वश्रेष्ठ विभूतियो मे इसकी गणना की जाती है। विश्व की प्राय सभी प्रसिद्ध भाषाओ मे इसका रूपान्तर हो चुका है। भारतीय जीवन का तो यह एक आदर्श मुकुट है। जनसाधारण की दृष्टि मे इसका महत्त्व किसी धर्मग्रन्थ से कम नही है।

इस ग्रन्थ मे राम की कथा सात काण्डो मे विभक्त है। इसके छन्दो की सख्या लगभग दस हजार है। इसमे अधिकाशत दोहा और चौपाई का प्रयोग हुआ है और कही-कही हरिगीतिका, त्रिभगी, रथोद्धता, भुजगप्रयात, वसततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि का भी।

रामचरितमानस की कथा का मूलाधार यद्यपि वाल्मीकि-रामायण है फिर भी 'अध्यात्मरामायण', 'हनुमन्नाटक','प्रसन्नराघव' आदि ग्रन्थो का सहारा लेकर गोस्वामी जी ने कथा मे कुछ उलट-फेर किया है। नीति, धर्म और दर्शन की अन्य पुस्तको से शिक्षा और उपदेश की सामग्री लेकर तुलसी ने अपने मानस को समृद्ध किया है। लेखक ने ग्रन्थ के आरम्भ मे एक सामान्य उक्ति द्वारा अनेक शास्त्रो और ग्रन्थो के प्रति अपना आभार प्रकट किया है—

नानापुराण-निगमागम-सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमति मञ्जुलमातनोति।।

'रामचरितमानस' एक महाकाव्य है। इसमे राम की कथा का सागोपाग वर्णन है। काव्यशास्त्रियो ने महाकाव्य की जो परिभाषा की है, उस पर यह पूरा उतरता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि 'रचना कौशल, प्रबन्ध पटुता और सहृदयता इत्यादि सब गुणो का समाहार हमे रामचरितमानस मे मिलता है।' कथाकाव्य के सभी अगो का समुचित समन्वय इसकी विशेषता है। किसी वर्णन का अनावश्यक

विस्तार नही हुआ और न ही किसी प्रसग को उचित से अधिक महत्त्व दिया गया है। अयोध्या का सौन्दर्य, जनक का उद्यान, अभिषेक का आयोजन, सभी के वर्णनो मे समानुपात की रक्षा की गई है। पात्रो के कथोपकथनो मे भी सुसगति और समुचित सक्षेप है। मानसिक आवेगो और भावो के निरूपण मे कही भी अप्रयोजनीय आडम्बर नही है। समस्त इतिवृत्त सुव्यवस्थित और सुगठित है।

कवि कथा के मर्मस्पर्शी प्रसङ्गो से सुपरिचित है। सभी प्रसङ्गो का चयन और चित्रण मार्मिकता के आधार पर हुआ है। उसकी कल्पना का कौशल उन्ही घटनाओ और दृश्यो के अङ्कन मे अधिक प्रकट हुआ है, जो अपनी गम्भीरता और तीव्रता के कारण मानव-हृदय को द्रवित करनेवाले है। राम के जीवन मे ऐसे स्थलो की कमी भी नही है। नियति की निर्मम लीला का निदर्शन राम के वृत्त से अधिक शायद ही कही हुआ हो। रामवनगमन-प्रसग, वन मे एक राजकुमार की वन्य वेशभूषा और जटाजूट पर वनवासियो का द्रवित होना, भरत की आत्मावमानना, सीता का विरह, लक्ष्मण-मूर्च्छा आदि सभी स्थनो को कवि ने अपनी चित्रण-कला और व्यञ्जना-शक्ति से सवाक् बना दिया है। रचना की सर्गबद्धता, शैली की उदात्तता और गम्भीरता तथा वर्ण्य-विषय की व्यापकता और महत्ता के कारण रामचरित मानस वस्तुत एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है।

मानस की भाषा अत्यन्त प्रौढ और परिमार्जित अवधी है। सस्कृत के प्रभाव ने इसे काफी परिष्कृत कर दिया है। लेखक का भाषा पर असाधारण अधिकार है। इस अधिकार का कुशल निरूपण हुआ है, मानस की भाषा की प्रसङ्गानुरूपता मे। रसो के अनुसार कोमल और परुष पदविन्यास तो उसमे है ही, साथ ही सवादो मे भी भाषा का व्यवहार पात्रो की पदवी और प्रतिष्ठा के अनुरूप हुआ है। विदग्ध पात्र के कथन सस्कृत मिश्रित है और निम्नकोटि के चरित्रो की वाणी देहाती अवधी का रूप लिये हुए है। स्त्रियो के मु ह मे चलते प्रयोगो की अधिकता है।

(६) **सतसई अथवा राम सतसई**—इसमे सात सर्ग और ७४७ दोहे है। इसकी भाषा अपरिपक्व है और कई स्थलो पर दृष्टकूटो ने इसे दुर्बोध बना दिया है। इसके सर्गो मे भक्ति, उपासना, आत्मबोध, कर्म और ज्ञान आदि विषयो की मीमासा की गई है। कई विद्वान् इसे तुलसीकृत नही मानते। उनका कथन है कि कूट पदो की रचना तुलसी के काव्यादर्श के विरुद्ध है।

(७) **पार्वतीमगल (८) जानकीमंगल**—पार्वतीमगल और जानकीमगल मे पर्याप्त साम्य है। दोनो ग्रन्थो की भाषा अवधी है और शैली विवरणात्मक है। छन्द भी दोनो मे एक-से है और उनका व्यवस्था-क्रम-उपक्रम और उपसहार भी एक-सा है। पार्वतीमङ्गल मे शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन बडा ही रोचक बन पडा है।

(९) **गीतावली**—यह ग्रन्थ तुलसी के स्फुट गीतो का एक सकलन है। मानस की भॉति इसके भी सात काण्ड हैं। पदो की कुल सख्या ३२८ है। स्फुट सग्रह होने के कारण इस की कथा मे व्यवस्था और विन्यास का अभाव है। तुलसी के जीवन-काल मे ही इसके दो सस्करण हुए थे एक 'पदावली रामायण' और दूसरा 'गीतावली', । 'पदावली रामायण' को 'गीतावली' का रूप कब प्राप्त हुआ, यह कहना कठिन है। इसका काव्यत्व मनोहारी है और भावना-पक्ष अनूठा।

(१०) **विनयपत्रिका**—तुलसी की रचनाओ मे श्रेष्ठता की दृष्टि से मानस के उपरान्त विनयपत्रिका का स्थान है। जैसाकि इसके नाम से स्पष्ट है कि भक्त तुलसी ने कलिकाल के उत्पात से पीडित होकर भगवान् राम के चरणो मे अपनी प्रणत-प्रार्थना को एक पत्रिका के रूप मे भेजा है। इसकी रचना गीति-काव्य के रूप मे हुई है। इसी कारण इसमे अनेक राग-रागिनियो का प्रयोग हुआ है। विशेष भावना की अभिव्यक्ति के लिए उसके अनुरूप विशेष रागिनी का व्यवहार किया गया है। उदाहरणार्थ हर्ष और करुणा के लिए जयत श्री का प्रयोग हुआ है, शृङ्गार के लिए ललित गौरी और वीर भाव के लिए मारू, कान्हरा आदि रागो का। इस

ग्रन्थ मे कुल २७६ पद है, जिन्हे विषयानुसार ६ कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है—प्रार्थना या प्रशस्ति, चित्रकूट, काशी आदि स्थलो का वर्णन, मन को सम्बोधन करके शिक्षा देना, विश्व की निस्सारता, आत्मबोध और विरक्ति, आत्मकथात्मक निर्देश । इस ग्रन्थ मे घटनाओ की प्रबन्धात्मकता नही है, और न ही घटनाओ का कोई शृखला-बद्ध सूत्र है । इस ग्रन्थ की विशिष्ट प्रसिद्धि का कारण यह है कि इस मे ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की विशद और समन्वयात्मक रूप से अभिव्यक्ति हुई है। ग्रन्थ मे शान्त रस की प्रधानता है । इस मे व्रजभाषा का अपूर्व लालित्य दृष्टिगत होता है । सुललित पदावली, वाक्पाटव और उक्तिवैचित्र्य कवि के पण्डित्य के परिचायक हैं ।

(११) कृष्ण-गीतावली—यह एक मुक्तक रचना है जिस मे ६१ स्फुट पद सगृहीत है । आरम्भ मे न मगलाचरण है और न अत मे कोई शुभ कामना । काण्ड अथवा स्कध आदि का विभाजन भी इसमे नही है। सूरसागर का अनुसरण करते हुए, तुलसी ने कृष्णचरित पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पद-रचना की है । कृष्ण के जीवन की वडी भव्य झाँकिया कवि ने प्रस्तुत की है। शैली मे सरलता, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता का अच्छा सयोग बन पडा है । बाल-लीला, ऊखल-बन्धन, गोपी-विरह, भ्रमर-गीत और द्रौपदी चीर आदि विविध घटनाओ का मनोरम वर्णन हुआ है । इस रचना के कुछ पद 'सूरसागर' से साम्य रखते हैं ।

इसकी भाषा व्रज है और कवि की विचक्षण प्रतिभा की द्योतक है ।

(१२) बरवै रामायण—इसमे सात काड हैं जिनका विस्तार ६६ छन्दो मे हुआ है । वस्तुत यह भी स्फुट पदो का एक सग्रह है । इसमे रामकथा सकेत रूप मे कही गई है । विशेष ध्यान देने की बात यह है कि उसके प्रारम्भिक छन्दो का उद्देश्य अलङ्कार-निरूपण प्रतीत होता है । इस रचना मे भाव-पक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की साधना अधिक हुई है ।

(१३) **दोहावली**—यह एक सकलन है जिसमे ५७३ दोहे सगृहीत है। ये दोहे तुलसी के भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे लिये गये है। इनके विषय भी विविध है। नीति, भक्ति नाममाहात्म्य प्रेम का आदर्श तथा आत्मसम्बन्धी विषयो की सुन्दर चर्चा इसमे हुई है। कई दोहो मे अलङ्कार-निरूपण का प्रयास भी लक्षित होता है। प्रेम का उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हुए चातक सम्बन्धी अन्योक्तियाँ बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पडी है। परन्तु कुल मिलाकर देखने से इस रचना का काव्य-गुण साधारण कोटि का ही है।

(१४) **कवितावली और बाहुक**—इस ग्रन्थ के दो नाम ही यह बताते है कि ये दो ग्रन्थ है, परन्तु इनका मुद्रण एक ही पुस्तक के रूप मे हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे कुल ३६९ छन्द है जिसमे बाहुक के ४४ छन्द भी सम्मिलित है। इसका विभाजन सात काडो मे हुआ है। अन्तिम काड का विस्तार बहुत अधिक हो गया है। वस्तुत कवितावली एक सम्यक् ग्रन्थ न होकर समय-समय पर लिखे गये कवित्तो का सग्रह है। इसमे सवैया, कवित्त, छप्पय और झूलना छन्दो का प्रयोग हुआ है।

इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय भी राम की कथा है। 'राम चरित' के ओजस्वी और तेज-प्रधान रूप को प्रस्फुटित करना इसका उद्देश्य है। नायक के वीरत्व और शौर्य के प्रदर्शन के लिए कवित्त-सवैया आदि छन्दो का निर्वाचन हुआ है। ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य है—नायक के पौरुष और पराक्रम का सशक्त भाषा मे चित्रण। उदाहरणार्थ लका-दहन और युद्ध-वर्णन अत्यन्त ओजस्वी और परुषा वृत्ति मे निरूपित हुए है। एक सकलन होने के नाते इस ग्रन्थ का कथा-सूत्र विच्छिन्न है और कथा का काडो मे विभाजन भी अनियमित है। ग्रन्थ के आदि मे न कोई मङ्गलाचरण है और न कोई प्रस्तावना अथवा पूर्वकथा है। अन्तिम काड (उत्तर काड) की कथा का प्रधान कथा से कोई सम्बन्ध नही है। उसमे केवल उन छन्दो का सग्रह है जिनका सम्बन्ध कवि के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओ, समसामयिक परिस्थितियो तथा अन्यान्य विविध भावो से

है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के विषय इसमे बहुलता लिये हुए है। कवि के जीवन के आत्म-कथात्मक संकेत भी प्रचुर मात्रा मे इस ग्रन्थ मे मिलते हैं। इन सकेतो मे तुलमी के व्यक्तिगत जीवन की कटु अनुभूतियो का वर्णन मिलता है।

कवितावली के बाहुकखण्ड की रचना छप्पय, झूलना, मत्तगयद और घनाक्षरी छन्दो मे हुई है। कुल पद्य-सख्या ४४ है। इस कृति मे कवि ने हृदयद्रावक शब्दो मे हनुमान जी के सम्मुख अपने भुजाशूल के शमन की प्रार्थना की है। कविता का स्वर अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। कवि के प्रति पाठक की सवेदना पूर्ण वेग से जागृत होनी है। नियति की निष्ठुरता पर क्षोभ हुए विना नही रहता। भापा परिमार्जित और भावानुगामिनी है। व्रज भाषा मे लिखित तुलसी की यह उत्कृष्ट कृति है।

रस की दृष्टि से कवितावली मे प्रधानता वीर और रौद्र रसो को मिली है, शृङ्गार और शान्त के तथा वीभत्स और भयानक रसो के चित्र भी यथास्थान मिलते है।

तुलसी का महत्त्व—

तुलसी के महत्त्व को आचार्य शुक्ल ने एक ही वाक्य मे समाहित कर दिया हैं—**"गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिये।"** तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी कृतियो मे जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण सरल और अकृत्रिम रूप मे प्रस्तुत किया गया है। उनके महत्त्व को हम साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण को लक्ष्य मे रख कर प्रस्तुत करेंगे—

(क) साहित्यिक महत्त्व—

साहित्य-स्रष्टा के रूप मे उन्हे अपने युग का प्रतिनिधि हिन्दी कवि कहा जाता है। उनका साहित्य अपने युग के प्रचलित और प्रमुख काव्य के रूपो और विधानो का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है—

(१) उनके समय मे साहित्य-क्षेत्र मे काव्य-भाषा के दो रूप प्रचलित थे। व्रज और अवधी। तुलसी ने दोनो भाषाओ मे काव्य-सृष्टि की।

उनकी भाषा का स्तर बहुत ही परिष्कृत एव समुन्नत है। उनकी पदावली मे प्रौढता है। जो उनके पाण्डित्य की, और भाषा पर अधिकार की परिचायिका है।

(२) काव्य के रूपो मे तुलसी ने मुक्तक और प्रबन्ध दोनो क्षेत्रो मे समान रूप से अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इनके मुक्तको और गीतो मे सरस लालित्य है और प्रबन्ध-रचनाओ मे जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण है।

(३) इनके समय मे काव्याभिव्यक्ति के लिए कई शैलियाँ प्रचलित थी, जिनमे से निम्नलिखित पॉच प्रमुख थी। गोस्वामी जी ने इन्ही पॉचो मे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की है—

(अ) वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति—इस शैली मे इन्होने राम-जीवन के ओजस्वी चित्र प्रस्तुत किये और युद्ध-वर्णनो मे इसे और भी सजीव एव अनुप्राणित कर दिया।

(आ) गीत-पद्धति—हिन्दी मे इसका प्रवर्तन विद्यापति और सूरदास कर चुके थे। गोस्वामी जी ने अपने गीतो मे सस्कृत के लालित्य और देशभाषा के माधुर्य का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया। इनके गेय पदो मे प्रसगानुकूल कठिन और कोमल दोनो प्रकार के रूप देखने को मिलते है।

(इ) भाटो की कवित्त-सवैया-पद्धति—गोस्वामी जी की कविता-वलि इसी पद्धति पर रचित है।

(ई) दोहा-पद्धति—इस पद्धति मे नैतिक शिक्षा को प्रकट करने का प्रचलन अपभ्रश-काल से चला आता था। गोस्वामी जी ने भी इसी पद्धति मे अपनी सारगर्भित सूक्तियाँ कही है।

(उ) दोहा-चौपाई की प्रबन्ध-पद्धति—हिन्दी मे मलिक मुहम्मद जायसी आदि इसी पद्धति को अपना चुके थे। गोस्वामी जी ने अपने प्रबन्ध-काव्य 'रामचरित मानस' मे इस पद्धति को विकास की चरम-सीमा पर पहुँचा दिया।

इनके अतिरिक्त अन्य लोक-प्रचलित छन्दो मे भी गोस्वामी जी ने काव्य-रचना की।[1]

तुलसी उक्त पारिभाषिक दृष्टि से तो युग-प्रतिनिधि कवि थे ही, वे साथ ही अपनी अप्रतिम प्रतिभा, उदात्त और गम्भीर कल्पना तथा प्रसङ्गानुकूल पदयोजना की चारु चातुरी के कारण भी रससिद्ध कवीश्वर थे। उनकी कविता आज तक सहृदयो का कल-कण्ठहार बनी हुई है। उनका मानस जनमानस का मराल बना हुआ है। उनका काव्य भावपक्ष और कलापक्ष का एक सुन्दर समन्वित चित्र है। रस, रीति, अलकार, गुण, छन्द आदि कवि-कर्म के सभी उपादानो पर उनका एकच्छत्र अधिकार है। थोथा शब्दाडम्बर उनमे नही है। रचनाचातुरी का निरर्थक प्रदर्शन उनके काव्य मे कही-नही हुआ। अलङ्कारो के भार से उनकी कविता कही नही दबी। उनका काव्यादर्श सरल और उदार था—

का भाषा का संस्कृत, भाव चाहिये सांच।

उनकी कविता वस्तुत कविता का शृगार है। हरिऔध जी ने उनके सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि—

कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला।

'रामचरितमानस' मे वास्तव मे इस अद्वितीय कलाकार का मानस निहित है। डॉ० बलदेवप्रसाद ने 'तुलसीदर्शन' मे इस अपूर्व कृति पर जो उद्गार प्रकट किये है वे यथार्थ में उपयुक्त है। उन्होने लिखा है—

१ आचार्य हजारीप्रसाद जी ने उपर्युक्त पॉच रूपो के साथ गोस्वामी जी के दस काव्य-रूपो की गणना की है—(१) दोहा-चौपाई वाले चरित-काव्य (२) कवित्त-सवैया (३) दोहो मे अध्यात्म और नीति के उपदेश (४) बरवै छन्द (५) सोहर छन्द (६) विनय के पद (७) लीला के पद (८) वीर-काव्यो के लिए उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि (९) दोहो मे सगुन विचार (१०) मगल-काव्य।

'हिन्दी भाषा की पाचन-शक्ति का बढ़िया नमूना देखना हो तो 'रामचरितमानस' देखा जाय। भाषा के प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण की सच्ची बानगी देखना हो तो 'रामचरितमानस' देखा जाय। शब्दो की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियो के चमत्कार देखने हो तो 'रामचरितमानस' देखा जाय। मुहावरो का सफल प्रयोग, उनका मूल्य और उनकी हृदयहारिता देखना हो तो 'रामचरितमानस' देखा जाय।

(ख) धार्मिक महत्त्व—

तुलसीदास के साहित्य का धार्मिक महत्त्व उनकी समन्वयात्मक साधना मे निहित है। इस साधना के कुछेक निदर्शन ये है—

धर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय, शक्ति, शील और सौन्दर्य का समन्वय, निर्गुण और सगुण का—निराकार और साकार का समन्वय, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय, श्रद्धा और आसक्ति के साथ विवेक और वैराग्य का समन्वय, बुद्धिवाद और हृदयवाद का समन्वय, सब धर्मो का समन्वय, दर्शनो का समन्वय और एकसूत्र मे कहना चाहे, तो जीव, जगत् और ब्रह्म का समन्वय। इसी समन्वय ने ही तुलसी के युग मे 'राम-रसायन' का रूप धारण करके धर्म और समाज की गिरती हुई दीवार को थामने का काम किया है।

इसी समन्वय-साधना का सुफल यह हुआ कि धार्मिक क्षेत्र मे वैष्णवो और शैवो का विरोध जोकि उन दिनो उग्र रूप धारण कर रहा था, अधिकाश सीमा तक कम हो गया। तुलसी के राम ने अपने अनुयायियो को स्पष्ट चेतावनी दे दी कि—

शिवद्रोही मम दास कहावा, सपनेहु सोइ नर मोहि न पावा।
औरउ एक गुपुत मत सबहि कहहुँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोहि॥

इसी प्रकार शाक्तो और पुष्टि-मार्गियो की विशिष्टताओ को भी उन्होने अपने वैष्णव-धर्म मे प्रतिष्ठा का स्थान दिया। राम के व्यक्तित्व मे

उन्होने सभी भव्य और विभिन्न आदर्शो का समाहार किया। ज्ञान और भक्ति के परस्पर विरोध का प्रबल प्रतिवाद करते हुए उन्होने दोनो को सम्मान्य और समान रूप से उपादेय बतलाया। धार्मिकता के क्षेत्र मे समन्वय-साधना के अतिरिक्त तुलसी की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है उनकी सरल और ऋजु पन्थ की भक्ति। भक्त का दैन्य और आत्मसमर्पण ही उनकी भक्ति का सार है। उन्होने इस भक्ति-पद्धति को सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति कहा है—

सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

इस ऋजु पन्थ का प्रभाव यह हुआ कि उन दिनो योगियो और सिद्धो की गुह्य साधना के फलस्वरूप जो अनाचार फैल रहा था, भक्ति के नाम पर जो वाममार्गी प्रवृत्तियाँ, पनपने लगी थी, निम्न वर्ग के लोगो मे बाह्य करामातो को जो आदर मिलने लग पडा था, वह अब तुलसी की सरल पद्धति के आगे मन्द पडने लगा।

(ग) दार्शनिक महत्त्व—

तुलसी सस्कृत के दर्शन-शास्त्र से पूर्णतया परिचित थे। उनका दर्शन-ज्ञान गम्भीर और विपुल था। उनकी लेखन-शैली इतनी सरस थी कि कठिन और रहस्यमय दार्शनिक सिद्धान्तो को भी उन्होने अत्यन्त सुगम और सुबोध रूप मे प्रस्तुत किया है। दर्शन-क्षेत्र मे उन्हे अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का सामञ्जस्य अभिप्रेत था। उनके राम **'विधि हरि शंभु नचावन हारे'** हैं। राम के लिए उन्होने अद्वैतवादी विशेषणो का प्रयोग किया है, परन्तु साथ ही भक्तवत्सलता की पुट भी उसमे दे दी है। मूलतः अद्वैत होते हुए भी भक्त-हित के लिए वह विशिष्टाद्वैत भी हो जाता है—

एक अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानन्द पर धामा।

परन्तु,

सो केवल भगतन हित लागी, परम कृपालु प्रनत अनुरागी॥

इसीलिए निर्गुण और सगुण मे तत्त्वत कोई अन्तर उनकी दृष्टि मे

नही है—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।
अगुन, अरूप, अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।

'सब भाँति अलौकिक करनी' और सर्वथा अनिर्वचनीय होते हुए भी वह भक्ति के तार से बँधा हुआ है। 'भगतहित' वह 'दशरथ सुत' बनता है—

जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथसुत भगत हित, कोसलपति भगवान ।।

जगत् को तुलसी ने ब्रह्म का चिदचिद्विशिष्ट रूप माना है, अत 'सियाराम-मय' मान कर उसे प्रणाम किया है—

सियाराममय सब जग जानी । करहु प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

(घ) सामाजिक महत्त्व—

तुलसी ने सामाजिक समन्वय की साधना मे एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा की है जिसमे समाज के भिन्न-भिन्न अङ्ग अपने वर्ण और आश्रम की मर्यादा का पालन करते हुए लोकहित की सामान्य साधना मे रत रहते है । तुलसी की इस व्यवस्था को हम एक 'यथार्थ समाजवाद' का नाम दे सकते है, जिसमे साम्य का दम्भ नही है, अपितु समभाव की पृष्ठभूमि पर अपने-अपने सामाजिक दायित्व का पालन करते हुए लोक-धर्म को सुदृढ करने की चेष्टा की गई है । तुलसी के 'रामराज्य' का भव्य चित्र देखिए—

बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ।।
बरनाश्रम निज निज धरम । निरत बेदपथ लोग ।।
चलहिं सदा पावहिं सुख । नहिं भय सोग न रोग ।।
सब नर करहिं परस्पर प्रीति । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिरीती ।।
सब उदार सब पर उपकारी । विप्र चरन सेवक नर नारी ।।

समाहार—तुलसी निर्विवाद रूप से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि है । उनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य के इतिहास मे एक स्वर्णिम परिच्छेद जोडती है । उनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक रूपो मे विकसित हुई । वह

एक साथ ही कवि, भक्त, पण्डित, सुधारक, लोकनायक और भविष्य-स्रष्टा तथा द्रष्टा थे। सभी रूपो मे उनका काव्यकौशल समान विदग्धता से व्यक्त हुआ है। जीवन की जो सरस, सुन्दर और सामञ्जस्यपूर्ण व्याख्या उनकी लेखनी से प्रादुर्भूत हुई, वह अन्यत्र बहुत कम मिलती है। उनके समस्त काव्य का आधारभूत सिद्धान्त रहा है 'मर्यादा और माधुर्य का समन्वय।' उनकी कृतियाँ जनता के लिए एक अपूर्व मोहिनी ले कर तत्कालीन जनमन की गीता बन गई। उनके साहित्य मे सतप्त हृदय पर सुधावृष्टि करने की जो क्षमता है उसे देखकर किसी आलोचक ने उन्हे हिन्दी का 'ससी' कहकर आहृत किया है। उनकी कृतियाँ सहृदय के मानस को जिस अपूर्व रस से प्लावित करती है, उसका कुछ आभास निम्नलिखित उक्तियो से मिल जायगा। उनके समसामयिक और सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित श्रीमधुसूदन सरस्वती ने लिखा था—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् जंगमः तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

कविवर अब्दुर्रहीम खानखाना ने उनके मानस की प्रशस्ति इस प्रकार की—

रामचरितमानस बिमल, सन्तन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को वेदसम, जमनहिं प्रगट कुरान॥

तुलसी वस्तुत सरस्वती के वरद पुत्र थे। अपनी रचनाओ के निर्माण द्वारा यद्यपि उनका मूल उद्देश्य 'स्वान्त सुख' था, पर उससे जनमङ्गल की भी अधिकाधिक सिद्धि हो गई। उनका यह मत था—

कीरति भूति भनिति भलि सोइ
सुरसरि सम सब कर हित होइ॥

(२) हृदयराम

जीवन—हृदयराम का पूरा परिचय दे सकना कठिन है। पर प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार हृदयराम भल्ला परिवार के क्षत्रिय थे। वे गुरु अमरदास के वशज और भाई गुरुदास जी के निकट-सम्बन्धी कृष्णदास के पुत्र थे। कृष्णदास गुरु गोविन्द जी के मामा थे। प्रसिद्ध है कि गुरु अर्जुन-

देव जी के दो विवाह हुए थे। उनका पहला विवाह सवत् १६३२ मे चदनदास खत्री की कन्या रामदेवी से तथा दूसरा विवाह सवत् १६४६ मे कृष्णदास भल्ला की कन्या गगादेवी से हुआ था। हृदयराम ने स्वय भी अपने पिता का नाम कृष्णदास बताया है, यथा—

कृष्णदास तनु कुल प्रकास जस दीपक रच्छन।

गुरु हरगोविन्द के मामा और हृदयराम के पिता 'कृष्णदास' दो व्यक्ति हैं या एक—यह सिद्ध करने के लिए ऐतिहासिक आधार नही मिलता। उक्त कथन अभी तक कोरी किवदन्ति-मात्र है।

रचना—हृदयराम की प्रख्यात रचना 'हनुमन्नाटक' है। कहते हैं कि गुरु गोविन्दसिह जी 'हनुमन्नाटक' की प्रति सदा अपने पास रखते थे। बताया जाता है कि उक्त रचना सस्कृत हनुमन्नाटक की अनूदित कृति है। पर रचना का अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतीत नही होता। दोनो रचनाओ मे छन्द-सख्या एक-सी नही है, सस्कृत हनुमन्नाटक की पद्यसख्या ५८१ है, और हिन्दी हनुमन्नाटक की पद्यसख्या १४४०। वस्तुत यह रचना मौलिक रूप मे उपलब्ध नही है। गुरु गोविन्दसिह के दरबारी कवि काशीराम और हसराम ने इसके खडित अथवा अप्राप्य स्थलो की पाठ-पूर्ति कर दी है। अत रचना के विषय मे प्रामाणिक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है। रचना का निर्माण सवत् १६८० दिया हुआ है। इसी के अनुसार हृदयराम का जन्म अनुमानत सवत् १६२० के आसपास माना जा सकता है।

हनुमन्नाटक बडी हृदयग्राही रचना है। कवि ने कई मार्मिक प्रसगो मे काव्यकौशल खूब निभाया है। अनुप्रास तथा अन्य अलकारो की योजना इतनी सरल और स्वाभाविक है कि इससे भावोन्मेष मे किसी प्रकार की क्षति नही आने पाई। रचना का मुख्य विषय रामचरित ही है, अत इसमे 'वीररस' की प्रमुखता है, पर शान्त, हास्य और शृगाररस भी थोडी मात्रा मे नही है। इस नाटक की भाषा ब्रजभाषा है, पर उसमे इधर-उधर पजाबी शब्द भी मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ, इसमे 'भाई' के लिए

सर्वत्र पजाबी भाषा मे बहुप्रयुक्त 'वीर' शब्द का व्यवहार हुआ है। नाटक के कुछ पद्य देखिए—

(१)

श्री रघुवंश शिरोमणि की यह कीरति है किधौ दूती बखानौं।
आन दई कमला हरि की यह बात सुनै सुर लोक डरानौं।
जान यहै मुख चार किये विधि शंभु रहे अजहूँ लपटानौ।
सक्र सहस्र किये चख चौंक छँहूमुख व्याह कियौ न सयानौ।।

(२)

गाढ़ी कसीस लगी करकी करकी छिटकी कमठी करकी।
अरि की छतियाँ दरकी फरकी छुटी जोग जुटी अँखियाँ हरकी।
पलकी खरकी हरिकी निधि नीर धराधर की अहि ऊपर की।
भई चाप धुनी सुमहा डरकी भरकी भट भीर स्वयंवर की।।

(३) अग्रदास

स्वामी अग्रदास तुलसी के समकालीन थे और अष्टछाप के कवि श्री कृष्णदास जी के शिष्य थे। सवत् १६३२ मे इनका आविर्भाव हुआ। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' के लेखक श्री नाभादास जी इनके शिष्य थे। इन्हे रामानन्दी सम्प्रदाय मे दीक्षा मिली थी। इनके बने हुए चार ग्रन्थ प्रकाश मे आये है—(१) हितोपदेश उपखाणा बावनी, (२) ध्यानमजरी, (३) रामध्यान-मजरी, (४) कुण्डलिया।

प्रथम ग्रन्थ मे ६८ कुण्डलियाँ हैं। ग्रन्थ के नाम से इनकी सख्या बावन होनी चाहिए। प्रतीत होता है १६ और छन्द बाद मे किसी ने जोड दिये है। इस ग्रन्थ मे कवि को बहुत सफलता मिली है।

'ध्यानमजरी' का विस्तार ६९ पदो मे है। राम और उनके भाइयो के सौन्दर्य का निरूपण इस ग्रन्थ मे किया गया है। सरयू और अयोध्या के वर्णन भी कवि ने किये है। इनकी काव्य-शैली कृष्णोपासक कवियो का अनुसरण करती है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। राम की मुखच्छवि निहारिए—

कु डल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा ।
तिन को निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा ।।
मेचक कुटिल बिसाल सरोरुह नैन सुहाए ।
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना आए ।।

(४) नाभादास

नाभादास का वास्तविक नाम नारायणदास था। कई लोग इन्हे जाति का डोम बताते हैं और कई क्षत्रिय। इनका जन्म स० १६५७ के आसपास माना जाता है। ये बडे भक्त और माधुसेवी वृत्ति के व्यक्ति थे। स्वामी अग्रदास जी इनके गुरु थे। रामोपासना के सम्वन्ध मे इन्होने वहुत सुन्दर पद लिखे थे। परन्तु उन पदो की अपेक्षा इनका ग्रन्थ 'भक्तमाल' बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ मे लेखक ने भक्तो की कीर्तिगाथा का गान किया है। जीवन-चरित लिखना उनका उद्देश्य न था इसीलिए तिथि आदि के निर्देश इस ग्रन्थ मे नही हैं। 'भक्तमाल' का विस्तार ३१६ छप्पयो मे हुआ है। इनमे २०० भक्तो का माहात्म्य बडी श्रद्धा से वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ ने जनता मे भक्तो, सन्तो और महात्माओ के प्रति पूज्य भावना उत्पन्न की। भक्ति के वल से इन महात्माओ ने जो करामाते और चमत्कार दिखाये थे, 'भक्तमाल' मे उन सब का सकलन है। जनसाधारण पर इस ग्रन्थ का वहुत प्रभाव रहा है।

इसके अतिरिक्त नाभादास जी ने दो 'अष्टयाम' भी वनाये। इनमे से एक व्रजभाषा का गद्य-ग्रन्थ है और दूसरे की रचना दोहा-चौपाई पद्धति पर हुई है।

गद्य का निदर्शन देखिए—

फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करि कै श्री महेद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठ गये।

पद्य का नमूना निम्नलिखित है—

अवधपुरी को शोभा जैसी। कहि नहि सकहि शेष श्रुति जैसी ।।
रचित कोट कल धौत सुहावन। विविध रंग मति अति मन भावन ।।

(५) प्राणचन्द चौहान

ये जहाँगीर के समसामयिक थे। स० १६६७ इनका आविर्भाव-काल माना जाता है। इन्होने सस्कृत के सवाद-नाटको की पद्धति पर 'रामायण महानाटक' लिखा। इसमे राम की कथा एक सवाद के रूप मे वर्णित है। शैली मे विवरणात्मकता अधिक है, काव्यसौष्ठव न्यून है। कुछ निदर्शन निम्नलिखित है—

आदि पुरुष बरनौं केहि भाँती। चाँद सुरज तहँ दिवस न राती॥
निरगुन रूप करै सिव ध्याना। चारि वेद गुन जोरि बखाना॥
तीनो गुन जानै ससारा। सिरजै पालै भंजन हारा॥
श्रवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना॥

रामकाव्य की परम्परा

रामकव्य की इस परम्परा को भक्तिकाल मे निर्वहित करने वालो मे केशव का नाम उल्लेख्य है, पर मूलत उन्होने आचार्य रूप मे ही रामकथा का गान किया है, भक्त-कवि रूप मे नही। अत इसका परिचय भक्ति-कालीन अन्य कवियो मे प्रस्तुत किया जा रहा है। रामकाव्य की यह परम्परा रीति-काल मे उपलब्ध नही होती। आधुनिक काल मे राम का गौरव-गान गाने वाले कवियो मे राष्ट्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त तथा रामचरित उपाध्याय के नाम विशेषत उल्लेखनीय है।

रामकाव्य और कृष्णकाव्य की तुलना

भक्तिकालीन सगुणधारा का काव्य भी दो विभिन्न रूपो मे दृष्टिगत होता है—रामकाव्य और कृष्णकाव्य। जहाँ तक विष्णु को अवतार मान-कर सगुण भक्ति करने का प्रश्न है, इन दोनो काव्यो के मूलभूत सिद्धान्त मे कोई अन्तर नही है। दोनो पक्ष भगवान् के साकार रूप पर पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना रखते है, परन्तु सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति और काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से दोनो मे पर्याप्त अन्तर है। जिमका सक्षिप्त विवरण

इस प्रकार है—

सिद्धान्त—रामकाव्य मे 'ब्रह्म' और 'जीव' की मर्यादा का पालन करते हुए 'राम' का अतिमानव के रूप मे तथा अन्य पात्रो का मर्यादित मानव के रूप मे निरूपण हुआ है। अन्य सभी पात्र किसी-न-किसी रूप मे राम के सेवक है और उनका आदर्श स्तर भी भिन्न-भिन्न है। विभीषण, अगद हनुमान, लक्ष्मण, भरत और जानकी क्रमश उत्तरोत्तर सेवक पद का आदर्श स्थापित करते है। अत रामकाव्य मे सेव्य-सेवक भक्ति का प्रतिपादन हुआ है। इसके विपरीत कृष्णकाव्य मे 'ब्रह्म' और 'जीव' की कोई मर्यादा नही, दोनो मे अभेद है। यही कारण है कि कृष्णभक्त कृष्ण के सेवक न होकर उनके सखा है—दोनो मे सखा-सख्य-सम्बन्ध' है।

रामकाव्य मे भगवद्भक्ति के अतिरिक्त कर्मकाण्ड और वेद-मर्यादा पर भी विश्वास प्रकट किया गया है, पर कृष्णकाव्य ने कर्मकाण्ड और वेद-मर्यादा की अस्वीकृति करके केवल भगवद्भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है।

रचनाशैली—सिद्धान्तो की भिन्नता के कारण इनकी रचनाशैली मे भी अन्तर आ गया है। रामकाव्य मे राम का चरित्र विभिन्न राष्ट्रिय चरित्रो को आत्मसात् किये हुए है, वह आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श राजा तथा आदर्श विरोधी भी है। उसका चरित्र स्वभावत महाकाव्य का विषय है। अत रामकाव्य प्रबन्ध-काव्यो के रूप मे उतरे है और यह परम्परा भक्तिकाल से लेकर नवीन युग तक वर्तमान है। इसके अतिरिक्त रामकाव्य का प्रतिपादन मुक्तक-रूप मे भी हुआ है। रामकाव्य के इन दोनो रूपो मे उस युग की सभी शैलियो को अपनाया गया है। पर उधर कृष्ण-काव्य मे अधिकाशत कृष्ण का चरित्र बालकृष्ण के रूप मे चित्रित किया गया है, और वह भी अतिमानव के रूप मे। उसका यह रूप प्रबन्ध-काव्य के अनुरूप नही है अत उसकी अभिव्यक्ति मुक्तक गीतो मे हुई है।

भाषा—भाषा के विषय मे रामकाव्य मे उदारता बर्ती गई है।

राम की लीलाभूमि 'अवध' की भाषा के अतिरिक्त इसमे ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत कृष्णकाव्य मे कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज की 'ब्रजभाषा' का व्यवहार हुआ है, किसी अन्य भाषा का नही।

जन-सम्पर्क—रामभक्तो ने अपने काव्य मे लोक-मर्यादा पालन का सदुपदेश प्रस्तुत किया है, जबकि कृष्णभक्तो ने अपनी रचनाएँ लोकरजक ही रहने दी हैं। अत रामकाव्यो मे युग के विचारो का प्रतिबिम्ब भी यत्र-तत्र मिल जाता है, पर कृष्णकाव्यो पर युग की गतिविधि का मानो कोई प्रभाव नही पडा। इस प्रकार रामकाव्य और कृष्णकाव्य सगुण भक्ति के प्रतिपादक के रूप मे मूलत एक होने पर भी तथा सिद्धान्त, रचनाशैली, भाषा तथा जन-सम्पर्क के दृष्टिकोण से परस्पर विभिन्न हैं।

भक्तिकाल के अन्य कवि

(१) दुरसाजी

मारवार के धूदला नामक गॉव मे एक गरीब चारण-परिवार मे सवत् १५९२ मे दुरसा जी का जन्म हुआ था। ये आढा गोत्रीय महाजी के पुत्र और अमराजी के पौत्र थे। वचपन मे पितृसुख से वचित बालक दुरसा जी ने किसी किसान के यहाँ नौकरी कर ली। भाग्यवश बगडी के ठाकुर प्रतापसिह ने इनका वहाँ से उद्धार किया। इन्ही ठाकुर जी की सहायता से पढ-लिखकर दुरसा जी होशियार हुए और उन्ही के सलाहकार और सेनापति हुए। इनका निधन १२७ वर्ष की पूर्णायु मे सवत् १७१२ मे हुआ।

दुरसा जी की रचनाएँ ये हैं—विरुद छहत्तरी और कुमार श्री अजाजी नी सुचर मोरी नी गजगत। इन छोटी रचनाओ के अलावा इनके कुछ छप्पय आदि भी पाये जाते हैं। दुरसा जी हिन्दू-धर्म, हिन्दू-जाति और हिन्दू-सस्कृति के अमरगायक थे। उस समय की हिन्दू-जनता की विपन्ना-

वस्था का बडा सजीव वर्णन करके दुरसा जी ने अपने राष्ट्रिय कर्तव्य का पालन किया था।

दुरसा जी की भाषा वीररसपूर्ण, भावमयी तथा सरस डिंगल है। रचना देखिए —

अकबर कीना आद हीन्दू नृप हाजर हुआ।
मेदपाट मरजाद पग लागो न प्रताप सी॥
है अकबर घर हाण डाण ग्रहे नीची दिसट।
तजै न ऊँची ताण पोरस राण प्रताप सी॥
अकबर हियें उचाट रात दिवस लागी रहे।
रजबट बट समराट पाटप राण प्रताप सी॥
अकबर जासी आप दिल्ली पासी दूसरा।
पुनरासी परताप सुजस न जासी सूरमा॥

(२) पृथ्वीराज

पृथ्वीराज का जन्म सवत् १६०६ मे राव कल्याणमल के घर हुआ। ये 'बीकानेर' राज्य के सस्थापक राव बीका जी के वशज और जैतसी के पौत्र थे। इनके वडे भाई 'रायसिह' अकबर के सेनापति थे। पृथ्वीराज स्वभावत वीर, स्वदेशाभिमानी स्पष्टवक्ता और निर्भीक पुरुष थे। ये वडे सहृदय कवि एव निष्णात सगीतज्ञ थे, साहित्य, दर्शन, छन्दशास्त्र, ज्योतिष आदि विद्याओ मे पारगत थे। ये अकबर के विशेष प्रीतिपात्र होने से उसकी सभा मे विद्यमान थे। यह घटना इतिहास-प्रसिद्ध है कि इन्होने महाराणा प्रताप को ओजस्वी भाषा मे पत्र लिखा था, जिससे उन्हे अकबर से सन्धि न करने की प्रेरणा मिली थी।

पृथ्वीराज की ये रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—बेलि क्रिसन रुकमणी री, दशरथ रावउत वसदेरावउत, गगालहरी। इनके अतिरिक्त इनके कुछ फुटकर गीत, दोहे, छप्पय आदि भी प्राप्त हैं।

'बेलि क्रिसन रुकमणी री' ३०५ छन्द मे समाप्त हुआ एक खण्डकाव्य है। इसमे कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह-प्रसग है, जो कि शृगार का सर्व-

श्रेष्ठ प्रयोग है। इसकी भाषा मँजी हुई, ललित और प्रवाहमयी है। इस रचना को डिंगल मे श्रृगार रस का ज्वलन्त उदाहरण माना जाता है।

पृथ्वीराज वीररस के कवि भी थे। इनके वीररसपूर्ण तथा देशभक्ति से ओत-प्रोत पद्य राष्ट्रियता के द्योतक है। वस्तुत भूषण से भी पहले राष्ट्रिय कविता करने का श्रेय पृथ्वीराज को दिया जा सकता है। ये जितने उच्चकोटि के वीररस के कवि है, उतने ही उच्चकोटि के भक्त-कवि भी हैं।

इनकी रचना का नमूना देखिए—

माई एहडा पूत जण जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझ कै जाण सिराणे सांप॥
अइरे अकबरियाह तेज तुहालो तुरकड़ा।
नमनम नीसरियाह राण बिना सहराब जी॥
बाही राण प्रताप सी बगतर में बरछीह।
जाणक झींगर जाल में मुंह ढाक्यो मच्छीह॥

(३) रहीम

जीवन-परिचय—इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानाखाना था। कुशल सूक्तियो और जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र को प्रस्तुत करने के कारण यह हिन्दी-साहित्य मे अपने इसी लघु नाम से प्रसिद्ध है। इनका जन्म स० १६१३ मे आगरा मे हुआ था। इनके पिता नवाब बैरमखाँ अकबर बादशाह के प्रसिद्ध सामन्त और अभिभावक थे। इनकी चार वर्ष की अवस्था मे ही इनके पिता बैरमखाँ का एक पठान ने वध कर दिया और अकबर ने इनके भरण-पोषण की व्यवस्था की। यह एक कुशाग्रबुद्धि बालक थे। अरबी, फारसी के साथ-साथ इन्होने तुर्की, सस्कृत और हिन्दी का भी प्रचुर ज्ञान बहुत शीघ्र उपार्जित कर लिया। अकबर इनकी प्रखर बुद्धि और सर्वतोमुखी प्रतिभा पर बहुत प्रसन्न था और उसने इन्हे अपने बेटे जहागीर का शिक्षक बना दिया। सामारिक विद्या का भी इन्हे

अच्छा अभ्यास था और अनेक युद्धो मे इन्होने बडी वीरतापूर्वक शत्रुओ को परास्त कर अपनी रण-कुशलता का परिचय भी दिया था। इनके जीवन का एक बहुत बडा भाग युद्धो मे ही बीता। धन और सम्मान इन्हे प्रचुर परिमाण मे प्राप्त हुआ, परन्तु विधि की विडम्बना, इनका जीवन शान्त और सुखमय नही रहा। इनके चारो पुत्रो का देहान्त इनके जीवनकाल मे ही हो गया था और जीवन के अन्तिम दिनो मे सम्राट् जहाँगीर से इनका विरोध भी हो गया था। परिवारिक दु ख और राज-कीय कोप के कारण इनका हृदय अशान्त रहता था। वैसे आप विनोदी प्रकृति के मस्त और वैभव-प्रिय व्यक्ति थे। धनी, मानी और दानी—तीन शब्दो मे आपकी प्रकृतिगत विशिष्टता समाहित हो सकती है। इनकी उदारता और दानवीरता के सम्बन्ध मे अनेक प्रवाद प्रचलित है। एक किवदन्ति के अनुसार इन्होने एक छप्पय पर प्रसन्न होकर कवि गग को छत्तीस लाख रुपये पुरास्कृत किये थे। सवत् १६८२ या १६८३ इनकी मृत्यु हुई।

रचनाएं—इनके निम्नलिखित ग्रन्थ कहे जाते है—

(१) रहीम-दोहावली या सतसई, (२) बरवै नायिका-भेद, (३) बरवै, (४) मदनाष्टक, (५) शृङ्गार-सोरठ, (६) नगर-शोभा, (७) राम-पञ्चाध्यायी, (८) रहीम-रत्नावली, (९) खेट कौतुकम्, (१०) रहीम-काव्य, (११) फुटकर कवित्त-सवैये।

(१) दोहावली—रहीम के ग्रन्थो मे दोहावली को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाता है। जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ और व्यावहारिक जगत् की स्वार्थपरता के सुन्दर चित्र इन दोहो मे मिलते है—

मांगत मुकरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
मांगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ॥
कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गए पछिताय।
सम्पति के सब जात है, विपत्ति सबै ले जाय॥

(२) बरवै नायिका-भेद—यह एक शृङ्गारिक रचना है। नायिका-

भेद की भित्ति पर कवि ने अच्छा काव्य-कौशल दिखलाया है—

लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ॥
पीतम इक सुमरिनियाँ मोंहि देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु॥

(३) **बरवै**—यह बरवै छन्दो मे एक फुटकर रचना है। इस छन्द पर रहीम का पूर्ण अधिकार था। प्रसिद्ध तो यह है कि तुलसी ने भी रहीम के इस छन्द से प्रभावित होकर अपने ग्रन्थ 'बरवै रामायण' की रचना की थी। यह रचना रहीम के 'नायिका-भेद' से अधिक प्रौढ है।

(४) **मदनाष्टक**—यह एक भाषा-कौतुक है। इसमे सस्कृत और हिन्दी की मिश्र रचना हुई है। आधा चरण सस्कृत और आधा हिन्दी मे है। देखिए—

दृष्ट्वा तत्र विचित्रतां तरुलतां मै था गया बाग में।
काचित् तत्र कुरङ्ग-शावनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी॥

इस ग्रन्थ से रहीम का सस्कृत का अच्छा ज्ञान प्रकट होता है।

(५) **नगर-शोभा**—इस ग्रन्थ मे कवि ने दोहा छन्द मे भिन्न-भिन्न जातियो की स्त्रियो के सौन्दर्य का वर्णन किया है। यह पुस्तक रहीम की घुमक्कड प्रकृति का परिचय देती है।

(६) **खेट-कौतुकम्**—सस्कृत और फारसी की खिचडी भाषा मे कवि ने इस रचना मे ज्योतिष की बातो का वर्णन किया है।

(७) **रहीम-काव्य तथा अन्य ग्रन्थ**—हिन्दी और सस्कृत भाषा की मिश्रित छटा 'रहीम-काव्य' मे भी मिलती है। हिन्दू और मुसलमानो को साहित्यिक आधार पर समीप लाने का यह एक प्रयास-सा प्रतीत होता है। 'शृङ्गार-सोरठा' और 'फुटकर कवित्त' आदि अभी अपूर्णरूप मे उपलब्ध हैं। निम्न कवित्त मे विधि के विधान की अटलता और मानुष प्रयास की विवशता की झलक देखिए—

बड़न सो जान पहिचान कै रहीम कहा ।
जौ पै करतार ही न सुख देनहार है ।
सीतहर सूरज सो नेह कियो याही हेत ।
ताहू पै कमल जारि डारत तुसार है ।
छीरनिधि मांहि धंस्यो, सकर के सीस बस्यो ।
तऊ ना कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै ।
बडो रिझवार या चकोर दरबार है, पै ।
कलानिधि यार तऊ चाखत अगार है ।

काव्यसौष्ठव—अनुभूति की मार्मिकता और भावुकता-पूर्ण सवेदना रहीम की कविता का मुख्य आधार है । जीवन के उत्थान और पतन के उन्हे व्यक्तिगत अनुभव हुए थे और उन्ही अनुभवो की व्यञ्जना बडे हृदय-ग्राही रूप मे इन्होने की है । उनकी सूक्तियाँ तुलसी के वचनो के समान ही जनसाधारण की सम्पत्ति बन गई है । उनकी कविता के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमान होते हुए भी उनका हिन्दी और सस्कृत का ज्ञान प्रचुर था और हिन्दू-सस्कृति के प्रति उनका समुचित अनुराग था । खुसरो और जायसी आदि पूर्ववर्ती मुसलमान कवियो ने हिन्दू देवी-देवताओ और रीति-त्योहारो के चित्रण मे जो भयकर भूले की है रहीम का काव्य उनसे अछूता है । रहीम को हिन्दुओ के दर्शन और साहित्य का भी अच्छा और यथार्थ ज्ञान था । नायिका-भेद मे जो सरस और मनोरम चित्र इन्होने प्रस्तुत किये हैं वे केवल कल्पना की क्रीडा नही हैं । उनमे भारतीय जीवन के प्रेम का यथार्थ स्वरूप मिलता है । रहीम का काव्य कल्पना की ऊँची उडान, ऊहात्मकता और उक्ति की दुरूह वक्रताओ से सर्वथा मुक्त है । वह सरल, सरस, सुबोध और प्रसाद-गुण-गुम्फित है । इन्होंने अलङ्कारो का प्रयोग काव्य के प्रसाधक के रूप मे उपयुक्त मात्रा मे ही किया है, रीति-काव्य की भाँति अलङ्कार-योजना को कविता का प्राण नही समझा । अर्थालङ्कारो का प्रयोग इन्होने बडी सुन्दर शैली मे किया है । उपमा, रूपक, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति,

अप्रस्तुतप्रशसा आदि के स्वच्छ निदर्शन इनके काव्य मे मिलते है। शृ गार-प्रधान होते हुए भी अपने काव्य मे इन्होने कही-कही व्यग्य, कटाक्ष तथा मृदु हास्य की सुन्दर व्यञ्जना की है—

ये रहीम दर दर फिरें, मागि मधुकरी खाहि।
यारो यारी छाडिये, अब रहीम वे नाहि॥

विपन्नावस्था मे मित्रो की उपेक्षा-वृत्ति पर मर्माहत हृदय की यह व्यग्योक्ति कितनी हृदय-द्रावक है।

भाषा—इनकी रचनाएँ ब्रज और अवधी दोनो मे हुई है। रहीम ने इन दोनो भाषाओ मे समान अधिकार से काव्य-रचना की है। ब्रजभाषा के सरल और सुबोध प्रयोग मे तो कही-कही यह अष्टछाप के कवियो को भी पीछे छोड जाते है। अवधी मे तुलसीदास इनके आदर्श थे। व्यजना की तीव्रता और भावो की सुस्पष्टता के लिए रहीम ने अरबी और फारसी शब्दो का प्रयोग भी जानबूझकर किया है। भाषा की सुबोधता का ही यह प्रभाव है कि उनके दोहे 'टकसाली सिक्के की भाँति' जनसाधारण मे प्रचलित है। लोक-व्यवहार और लोकनीति से सम्बन्ध रखने वाले दोहो मे रहीम ने वस्तुत अपनी अनुभूति को व्यापक और सहृदय-सवेद्य बना दिया है। इनकी अधिकाश कविता दोहो मे ही हुई है, परन्तु बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि छन्दो के अतिरिक्त पदो मे भी इन्होने थोडी-बहुत रचना की है।

रहीम उन उदार-हृदय और महामना व्यक्तियो मे है जिन्होने साम्प्रदायिक सकीर्णता को दूर रखकर मानवहित की दृष्टि से साहित्य-साधना की है। अपनी व्यापक दृष्टि, उदार सवेदना और उदात्त वृत्ति के कारण रहीम ने हिन्दी-साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

(४) केशवदास

जीवन—केशवदास का जन्म सवत् १६१२ मे टेहरी मे हुआ। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम काशीनाथ था। इनकी मृत्यु स० १६७४ अथवा १६८० मे हुई मानी जाती है। ओरछानरेश राजा

रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह इनका बहुत सम्मान करते थे। कहते हैं कि इन्द्रजीतसिंह ने इन्हे गुरु मानकर २१ गाँव भेंट मे दिये थे। केशव ने उनकी प्रशस्ति मे लिखा है—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत जीवै जुग जुग,
जाके राज केसौदास राज सो करत है।

रचनाएँ—केशव-रचित उपलब्ध कृतियो मे से निम्नलिखित सात कृतियाँ उल्लेखनीय है—रसिकप्रिया, कविप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेव-चरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका। इन कृतियो के अवलोकन से ज्ञात होता है कि केशव अपनी रचनाओ मे वीरगाथाकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के काव्यगत आदर्शो का समाहार करना चाहते थे। इन ग्रन्थो मे से केशव की ख्याति का आधार प्रथम तीन ग्रन्थ है। रसिकप्रिया और कविप्रिया काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। रामचन्द्रिका रामचरित से सम्बद्ध महाकाव्य है, और साथ ही अलकारो तथा छन्दो का उदाहरण-सग्रह भी। शेष चार ग्रन्थ साधारण कोटि के हैं। वीरसिंहदेव-चरित मे इन्द्रजीतसिंह के अनुज वीरसिंह की वीरगाथा का गौरव-गान है और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका मे वीरसिंह के परम हितैषी सम्राट् जहाँगीर का यशोगान है। रतनबावनी मे ओडछा-नरेश मधुकरशाह के पुत्र रतनसेन की वीरता का वर्णन है। विज्ञान-गीता की रचना कवि ने वृद्धावस्था मे की थी। इस ग्रन्थ मे रूपक-शैली पर आध्यात्मिक विषयो का निरूपण हुआ है। इस पर कृष्ण-मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की नाटकशैली का प्रभाव स्पष्टत लक्षित होता है।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त केशव-रचित अन्य ग्रन्थ भी कहे जाते हैं। वे या तो सामान्य कोटि के है या अप्रामाणिक हैं।

प्रथम तीन ग्रन्थो के आधार पर वे हमारे सम्मुख आचार्य और कवि के रूप मे आते है। इन दो दृष्टियो को लक्ष्य मे रखकर हम केशव का विवेचन करेंगे।

आचार्यत्व —

रसिकप्रिया—इस ग्रन्थ मे १६ प्रकाश हैं, जिनमे शृंगार-रस, उसके भेदोपभेद तथा नायक-नायिका-भेद का वर्णन है। इसमे अन्य रसो की भी चर्चा है, पर उनका अन्तर्भाव भी केशव ने शृगार-रस मे कर दिया है, जोकि शास्त्रविरुद्ध तो है ही, साथ ही हास्यास्पद भी है। इनके अतिरिक्त रसवृत्तियो तथा रस-दोषो का भी इस ग्रन्थ मे उल्लेख हुआ है।

कविप्रिया—इसकी रचना रसिकप्रिया के बाद हुई है। इसमे भी १६ प्रभाव हैं। केशव ने प्रभावो की इतनी सख्या जानबूझ कर रखी है, ताकि कवियो की यह प्रिया षोडश-शृगार-भूषिता बन जाय।[1]

ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य कवि के शब्दो मे है—सुकुमार-बुद्धि पाठकों के लिए काव्यशास्त्र जैसे जटिल विषय का सुगम रूप से अवबोध[2]। इस ग्रन्थ मे दोष और अलकार के अतिरिक्त कविशिक्षा पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत उन्होने तीन प्रकार के कवियो तथा तीन प्रकार के कवि-मतो, अर्थात् कविता करने की रीतियो पर प्रकाश डाला है।

केशव ने इस ग्रन्थ मे १८ दोष गिनाये हैं। इनमे प्रथम पाँच दोष नाम की दृष्टि से सम्भवत केशव की मौलिक उपज है—अन्ध, बधिर, पगु, नग्न और मृतक। वस्तुत 'अन्ध' मम्मट-सम्मत प्रसिद्धि-विरुद्ध है। 'बधिर' के केशव-प्रस्तुत उदाहरण मे मम्मट-सम्मत असमर्थ दोष की छाया है। 'पगु' दोष परम्परागत हतवृत्तता है। 'नग्न' दोष भामह आदि अलकारवादी आचार्यो को भले ही स्वीकृत हो, पर मम्मट आदि परवर्ती आचार्य इसे स्वीकृत नही करेगे। शेष रहा मृतक दोष, पर इसकी सत्ता ही काव्य मे सम्भव नही है। निरर्थक वाक्यावली को जब वैयाकरण 'भाषा' नाम से अभिहित नही करता, तो चमत्कार-प्रिय काव्यशास्त्री का

---

१. **केशव सोरह भाव शुभ सुबरनमय सुकुमार।**
कविप्रिया के जानिये ये सोरह शृंगार॥

२. **समुझै बाला बालकहूं, वर्णन पंथ अगाध।**
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥

इसे काव्य न मानना स्वत सिद्ध है। कविप्रिया में वर्णित अन्य १३ दोषो मे से अधिकाश का स्रोत दण्डी का काव्यादर्श है, तथा शेष मम्मट-सम्मत दोषो के रूपान्तर मात्र है। रसिकप्रिया मे भी केशव ने पॉच अनरस (रस विरोधी) दोषो का उल्लेख किया है—प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दु सन्धान और पात्रादुष्ट। 'प्रत्यनीक' मम्मट के 'प्रतिकूल-विभावादि-ग्रह' दोष से मेल खाता है। 'विरस' वस्तुत उक्त दोष का प्रभाग-मात्र है। 'नीरस' तथा 'दु सन्धान' दोष मम्मट के मत मे रसाभास है, तथा 'पात्रादुष्ट' को मम्मट-सम्मत 'अपुष्टार्थता' नाम दिया जा सकता है।

कविप्रिया मे केशव ने वर्ण्यविषय को तथा उसे भूषित करने के साधनो को 'अलकार' कहा है। प्रथम को उन्होने 'साधारण' अलकार नाम दिया है और द्वितीय को 'विशिष्ट' अलकार। उन्होने साधारण अलकार के चार भेद किये हैं—वर्ण, वर्ण्य, भू-श्री और राजश्री। विशिष्ट अलकारो के अन्तर्गत उन्होने स्वभावोक्ति, विभावना आदि चालीस अलकारो का निरूपण किया है। वर्ण आदि चार प्रकार के कथाकथित अलकारो की वर्ण्य-सामग्री का स्रोत अमरचन्द्र यति रचित 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा केशव मिश्र कृत 'अलकार-शेखर' है। पर उन्होने इसे 'अलकार' नाम नही दिया। यह केशव की अपनी धारणा है, जोकि वस्तुत समुचित नही है। विशिष्ट अलकारो के निरूपण मे केशव ने अधिकतर दण्डी का आधार ग्रहण किया है और कुछ स्थलो मे रुय्यक का भी। पर वे इन्हे पूर्णत: निर्भ्रान्त रूप मे निरूपित नही कर पाये। कही इनके लक्षण और कही उदाहरण भी भ्रामक, अपूर्ण अथवा शिथिल बन गये है। अलकार के सम्बन्ध मे केशव की प्रमुख धारणा है कि नारी के समान सर्वगुण-सम्पन्न कविता भी अलकारो के बिना शोभा नही देती—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त ।।

इनकी यह धारणा अलकारवादी आचार्य भामह के इस कथन से प्रभावित जान पडती है—

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।

पर परवर्ती मम्मट आदि आचार्य भामह से सहमत नही हैं । वे ध्वनि अथवा रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और अलकार को उस का उपकारक मात्र और वह भी अनिवार्य रूप से नही । अत कह सकते हैं कि केशव का दृष्टिकोण दण्डी, भामह, उद्भट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के ही अनुरूप रहा, न कि आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यो के अनुकूल । पर इतना होते हुए भी केशव का रस के प्रति समादरभाव कुछ काम नही है—

ज्यो बिन डीठ न शोभिये, लोचन लोल विशाल ।
त्यो ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल ।।

इस प्रकार यद्यपि केशव का आचार्यत्व-कर्म अधिकाशत परस्पर विरोधी, भ्रान्त, अपूर्ण, अव्यवस्थित एव अमान्य है, फिर भी हिन्दी-जगत् मे काव्य के विभिन्न अङ्गो पर शास्त्रीय चर्चा करने वाले प्रथम आचार्य केशव ही है । हिन्दी की काव्यधारा को भक्ति-पथ से रीति-पथ की ओर सर्वप्रथम मोडने का श्रेय केशव को ही है ।

कवित्व—केशव के कवित्व-प्रदर्शन के लिए केवल एक ही ग्रन्थ उल्लेख्य है—रामचन्द्रिका । इसमे उन्होने राम के जीवन की सम्पूर्ण कथा को इस महाकाव्य का विषय बनाया है । कथानक का आधार प्रमुखतः बाल्मीकि-रामायण है, परन्तु प्रासङ्गिक कथाओ के विकास और रचना-शैली में सस्कृत के 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव भी इस कृति पर पडा है ।

राम की कथा को एक सफल प्रबन्ध-काव्य का रूप देने मे कवि को सफलता नही मिली । 'कथा का सुसगत विकास, भावपूर्ण स्थलो का सुचित्रण और दृश्यगत विशेषता' जो बाते एक महाकाव्य के लिए अपेक्षित हैं, इस रचना मे नही मिलती । वस्तुविन्यास की दृष्टि से देखने पर यह ग्रन्थ कई मुक्तको का सग्रह प्रतीत होता है जिन्हे जोडकर प्रबन्धात्मक रूप देने की विफल चेष्टा की गई है । सम्पूर्ण कथा को ३१ प्रकाशो मे बाँटा

गया है और कथा-खण्ड का नाम देकर विभिन्न प्रसङ्गों का वर्णन किया गया है। परन्तु कथा का विकास पूर्णतया अनियमित ढंग से हुआ है। इसका प्रवाह यत्र-तत्र खण्डित दिखाई देता है और उसमें अनुपात और तारतम्य का निपट अभाव है। राम के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं तक का भी संकेत-रूप में वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ ताड़का और सुबाहु के वध की ओर केवल एक छन्द में निर्देश मात्र ही कर दिया गया है। इसी प्रकार रामवनगमन का सम्पूर्ण प्रसङ्ग और उसकी कैकेयी-मन्थरा विषयक सम्पूर्ण पूर्वपीठिका का भी एक ही छन्द में वर्णन कर दिया गया है। आवश्यक प्रसंगों की उपेक्षा और अनावश्यक प्रसङ्गों का विस्तार कवि ने खूब किया है। इक्कीसवें प्रकाश में दान-विधान और सनाढ्य कुल की उत्पत्ति का विस्तृत प्रसंग प्रधान कथा से नितान्त विच्छिन्न है। इसी प्रकार बाल्य, तारुण्य और वृद्धावस्था की विकृतियों के वर्णन में कवि-प्रतिभा का अपव्यय हुआ है। उपदेश-प्रवृत्ति को भी कवि ने अनावश्यक आदर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि वे नीरस और प्रभावहीन बन गये हैं। कहीं-कहीं तो उपदेश की धुन में पात्रों की मर्यादा और उपयुक्तता की भी उपेक्षा की गई है। उदाहरणार्थ वन जाते समय राम अपनी माँ कौशल्या को पातिव्रत्य-धर्म की शिक्षा दे रहे हैं।

कथा के भावपूर्ण स्थलों का चयन और चित्रण करने की विदग्ध-कला केशव के पास नहीं है। ऐसे प्रसंगों में जहाँ तुलसी की कुशल-प्रतिभा ने अत्यन्त भावविभोर चित्र दिये हैं, केशव की प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है और उनके वर्णन उनकी दरबारी मनोवृत्ति का प्रदर्शन मात्र बनकर रह जाते हैं। राम को देखकर वनवासियों के हृदय में जो करुणा का स्रोत उमड़ता है, नियति के निष्ठुर विधान पर जो उन्हें रोष होता है, केशव ने इसका निदर्शन कितने भद्दे और अकुशल रूप में किया है—

किधौं मुनिसाप हत किधौं ब्रह्मदोषरत
किधौं सिद्धियुत सिद्ध परम बिरत हो
किधौं कोउ ठग हौ ठगौरी लीन्हे किधौं तुम।

राम के सम्बन्ध मे विकृत सन्देह-वृत्ति का उदय होना केशव की राजनीतिक चतुराई की ही सूझ हो सकती है। केशव के प्रकृति-चित्रण भी बडे फीके और असगत हैं। ऐसे चित्रो मे वे एक निरर्थक शब्दजाल-सा पेश कर देते है या फिर प्रस्तुत को अप्रस्तुत के भार से ऐसा आक्रान्त कर देते है कि प्रकृत प्रसग बिल्कुल तिरोहित हो जाता है। वर्षाऋतु को कालिका का रूप देकर खीचा हुआ चित्र कितना हीन कोटि का बन पडा है, देखिए—

भौहे सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर, भूषण जराय ज्योति तड़ित रलाइ है
दूरि करि मुख सुख सुखमा शशी की नैन, अमल कमल दल दलित निकाई है
केशवदास प्रबल करेणुका गमन हर, मुकुत सुहंसक शबद सुखदाई है
अम्बर वलितमति मोहै नीलकंठजू की, कालिका की वरषा हरषि हिय आई है

इस प्रबन्ध-काव्य मे यदि कुछ सफलता कवि को कही मिली है तो वह इसके सवादो मे है। इनकी कुशल शब्द-योजना, अवसर के अनुरूप पात्रो के क्रोध, उत्साह, आवेश आदि की अभिव्यक्ति और राजनीति के उपयुक्त दावघात के निदर्शन से ये सवाद भव्य और रुचिकर बन पडे है। छोटे सवादो के अतिरिक्त लम्बे और भावुकतापूर्ण कथोपकथन ये है—(१) सुमति-विमति-सवाद (२) रावण-बाणासुर-सवाद। (३) राम-परशुराम-सवाद। (४) रावण-अगद-सवाद। (५) लव-कुश-भरतादि-सवाद।

इन सवादो मे कवि ने अपनी प्रतिभा का अपेक्षाकृत अधिक सुचारु रूप मे परिचय दिया है। परिस्थिति की उपयुक्तता और औचित्य तथा पात्र की स्थिति और मर्यादा को कवि नही भूला। यही कारण है कि केशव का रावण-अगद-सवाद तुलसी के इस सवाद की तुलना मे कही अच्छा बन पडा है। केशव के राजनीति-परिचय ने अंगद को अमर्यादित नही होने दिया। इस प्रकार इन सवादो मे स्वाभाविकता और गम्भीरता आ गई है।

कुल मिलाकर देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि 'रामचन्द्रिका' एक असफल रचना है। कवि का पाण्डित्य और उसकी प्रतिभा इसमे पूर्णरूप से प्रस्फुटित नही हो सकी। इसके कई कारण हैं—प्रथम कारण है केशव का काव्यसम्बन्धी दृष्टिकोण। जैसे कि हम पहले कह आये हैं, केशव का यह विश्वास था कि कविता का वास्तविक सौन्दर्य है उसका अलकृत होना। इसी कारण उन्होने अलङ्कार-विधान को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की चेष्टा की। परिणामत वर्णन मे स्वाभाविकता और प्रासादिकता के स्थान पर सालङ्कारता और क्लिष्ट कल्पना को उन्होने प्रश्रय दिया। वस्तुत रामचन्द्रिका की रचना के पीछे कोई अन्त प्रेरणा नही है। कवि इस कृति को एक 'पिंगल-प्रकाश' बनाना चाहता था—

'रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द'

परिणाम यह हुआ कि 'बहु छन्द' मे रामकथा को वर्णित करने के प्रयास मे उसने इसे 'छन्दो का अजायब घर' और 'अलङ्कारो की मञ्जूषा' बना दिया। दूसरा कारण है उनकी दरबारी वृत्ति। केशव के पास वह भावुकता और सवेदना नही है, जो एक कवि-हृदय की सम्पत्ति होते है। इसी दरबारी वृत्ति का ही परिणाम है कि जहाँ-जहाँ राज-सभा या राजसी वैभव से सम्बन्ध रखने वाले प्रसङ्ग उपस्थित हुए है, केशव के वर्णन सजीव और उद्दीप्त है—उदाहरण के लिए जनकपुर के धनुप-यज्ञ का वर्णन, युद्धवर्णन, सेना की तैयारी का वर्णन आदि। परन्तु जहाँ मर्मस्पर्शी भावनाओ के अङ्कन का और हृदय को आह्लादित और उद्वेलित करने वाले प्रसङ्गो की उद्भावना का कवि को वास्तविक सुयोग मिला है, वहाँ वे कन्नी काट कर चलते बने है। वस्तुत इन प्रसङ्गो ने केशव के हृदय को किसी भी रूप मे विलोडित नही किया। उदाहरणार्थ दशरथ-मरण, भरत का चित्रकूट-मिलन आदि मार्मिक प्रकरण उनकी कल्पना को उत्तेजित नही करते। रामायण के उदात्त चरित्रो की उदारता और गम्भीरता केशव के मन पर कोई प्रभाव नही डालती।

उनका दरबारी मन सर्वत्र राजनीति के दाँव-घात, लौकिक जीवन के छल-प्रपञ्च और दरबारियो की असहिष्णु सशयालुता का ही सदा चिन्तन करता है। उदाहरणार्थ वन के लिए प्रस्थान करते समय श्री रामचन्द्र लक्ष्मण को अयोध्या मे रहकर भरत की गतिविधि पर देख-रेख करने की प्रेरणा करते है—

धाम रहौ तुम लक्ष्मण राज की सेव करौ।
मातनि के सुनि तात सुदीरघ दु.ख हरौ।
आय भरत्थ कहा धौं करैं जिय भाय गुनौ।
जौ दु:ख देयँ तौ लै उर गौं यह सीस धरौ॥

रामायण के उच्च चरित्रो को निम्न धरातल पर पहुँचाने मे एक और कारण है केशव की रसिक वृत्ति। 'गोसाई-चरित' के लेखक ने इन्हे 'कवि केशवदास बडे रसिया' कहकर याद किया है। इसी वृत्ति के कारण ही रामायण के गम्भीर चरित्रो मे भी इनकी भावना हल्की रसिकता से पङ्किल होकर प्रकट हुई है। उदाहरणार्थ, माता सीता के भी कटाक्ष ही उन्हे दिखाई दिये है—

मग को श्रम श्रीपति दूर करैं, सिय को शुभ बाकल अञ्चल सौं।
श्रम तेउ हरैं तिन को कहि केसव, चंचल चारु दृगचल सौ॥

वस्तुत रामचन्द्रिका को किसी रामभक्त की रचना नही कहा जा सकता। केवल रामचरित्र का आधार होने के कारण ही इसे रामचरित-काव्यो मे सम्मिलित किया जा सकता है।

भाषा-शैली—केशव की कृतियो की भापा प्रमुखतया ब्रज है। बुन्देलखण्ड का निवासी होने के कारण इनकी भाषा मे बुन्देलखण्डी मुहावरो और पदो का भी प्राचुर्य मिलता है। केशव सस्कृत के उद्भट विद्वान् थे, अत सस्कृत की छाप भी उनकी भाषा पर स्पष्ट है। अरबी और फारसी के शब्द भी उनकी कृतियो मे मिलते है, पर केशव ने उन्हे ब्रज की प्रकृति के अनुरूप ढाल लिया है। काव्य को अलकृत करने की अतिशय प्रवृत्ति ने उनकी भाषा को पाण्डित्य से बोझल कर दिया है।

अनुप्रास-प्रयोग के लिए बहुधा उन्हे अपने शब्दो को विकृत भी करना पडा है। अलङ्कारिता की धुन मे व्यर्थ का शब्दजाल बुनने की प्रवृत्ति भी इनमे लक्षित होती है, जिसके परिणामस्वरूप इनकी कविता दुर्बोध और क्लिष्ट हो गई है। आलोचको ने तो इन्हे 'कठिन काव्य को प्रेत' तक कह डाला है। रामचन्द्रिका का भाषा-विधान च्युतसंस्कृति अक्रमत्व, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व आदि दोषो से दूषित है। वस्तुत केशव की भाषा और केशव का वाग्जाल उसके कवित्व के नही बल्कि पाण्डित्य के ही परिचायक है।

(५) सेनापति

सेनापति का जन्मस्थान अनूप शहर है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके एक ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' से ज्ञात होता है कि इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था, और पिता का नाम गगाधर दीक्षित। हीरामणि दीक्षित इनके गुरु थे।

'कवित्तरत्नाकर' के अतिरिक्त इनकी एक अन्य रचना 'काव्यकल्पद्रुम' भी है, पर इनकी ख्याति का प्रधान कारण इनका प्रथम ग्रन्थ है। इसकी रचना स० १७०६ मे हुई। इस ग्रन्थ मे पॉच तरगे हैं। पहली तरग मे श्लेष-वर्णन है जो कि शब्द-कौशल का एक सुन्दर नमूना है। केशव के समान श्लेष के द्वारा ये कभी दानी और कजूस को एक कोटि मे रख रहे हैं, कभी रामकथा को गगाधार के समान वर्णित कर रहे हैं और कभी सीतापति राम को 'साह' के तुल्य बता रहे है। ग्रन्थ की दूसरी तरग मे शृगार-वर्णन है, जिसके अन्तर्गत नखशिख-सौन्दर्य, उद्दीपन भाव, वय सन्धि आदि का वर्णन है। तीसरी तरग मे ऋतु-वर्णन है। यह वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट बन पडा है। इस वर्णन की प्रधान विशेषता है— मानव-मन से उठने वाले भावो का विभिन्न ऋतुओ से सहज सम्बन्ध-स्थापन। चौथी और पॉचवी तरगो मे राम का चरित्र है। पॉचवी तरग मे कवि राम-चरित्र मे शब्दालकार-समावेश के लोभ को सवरण नही कर पाये। यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र आदि अलकारो का सफल प्रयोग

इनके शब्द-चयन तथा काव्य-कौशल का द्योतक है । श्लेष अलकार का एक उदाहरण लीजिए—

नाही नाही करै, थोरो माँगे सब देन कहै,
मंगन को देखि षट दैत बार बार है ।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा शुभ जनमन भावै निरधार है ।।
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरै, दानपाठ परवार है ।
सेनापति वचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हे इकसार है ।।

वर्षा ऋतु मे विरही मन की एक पुकार सुनिए—

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ,
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ ।।
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ ।।

भक्तिकाल की भाषा

भक्तिकाल मे प्रमुखत दो भाषाओ का प्रयोग हुआ—ब्रजभाषा और अवधी । ब्रजभाषा पश्चिमी हिन्दी का एक रूप है और अवधी पूर्वी हिन्दी का । ब्रजभाषा का विकास शौरसेनी अपभ्र श से हुआ और पश्चिमी अवधी का अर्द्धमागधी अपभ्रश से, तथा पूर्वी अवधी का मागधी अपभ्र श से । अब इन दोनो भाषाओ का व्याकरण-सम्बन्धी सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जाता है ।

१ ब्रजभाषा—

(क) **वर्ण**—१. ब्रजभाषा मे ऋ, ॠ और लृ का प्राय प्रयोग नही होता। उदाहरणार्थ ऋतु—रितु, ऋजु—रिजु आदि। 'कृपा' आदि ऋकार-युक्त शब्दो का प्रयोग कम देखने मे आता है।

२ श्, ण् और क्ष् प्राय क्रमश स्, न् और ख् मे परिवर्त्तित हो जाते है। जैसे शशि—ससि, क्षण—खन आदि।

३ मध्यवर्त्ती 'य' को 'ऐ' हो जाता है, और 'व' को 'औ'। जैसे नयन—नैन, भवन—भौन आदि।

४ वर्गो का पचम वर्ण अनुस्वार मे परिवर्त्तित हो जाता है। जैसे पङ्कज—पकज, कम्प—कप आदि।

(ख) **शब्दरूप**–१ खडीबोली की आकारान्त पुलिग सज्ञाएँ, विशेषण तथा सर्वनामो के सम्बन्ध कारक-रूप और भूत कृदन्त ब्रजभाषा मे ओकारान्त बन जाते है। जैसे—घोडो झगरो, छोटो, खोटो, तुम्हारो, मेरो, तेरो, गयो, कियो आदि।

२ भूतकालिक सकर्मक क्रियाओ के प्रयोग मे कर्त्ता के साथ 'ने' विभक्ति प्रयुक्त होती हैं। जैसे, बालकन ने खायो।

३ ब्रजभाषा की कारक विभक्तियाँ ये है—(१) ×, ने, (२) को, कौ, (३) सो, ते, (४) को, कौ (५) ते, (६) को (७) मे, मो, पै।

४ कारक के कुछ प्रयोग ब्रजभाषा के निजी है—वे न खडी-बोली मे प्रयुक्त होते हैं न अवधी मे। जैसे अधिकरण चिह्न पै का प्रयोग करण और अपादान के अर्थ मे। उदाहरणार्थ—

(क) **शेष शारदा पार न पावै मोपै किमि कहि जैहै ?**

(ख) **तू अलि ! का पै कहत बनाय ?**

—सूर

(ग) **क्रियारूप**—१ खडीबोली का 'था' रूप ब्रजभाषा मे 'हुतो', 'हतो', और 'हो' के रूप मे प्रयुक्त होता है। ब्रज की चलती बोलचाल मे इन दोनो प्रत्ययो को प्राय- क्रमश 'हो' और 'हे' हो जाता है। जैसे—

(अ) एक दिवस मेरे घर आए मै हो महती दही —सूर

(आ) तब हार पहार से लागत हे अब आय कै बीच पहार परे।

—घनानन्द

२ खडीबोली मे आज्ञा और विधि मे जहाँ क्रिया का साधारण रूप रखा जाता है—जैसे 'तुम आना', वहाँ ब्रजभाषा मे धातु के आगे 'इयो' प्रत्यय लगाया जाता है। जैसे आइयो, जाइयो, करियो आदि।

३. खडीबोली मे कीजिए, दीजिए, करिए, धरिए आदि रूप आज्ञा और विधि के है, पर ब्रजभाषा मे इन दोनो प्रकारो के अतिरिक्त ऐसे रूपो का प्रयोग वर्त्तमान और भविष्यत् मे भी मिल जाता है। जैसे—

पुंज कुंजर शुभ्र स्यंदन शोभिजै सूठ सुर। —केशव

ज्ञान निराश कहा लै कीजै ? —सूर

ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै।

—मतिराम

४. पूर्वकालिक क्रिया का रूप बनाने के लिए साधारण क्रिया-रूप के अन्तिम 'न' का लोप कर आगे 'इ' प्रत्यय जोड दिया जाता है। जैसे करन से करि (करके)।

२. अवधी—

(क) वर्ण—ब्रजभाषा-प्रकरण मे वर्ण-सम्बन्धी जो चार विशिष्टताएँ ऊपर निर्दिष्ट की गई है, वे सभी अवधी मे भी पाई जाती है।

(ख) शब्द-रूप—(१) खडीबोली के 'कौन', 'जो' और 'वह' के अवधी के क्षेत्र मे दो रूप प्राप्त है—पश्चिमी अवधी मे क्रमश 'को', 'जो' और 'से' या ते, तथा पूर्वी अवधी मे क्रमश 'के' 'जे' 'से' या 'ते'। उदाहरणार्थ प० अवधी—को आय ? पू० अवधी—के है (कौन है) ? इसी प्रकार प० अवधी मे—'जो जइहै सो पइहै' और पू० अवधी मे—'जे जाई से पाई' (जो जाएगा, वह पाएगा)। इस अन्तर का कारण यह है कि पश्चिमी अवधी पूर्वी अवधी की अपेक्षा ब्रजभाषा के कही अधिक

निकट है। उपर्युक्त 'को, जो, मो' मे शौरसेनीपन है, और के, जे ने' मे मागधी या अर्द्धमागधीपन।

(२) अवधी के कारक-चिह्न इस प्रकार है— (क) ×, (ख) के, का (पुराना रूप कहँ), (ग) से, सन, (घ) के, काँ, (ङ) अपादान—से, ते, (च) कै, कर, केर, (छ) मे मा [पुराना रूप महँ] और पर।

(३) अवधी भाषा के विभक्ति-रहित सर्वनाम-रूपों की सूची इस प्रकार है—

खड़ीबोली	पश्चिमी अवधी	पूर्वी अवधी
यह	यह	ई
वह	वह, सो, तौन	ऊ, से, ते
जो	जो	जे, जौन
कौन	को	के, कौन

(ग) क्रिया-रूप—(१) व्रजभाषा और खडीबोली के समान पश्चिमी हिन्दी मे तो साधारण क्रिया का नकारान्त रूप रहता है, जैसे—'आवन', 'करन' जान' आदि। पर पूर्वी अवधी की साधारण क्रिया के अन्त मे 'ब' रहता है, जैसे 'आउब', करब', 'जाब' आदि।

फिर इनके आगे कारकचिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर खडीबोली और व्रजभाषा के समान पश्चिमी अवधी मे नकारान्त रूप रहता है, जैसे—'आवन काँ', 'करन माँ', 'आवन लाग' आदि। पर पूर्वी अवधी मे साधारण क्रिया का रूप नही रहता, वर्तमान का तिङन्त रूप हो जाता है, जैसे आवै का', 'जाय मा', 'आवै के', 'जाय मे' 'आवै लाग', 'करै लाग', सुनै चाहौं' आदि।

(२) करण कारक के चिह्न से पहले पूर्वी और पश्चिमी दोनो अवधी भाषाएँ भूत कृदन्त का रूप धारण कर लेती है, जैसे आए से, चले से, आए सन, दिए सन आदि।

(३) भूतकालिक रूपो मे जहाँ खडीबोली मे अन्त में 'या' होता है, वहाँ अवधी मे 'वा' होता है। जैसे 'आवा', 'लावा', 'बनावा'। 'जाना',

'होना' के भूतकाल के रूप 'व' निकाल कर भी होते है—जैसे, 'गा', 'भा' आदि।

(४) पश्चिमी अवधी मे भविष्यत् काल मे प्रथम पुरुष एकवचन का रूप ब्रजभाषा के समान 'है' होता है, जैसे—करिहै, सुनिहै आदि, पर पूर्वी अवधी मे 'हि' रहता है, जैसे होइहि, आइहि आदि। क्रमश इस 'हि' के 'ह' के घिस जाने से केवल 'इ' रह गया, जो पूर्व 'इ' से मिलकर 'ई' हो गया, जैसे आई, जाई, करी, खाई आदि। पर ये दोनो रूप अवधी-ग्रन्थो मे एक-साथ प्रयुक्त मिलते है।

(५) सयुक्त क्रिया के प्रयोग मे तुलसीदास की भाषा मे यह विलक्षणता है कि उन्होने एकवचन मे तो पूर्वी अवधी का रूप रखा है और बहुवचन मे पश्चिमी अवधी का, जैसे कहइ लाग, कहन लागे आदि।

उपसंहार

भक्तिकाल : एक स्वर्ण युग—

भक्तिकाल की तुलना यदि उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती कालो—आदिकाल और रीतिकाल से की जाय, तो भक्तिकाल निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ काल सिद्ध हो जाता है। कवियो की मनोवृत्ति, उनकी रचनाओ के भावपक्ष तथा कलापक्ष, सगीतात्मकता, विभिन्न काव्यरूपता, भारतीय सस्कृति के निदर्शन की क्षमता तथा भाषा को लक्ष्य मे रखकर इन कालो की निम्नाङ्कित सक्षिप्त तुलना से उक्त कथन की पुष्टि हो जायगी—

(१) आदिकाल तथा रीतिकाल के कवि राजदरबारो के आश्रित कवि थे। उनकी वाणी अपने हृदय की अभिव्यक्ति के लिए नही, वरन् अपने आश्रयदाताओ तथा इतर दरबारी जनो के मनोरञ्जनार्थ प्रकट हुई थी, पर भक्तिकालीन भक्त जनो की वाणी स्वान्त सुखाय प्रकट हुई। उन्हे न तो 'प्राकृत जन का गुणगान' करना अभीष्ट था और न सीकरी (राज्य-दरबारो) से सम्बन्ध स्थापित करना। उन्मुक्त और निश्छल मनोवृत्ति

से नि सृत साहित्य 'फरमाइशी' साहित्य अथवा किसी उद्देश्य को लक्ष्य मे रखकर निर्मित साहित्य की तुलना मे अत्यधिक यथार्थ एव हृदयहारी होता है, यह एक आनन्दप्रद सत्य है ।

(२) सन्दिग्ध अवस्था मे प्राप्त होने के कारण आदिकाल की रचनाओ के भावपक्ष और कलापक्ष के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है । इधर रीतिकाल की रचनाओ का भावपक्ष अपेक्षाकृत अधिक शिथिल है और कलापक्ष अपेक्षाकृत अधिक सबल । पर उधर भक्तिकाल की रचनाओ का भावपक्ष और कलापक्ष सन्तुलित, सशक्त एव परस्पर-पोषक है । कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, नानक आदि के अन्तरतम से निकली हुई वाणी समस्त ससार की अमर कहानी बन गई है ।

(३) भक्तिकाल की सगीतात्मकता इस युग की अमर देन है । इससे पूर्व सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्र श भाषाओ मे गीति-साहित्य का निर्माण हो चुका था, पर हिन्दी मे सर्वप्रथम भक्तिकाल मे ही इसकी अवतारणा हुई है और आगे चलकर रीतिकाल के सकुचित एव सघुटित वातावरण मे हृदय की मुक्तावस्था के इस सशक्त माध्यम का लगभग लोप-सा हो गया । वस्तुत सगीत-काव्य के लिए सबल आत्म-विश्वास अपेक्षित है, जोकि भक्तिकालीन कवियो मे कूट-कूटकर भरा था । रीतिकालीन कवि दास[1] के समान भक्तिकालीन कवि राधा-कन्हाई और सीता-राम का स्मरण किसी व्याज से नही करते थे । उन्हे अपने काव्य द्वारा भावी सुकवियो (सहृदयो) को रिझाना भी अभीष्ट न था और न ही उनमे किसी प्रकार के आत्म-विश्वास का अभाव ही दिखाई देता है । अत भक्तिकाल अपूर्व सगीत-साहित्य के निर्माण के लिए उर्वरा भूमि तैयार करने का स्फूर्तिदायक युग रहा है ।

(४) विभिन्न काव्यरूपो की दृष्टि से तो भक्तिकाल असाधारण है । प्रबन्धकाव्य और मुक्तककाव्य, सूक्तिकाव्य और सगीतकाव्य, गेय नाटक

---

१. 'आगे के सुकवि रीझिहै तो कविताई,
न त राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है । —काव्य-निर्णय

तथा कथा-काव्य और यहाँ तक कि गद्य-बद्ध भी कुछेक रचनाएँ इस काल मे उपलब्ध हो जाती हैं। इन काव्यरूपो मे से कुछेक काव्य-रूपो को छोडकर आदिकाल तो शेष रूपो से विहीन है ही, भक्तिकाल का परवर्ती रीतिकाल भी अधिकाशत इन्ही रूपो से विहीन है। यह भक्ति-काल की उत्कृष्टता तथा रीतिकाल के पतन का मुख्य प्रमाण है।

(५) भारतीय सस्कृति का कोई जिज्ञासु यदि इन तीन कालो के साहित्य का अवलोकन करे, तो उसे भक्तिकाल मे उसका जो स्वस्थ और यथार्थ रूप मिलेगा, वह अन्यत्र नही मिल सकता। सगुण-निर्गुण भक्ति, दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और आदर्श जीवन—भारतीय सस्कृति के ये सभी सबल पक्ष भक्तिकालीन साहित्य मे सहज उपलब्ध है।

आदिकाल मे कवियो ने हमे युग-पुरुषो के दर्शन कराये है, पर वे अपने मौलिक रूप मे हमारे सामने उपस्थित नही हुए। अतिरञ्जनापूर्ण रूप से चित्रित होने के कारण वे इतिहास के व्यक्ति न रहकर कोरे काव्य के व्यक्ति बन के रह गये है। रीतिकाल मे कवियो ने हमे राधा और कन्हाई के दर्शन कराने का प्रयास किया है, पर वे विलास और ऐश्वर्य मे इतना निमज्जित दिखाये गये है कि वे सामान्य लौकिक नायक-नायिका से ऊपर नही उठ सके और आधुनिक पाठक के लिए अधिकाश सीमा तक घृणा के पात्र बन के रह गये हैं। पर भक्तिकालीन अधिकाश साहित्य इस प्रकार का विकृत रूप प्रस्तुत नही करता। तुलसी के राम और सीता तो अलौकिक और आदर्श व्यक्ति हैं ही, सूर, नन्ददास आदि के कृष्ण तथा राधा भी समग्र रूप मे रीनिकालीन कृष्ण-राधा के समान असयत नही है। वे पतितपावन बहुत अधिक है और लीला-विलासी बहुत कम। कुल मिलाकर भक्तिकालीन साहित्य तत्कालीन जनता का उन्नायक, प्रेरक एव उद्धर्ता है तथा भारतीय सस्कृति और आदर्श का सशक्त उपदेष्टा है। वह राम, श्यामसुन्दर, गिरधर गोपाल, अलखनिरञ्जन और ओकार का स्मारक है, जो आज भी हिन्दू जन-जीवन के लिए प्रात-स्मरणीय है।

(६) यदि भाषा की दृष्टि से देखे तो ब्रजभाषा और अवधी जैसी लोकभाषाओं की अपने वास्तविक तथा मधुर एव समर्थ रूप मे अवतारणा केवल भक्तिकाल मे ही हो पाई है। उधर आदिकालीन साहित्यिक भाषा सक्रमण-काल की भाषा है, इधर रीतिकाल में एक तो अवधी भाषा के दर्शन नही होते और दूसरे ब्रजभाषा के साथ भी खिलवाड हुआ है। शब्दो की कलाबाजी के कारण उसका रूप विकृत-सा हो गया है।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन कालो मे से भक्तिकाल सभी दृष्टियो से हिन्दी का 'स्वर्ण-युग' कहाने का अधिकारी है।

रीतिकाल

विक्रमी सवत् १७००—१६०० (सन् १६४३—१८४३)

परिस्थितियाँ

रीतिकाल की अवधि सवत् १७०० से १६०० अथवा सन् १६४३–१८४३ तक मानी गई है। रीतिकाल का प्रथम प्रतिनिधि कवि चिन्तामणि है, और अन्तिम कवि प्रतापसाहि। प्रथम का रचना-काल सवत् १७०० है और द्वितीय का स० १८८० और १८६६ के बीच। इसी आधार पर रीतिकाल को उक्त दो शताब्दियो मे सीमित किया जाता है। इस काल को यदि इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओ से सम्बद्ध करना चाहे, तो इसका प्रारम्भिक छोर शाहजहाँ के शासन-काल (सन् १६२८–५८) को मानना चाहिए, और अन्तिम छोर दिल्ली के मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय के शासन-काल (सन् १८३७–५८) के मध्य भाग को। इन दो शताब्दियो मे एक ओर उत्तरी भारत पर शाहजहाँ, औरगजेब और उसके उत्तराधिकारियो ने राज्य किया और दूसरी ओर रीतिकाल के उत्तरार्द्ध मे पूर्वी भारत पर एक के बाद एक १७ अग्रेज शासको ने।

इसी बीच दक्षिण मे मरहठो और पजाब मे सिक्खो ने तथा पूर्व मे पुर्तगाली और फ्रासीसी शक्तियो ने भी भारतीय राजनीति मे भाग लिया।

उत्तर भारत के इतिहास की ये दो शताब्दियाँ चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल-साम्राज्य की अवनति के प्रारम्भ और फिर क्रमश उसके पूर्ण विनाश की गाथाओ को प्रस्तुत करती हैं। अकबर के शासनकाल की नीति-जन्य सुखसमृद्धि और जहाँगीर के शासनकाल की प्रमाद-जन्य

शान्ति अब शाहजहाँ के शासनकाल मे कलाप्रियता के साथ-साथ धीरे-धीरे विलास मे परिवर्तित होने लग गई, और आगे चलकर औरगज़ेब के उपरान्त मुगल-साम्राज्य के पतन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे।

शाहजहाँ ने सिहासनारूढ होने के लिए जिन बर्बरतापूर्ण अत्याचारो का आश्रय लिया था, उसके पुत्र औरगजेब ने इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने भाइयो की निर्मम हत्या और अपने रोगी वृद्ध पिता को कारागार मे डालकर अपने पिता के अत्याचारो को भी लज्जित कर दिया। औरगज़ेब की धार्मिक असहिष्णुता उसके शासन-युग की प्रख्यात घटना है। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियो की अराजकता, कायरता और स्वेच्छाचारिता तथा आडम्बर और विलास के नग्न नृत्य ने मुगल-साम्राज्य की लगभग पौने दो सौ वर्ष पुरानी प्रतिष्ठा को मिट्टी मे मिला दिया। उधर एक ओर नादिरशाह (सन् १७३९) और अहमद शाह अब्दाली (सन् १७६१) के आक्रमणो तथा दूसरी ओर मराठो और सिक्खो की वर्द्धमान शक्ति ने इस साम्राज्य की जडे खोखली कर दी। परिणाम-स्वरूप देश के विभिन्न सूबो पर स्वय मुगल-सम्राटों द्वारा नियुक्त सूबेदार, जिन्हे अपनी शक्ति पर विश्वास होने लग गया था, स्वेच्छाचारी और मुगल-साम्राज्य के विरोधी बन गये। इनमे से बगाल, अवध, हैदराबाद और करनाटक के सूबेदार विशेषत उल्लेखनीय है।

इस राजनीतिक पतन को देखकर भारत मे स्थित विदेशी व्यापारी-कम्पनियाँ—विशेषत अग्रेज़ी और फ्रासीसी कम्पनियाँ व्यापारिक उद्देश्य से हटकर भारत पर शासन करने के स्वप्न देखने लगी। राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के लिए उन्होने सफल कूटनीतिज्ञो की भाँति भारतीय नवाबो और राजाओ के पारस्परिक झगडो मे भी सहायता देनी शुरू कर दी और अन्त मे अनेक सघर्षो के उपरान्त अग्रेजी कम्पनी भारत पर अपना राज्य स्थापित करने मे सफल हो गई, और रीतिकाल की समाप्ति-पर्यन्त—लार्ड क्लाइव से लार्ड डलहौजी तक—१७ अग्रेज शासको ने पूर्वी भारत पर शासन किया। इसी बीच मराठो, सिक्खो और टीपू सुल्तान आदि विभिन्न

भारतीय शासको ने इस विदेशी शक्ति का प्रबल विरोध भी किया, पर अग्रेजो की सत्ता और साम्राज्य-सीमा बढती चली गई। यहाँ तक कि लार्ड डलहौजी ने मुगल-वश के अन्तिम तथाकथित सम्राट् बहादुरशाह को दिल्ली का लाल किला छोडने पर विवश कर दिया और इस प्रकार मुगल-साम्राज्य का टिमटिमाता दीपक थोडे समय बाद सदा के लिए बुझ गया।

इधर अँग्रेजो की कूटनीति ने भारतीय सस्कृति पर भी प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम-स्वरूप भारतीय महान् व्यक्तियो के ही प्रयास से अँग्रेजी भाषा के प्रति भारतीय जनता का मोह बढने लगा और अन्त मे अँग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम बना दी गई।[1] पर इन कूट-नीतियो और कुचक्रो के कारण भारतीय जनता के हृदय मे इन शासको के प्रति रोष, क्षोभ, अविश्वास, घृणा, विरोध और विद्रोह की आग धीरे-धीरे सुलगती रही और इस आग का भयकर विस्फोट सन् १८५७ के भारतीय महान् विद्रोह के रूप मे प्रकट हुआ।

इतनी भीषण घटनाओ के घटित होते हुए भी हिन्दी के अधिकतर प्रतिनिधि कवि—चिन्तामणि (स० १७००), मतिराम (स० १७००), बिहारी (स० १७००), कुलपति (स० १७२५), देव (स० १७५०), श्रीपति (स० १७७५), भिखारीदास (स० १८००), पद्माकर (स० १८५०), प्रतापसाहि (स० १९००) आदि—रीति-सम्बन्धी शृगार-परक उदहरणो का ही निर्माण करते रहे। उक्त घटनाओ से नितान्त अप्रभाविन रहकर वे अपने आश्रयदाताओ की विलासिता की वृद्धि मे ही सहायक सिद्ध हुए। इससे बढकर राजनीतिक अनिष्ट और राष्ट्रविघात का रूप और क्या हो सकता है! ये कवि न औरगजेब के अत्याचारो के प्रति विद्रोह की भावना प्रकट करते है, न नादिरशाही बर्बरता और अहमदशाह अब्दाली की क्रूरता का उन पर कुछ प्रभाव पडता है और न

१ रीतिकाल के अन्तिम ५० वर्षो—सवत् १८५०–१९००—के विवरण के लिए अग्रिम अध्याय देखिए।

अँग्रेजो के हाथ मे राज्य-सत्ता के चले जाने, मरहठो और सिखो की शक्ति के क्षय होने तथा भारतीय सस्कृति के पतन का उन्हे कोई दु ख है। पूरे दो सौ वर्ष तक वे एक ही राग अलापते रहे, अपने आश्रयदाताओ को नायक-नायिका के सयोग और वियोग के गीत गा-गाकर सुनाते रहे। यदि वे चाहते तो उथल-पुथल के उस युग मे उन्हे विलासिता और निष्कर्मण्यता के गर्त से निकाल कर्त्तव्यपरायणता और कर्मठता के स्वच्छ वातावरण मे लाकर भारतीय सस्कृति के पुनरुद्धार के लिए प्रेरित करते, उनमे वीरता का सचार कर विदेशी शक्ति के फूटते हुए अकुर को प्रारम्भ मे ही उखाड फेकने मे सहायक सिद्ध होते, और इस प्रकार भारत का जो सुन्दर इतिहास बनता, उसका श्रेय इन्ही कवियो को भी अवश्य मिलता। पर इस श्रेय की प्राप्ति उनके भाग्य मे नही थी।

फिर भी, उस युग मे इस साहित्य-निर्माण के पुष्ट कारण विद्यमान हैं। रीतिकालीन साहित्य के अधिकतर भाग का निर्माण भारतीय रियासतो—भरतपुर, जयपुर, मेवाड, गढवाल, लखनऊ, प्रतापगढ, चरखारी, पन्ना, बूँदी, नागपुर—आदि के शासको के प्रासादो की चार-दीवारी मे हुआ है। ये शासक उपर्युक्त भयावह राजनीतिक वातावरण से इसी आशका के कारण जान-बूझकर नितान्त उदासीन तथा निरपेक्ष बने रहते थे कि कही उनकी तथाकथित 'शान्ति' मे बाधा न पडे। यह शान्ति वास्तविक शान्ति न थी—सघर्ष और कर्मण्यता से पलायन के प्रतिफल-स्वरूप एक ओर दुबककर बैठ जाने की चेतनाशून्य निरीहता थी। प्रासादो मे एक प्रकार से बन्द इन शासको के समय-यापन के लिए मनोरञ्जन की सामग्री का जुटाना परम आवश्यक था। गवैयो, भाण्डो, चितेरो आदि अनेक प्रकार के कलावन्तो के मध्य कवियो को भी प्रश्रय मिला। यह परम्परा कोई नई न थी। सस्कृत-भाषा के युग से ही पुराने अनेक प्रसिद्ध कवि एव नाटककार शासको के आश्रय मे निरन्तर पलते चले आ रहे थे और समयानुसार काव्य-निर्माण कर रहे थे। हिन्दी का आदिकाल तो इस परम्परा का स्पष्टत सूचक है ही, भक्तिकाल भी इस

परम्परा से शून्य नही है। नरहरि बदीजन, टोडरमल, बीरबल, गग, रहीम, केशवदास आदि सभी राज्याश्रित कवि थे। पर रीतिकाल के अधिकाश शासक पूर्ववर्ती शासको विशेषत आदिकालीन शासको से एक दृष्टि मे भिन्न थे। पूर्ववर्ती शासको के लिए काव्य-चर्चा राज्यकार्यभार एव युद्धश्रान्ति से विश्रान्ति पाने का साधन मात्र थी, पर इन शासको की दिनचर्या के लिए मनोरञ्जन ही केवल साध्य था। कविता-श्रवण भी इसी मनोरञ्जन का एक अग था। इस काल मे भी महाराज राजसिह, छत्रसाल आदि राजपूतो तथा बुन्देलो ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह खडा किया, पर ऐसे आत्माभिमानी वीरो की सख्या बहुत ही कम थी। वस्तुत रियासतो के सभी राजा राजपूत-युग से ही विलासी बनना प्रारम्भ हो गये थे, इधर अकबर की नीति ने इस रग को और अधिक गहरा कर दिया। आगे चलकर मुगल-सम्राटो की विलासिता का भी इन पर अत्यधिक प्रभाव पडा। उनकी विलासिता से ये इतने प्रभावित थे कि उनके गुणो की ओर इनका ध्यान तक नही गया। इनके समक्ष शाहजहाँ की कला-प्रियता, औरगजेब के अमीरो की विलासिता और उसके उत्तरवर्ती मुहम्मदशाह जैसे रगीले शासको की निष्कर्मण्यता का ही आदर्श था। उन्ही के अनुकरण पर शेरो-शायरी की महफिले गरम रखने के उद्देश्य से इनके लिए भी यह आवश्यक हो गया कि शृङ्गार-रस के मुक्तक सुनने वालों को प्रश्रय दिया जाय। परिणामस्वरूप उत्तरी भारत की लगभग सभी रियासतो के राजा और सभासद इन कवियो की कविता-धारा मे निमज्जित हो रहे थे। आगे चलकर लार्ड वैलजली की सहायक रीति (सब-सीडयरी सिस्टम) के दाँव ने इन्हे और भी अकर्मण्य बना दिया। इस रीति द्वारा भीतरी विद्रोहो और बाह्य आक्रमणो से सुरक्षा मिल जाने के कारण उनकी विलासिता और भी अधिक बढ गई। इस प्रकार पूरी दो शताब्दियो तक रीतिबद्ध शृगारिक साहित्य के पनपने के लिए तैयार भूमि मिलती रही और काव्य-चमत्कार की दृष्टि से सरस होती हुई भी वह राष्ट्रनिर्माण मे सहायक सिद्ध न हुई।

निस्सन्देह उस युग मे भूषण जैसा कवि भी हुआ, जिसने अपने आश्रयदाता शिवाजी को अपने वीर-गान द्वारा प्रोत्साहित किया, पर उसका कार्यक्षेत्र तत्कालीन हिन्दी-क्षेत्र से दूर दक्षिण मे था। अत उसकी वीर कविता तथा मराठा जैसी वीर जाति उत्तरी भारत के कवियो को प्रभावित न कर सकी। केवल लाल, जोधराज सूदन, चन्द्रशेखर जैसे इने-गिने कवि ही उस युग के वीर-रस के कवि है।

इस प्रसग मे इस काल के उत्तर भारतीय महान् व्यक्तियो—गुरु गोविन्दसिह, बन्दा वीर वैरागी, महाराणा रणजीतसिह आदि का नाम उल्लेखनीय है, पर इनका महान् व्यक्तित्व भी आजीविका और यश प्राप्ति के अभिलाषी इन कवियो एव आचार्य-कवियो को उक्त दिशा से विमुख न कर सका। इसके अतिरिक्त इन कवियो पर अग्रेज़ी शासन द्वारा सम्पन्न परिवर्तनशीलता का प्रभाव भी नही पडा। क्योकि तद्युगीन अग्रेजी-शासको का सत्ता-क्षेत्र अधिकाशत पूर्वी भारत ही रहा, जोकि हिन्दी-क्षेत्र से पर्याप्त दूर था।

नामकरण

उक्त दो शताब्दियो मे निर्मित हिन्दी-साहित्य को लक्ष्य मे रखकर मिश्रबन्धुओ ने इस काल का नाम 'अलकृतकाल' रखा है, पर यह नाम उस काल की सामान्य प्रवृत्ति का द्योतक नही है। वह उसके केवल बाह्य रूप का ही परिचायक है, आन्तरिक रूप का नही।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल के अधिकाश हिन्दी-साहित्य को काव्यशास्त्रीय आधार पर निर्मित देखकर इस काल का नाम 'रीतिकाल' रखा है। 'काव्यशास्त्र' के अर्थ मे 'रीति' शब्द का प्रयोग वस्तुत हिन्दी का अपना है, जिसका प्रचलन चिन्तामणि के समय से प्रारम्भ हो जाता है—

रीति सु भाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार।

इसी प्रकार मतिराम, देव, सुरतिमिश्र, सोमनाथ, दास, दूलह,

पद्माकर, बेनीप्रवीन, प्रतापसाहि आदि अनेक रीतिकालीन कवि-आचार्यों ने 'रीति' शब्द का प्रयोग काव्य-शास्त्रीय विधान के अर्थ मे किया है।[1] आचार्य शुक्ल ने सम्भवत इसी प्रयोग के आधार पर इस काल का नाम 'रीतिकाल' रखा है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाम से उन्हे स्वय सन्तोष नही हुआ। वे लिखते हैं कि "वास्तव मे शृगार और वीर इन्ही दो रसो की कविता इस काल मे हुई। प्रधानता शृगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृगारकाल कहे, तो कह सकता है।"[2]

इधर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस काल को रीतिकाल के स्थान पर 'शृगारकाल' नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त समझा है। इस सम्बन्ध मे उनके दो तर्क प्रमुख है—

(१) इस काल के कवियो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—चिन्तामणि, कुलपति, बिहारी आदि रीतिबद्ध और घनानन्द, आलम, ठाकुर आदि रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कवियो मे भी अधिकाश ने लक्षण-लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ लिखे है और कुछेक ने लक्ष्यबद्ध। इन सभी प्रकार के कवियो की रचनाएँ मूलत शृगार-रस से सम्बद्ध हैं। यहाँ तक कि भूषण जैसे वीर-रस के गायक की भी प्रारम्भिक रचनाएँ शृगार-रस की ही है।

(२) 'रीतिकाल' नाम देने से आलम, घनानन्द, ठाकुर और बोधा

---

१ उदाहरणार्थ—

सो विश्रब्धनवोढ यो बरनत कवि रस-रीति। —मतिराम
अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति। —देव
छन्द रीति समुझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान। —सोमनाथ
काव्य की रीति सिखो सुकवीन्ह सो…… . . —दास
कवित्त-रीति कछु कहत हौ, व्यग्य अर्थ चित लाय। —प्रतापसाहि

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) नवॉ सस्करण, पृष्ठ २४१।

जैसे प्रेम के उन्मत्त गायक रीतिमुक्त होने के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'रीतिकाल के अन्य कवियो' मे ही स्थान पाते हैं, उन्हे प्रमुख कवियो मे स्थान नही मिल पाता। पर 'शृगारकाल' नाम रखने मे यह बाधा दूर हो जायगी।

आचार्य मिश्र के तर्क निस्सन्देह मौलिक और नूतन हैं पर फिर भी वे मनस्तोषक नही है। एक ओर चिन्तामणि, कुलपति आदि तथा दूसरी ओर बिहारी आदि रीतिबद्ध आचार्यों का लक्ष्य निस्सन्देह शृगार-रस के उदाहरण प्रस्तुत करता है, पर वे 'रीति' को किसी भी रूप मे नही भूल पाते। नायक-नायिका-भेद और अलकारो के रूप उनके हृदय मे घर कर चुके है और उन्हीके चौखटे मे वे शृगार-रस के उदाहरणो को 'फिट' करते जा रहे हैं। यदि इनका लक्ष्य केवल शृगार-रस का उदाहरण-निर्माण होता तो वे काव्यशास्त्र की शरण न लेते, अपितु आधुनिक कवियो की भॉति बाह्य विधान-रहित मुक्त कल्पनाओ की उडाने उडाते। घनानन्द, आलम आदि की रचनाओ के समान यदि सभी रचनाएँ काव्य-शास्त्रीय बन्धन से रहित तथा बाह्य विधान-निरपेक्ष होती, तो इस काल का नाम 'शृगारकाल' रखना समुचित रहता। पर शत-शत रीति-ग्रन्थो की तुलना मे, जिनकी रचना राजदरबारो से बाहर सामान्य रसिकवर्ग मे भी होना प्रारम्भ हो गई थी, रीति-मुक्त ग्रन्थो की सख्या अत्यल्प है, अत. इन ग्रन्थो के रचयिताओ को प्रमुख कवियो मे स्थान देने मात्र के लिए इस काल को 'शृगारकाल' नाम देकर युग की सामान्य प्रवृत्ति को गौण स्थान दे देना समुचित नही है। और फिर ये कवि भी गौण रूप से सही, नायक-नायिका-भेदो के प्रभाव से नितान्त विनिर्मुक्त नही हैं।

निष्कर्ष यह कि—

रीतिबद्ध आचार्य-कवियो की रचनाओ की सख्या रीति-मुक्त कवियो की रचनाओ की सख्या की तुलना मे बहुत अधिक है।

दूसरे शब्दो मे, उस काल के अधिकाश कवियो ने रीति-सिद्धान्तो को लक्ष्य मे रखकर शृगार-रस के उदाहरणो को निर्मित किया है, अत

इस काल का नाम 'रीतिकाल' ही समुचित है ।

काव्य-रूप

रीतिकाल मे निर्मित हिन्दी-साहित्य को प्रमुखत दो रूपो मे विभक्त कर सकते हैं—रीतिबद्ध और रीतिमुक्त ।

रीतिबद्ध—

रीतिबद्ध साहित्य से तात्पर्य उन ग्रन्थो से है, जो काव्यशास्त्रीय आधार पर निर्मित है । ये ग्रन्थ दो प्रकार के है—लक्षण-लक्ष्यबद्ध और लक्ष्यबद्ध ।

(क) लक्षण-लक्ष्यबद्ध—लक्षण-लक्ष्यबद्ध ग्रन्थो मे विभिन्न काव्यागो का लक्षण प्रस्तुत करने के उपरान्त एक अथवा एकाधिक लक्ष्य अर्थात् उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है । इन ग्रन्थो को हम तीन रूपो मे विभक्त कर सकते हैं—

(अ) रस-निरूपक ग्रन्थ, (आ) अलकार-निरूपक ग्रन्थ और (इ) विविध काव्याग-निरूपक ग्रन्थ ।

(ख) लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ—लक्ष्यबद्ध ग्रन्थो मे कवि किसी काव्याग का लक्षण प्रस्तुत न कर केवल लक्ष्य (उदाहरण) प्रस्तुत कर देता है, पर उसके लक्ष्य-निर्माण का आधार प्राय किसी काव्याग का लक्षण ही होता है । उदाहरणार्थ बिहारी, मतिराम आदि कवियो की सतसइयाँ लक्ष्यबद्ध रचनाओ के अन्तर्गत आयेगी ।

रीतिमुक्त—

रीतिमुक्त साहित्य से तात्पर्य उन रचनाओ से है, जो काव्यशास्त्रीय आधार पर निर्मित नही हुई । इन ग्रन्थो मे से कुछ तो रीतिकालीन वातावरण के अनुकूल है और कुछ प्रतिकूल ।

प्रथम कोटि की रचनाओ मे घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम, रस-निधि आदि के शृङ्गाररस-परिपूर्ण मुक्तक पद्य उल्लेखनीय है ।

द्वितीय कोटि की रचनाओ को काव्य-विधान की दृष्टि से दो रूपो मे

विभक्त कर सकते हैं प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य—

(क) प्रबन्धकाव्य—विषय की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य दो प्रकार के हैं—

(१) वीररस-विषयक—लालकवि का 'छत्रप्रकाश', जोधराज का 'हम्मीर-रासो', सूदन का 'सुजानचरित्र', चन्द्रशेखर का 'हम्मीर-हठ' आदि।

(२) वीरेतर-रस-विषयक—सबलसिंह का 'महाभारत', व्रजवासीदास का 'व्रजविलास', पद्माकर का 'रामरसायन' आदि।

(ख) मुक्तक काव्य—विषय की दृष्टि से मुक्तक काव्य भी दो प्रकार के हैं—

(१) नीति-काव्य—बेनी, वृन्द, गिरिधर, बैताल आदि की मुक्तक रचनाएँ।

(२) भक्ति-काव्य—रीतिकाल मे भी भक्तिकालीन काव्यधारा प्रवाहित होती रही, पर इसकी गति अत्यन्त मन्द थी। इस परम्परा को सजीव बनाये रखने वालो मे इन भक्त-कवियो का नाम उल्लेखनीय है—

(क) सन्तकाव्य—सुन्दरदास, सभाचन्द सोधी, निश्चलदास, गरीबदास, गुलाबसिंह, पलटूसाहेब, जगजीवनदास सहजोबाई, दरिया साहब, सन्तोखसिंह आदि।

(ख) प्रेमकाव्य—शेख नबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद हुसैन अली, शेख निसार, नजफ अली, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, नसीर कवि, अली मुराद आदि।

(ग) कृष्णकाव्य—ध्रुवदास, महाराज छत्रसाल, नागरीदास, चाचाहित वृन्दावनदास, भगवत रसिक, व्रजवासीदास आदि।

(घ) रामकाव्य—गुरुगोविन्दसिंह गोकुलनाथ, महाराज विश्वनाथसिंह।

निष्कर्ष यह कि—

(१) रीतिकाल मे विभिन्न-विषयक रीतिमुक्त रचनाएँ अपेक्षाकृत बहुत कम है, पर इसके विपरीत शत-शत रीतिबद्ध ग्रन्थो का निर्माण हुआ।

(२) रीतिबद्ध रचनाओ के दो प्रकार हैं—लक्षण-लक्ष्यबद्ध और

लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ ।

(३) रीतिमुक्त रचनाएँ तीन प्रकार के विषयो से सम्बद्ध है—वीरता, नीति और भक्ति।

(४) रीतिकालीन सभी रचनाएँ काव्य-विधान की दृष्टि से दो प्रकार की हैं—प्रबन्ध और मुक्तक । मुक्तक रचनाओ की तुलना मे प्रबन्ध रचनाएँ बहुत कम है ।

रीतिबद्ध काव्य

रीति शब्द का द्विविध प्रयोग—

सस्कृत-काव्यशास्त्र मे 'रीति' एक प्रकार का काव्याङ्ग है। वहाँ इसका अर्थ है—'विशिष्ट पद-रचना'। इस काव्याङ्ग को वामन (६वी शती) ने काव्य की आत्मा स्वीकृत किया है। पर आगे चलकर आनन्दवर्द्धन के समय मे ध्वनि, विशेषत रसध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किये जाने पर अन्य काव्याङ्गो के समान 'रीति' की उक्त महत्ता नष्ट हो गई। अब वह रस की उपकारक मात्र बन गई। इस काव्याङ्ग के प्रमुख तीन भेद है—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली । इसका निरूपण सस्कृत के आचार्यो के समान हिन्दी के आचार्यो ने भी किया है।

हम पीछे लिख आये हैं कि 'रीति' शब्द को रीतिकालीन हिन्दी के आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के अर्थ मे भी प्रयुक्त किया गया है। पर उधर सस्कृत के किसी भी ग्रन्थ मे इस शब्द का इस अर्थ मे प्रयोग नही हुआ। भोज ने अपने ग्रन्थ 'सरस्वती-कण्ठाभरण' मे एक स्थान पर 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ् गतौ' धातु से स्वीकृत करते हुए इसे 'मार्ग' अथवा 'पन्थ' का पर्याय माना है। वस्तुत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त भी कवि को समुचित मार्ग ही दिखाते है। अत इस दृष्टि से 'रीति' शब्द खीचतान कर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का भी पर्यायवाची माना जा सकता है।

रीतिशास्त्र की परम्परा

(क) संस्कृत में रीतिशास्त्र (काव्यशास्त्र) की परम्परा—

संस्कृत का रीतिशास्त्र विकासबद्ध सिद्धान्तो का एक अमर कोश है। दूसरी, तीसरी शती ई० पू० से लेकर सत्रहवीं शती तक इनके सिद्धान्तो मे निरन्तर कभी तीव्र और कभी मन्द गतिमय विकास होता रहा। काव्य-विधान की जो अवस्था रसवादी भरत के समय मे—दूसरी, तीसरी शती ई० पू० मे—थी, वह अलकार को काव्य-सर्वस्व मानने वाले भामह और दण्डी के समय—छठी, सातवी शती ई०—मे परिवर्तित हो गई। इनके अनुसार रस अलकार का ही एक रूप बन गया। आगे चल-कर नवी शती मे एक-साथ तीन प्रबल काव्याचार्यो का आविर्भाव हुआ। इनमे से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए अलकार और रस को गौण स्थान दिया। उद्भट ने अलकारवाद का सबल समर्थन किया और आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नई दिशा की ओर मोड दिया। इनके पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे। इनमे से धनजय, कुन्तक और महिमभट्ट का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। परन्तु आगे चलकर मम्मट ने अपनी गम्भीर विवेचना द्वारा ध्वनि-विरोधियो का समर्थ शैली मे खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त की अकाट्य रूप मे स्थापना की, और इसके प्रति आस्था उत्पन्न कर दी। यह आस्था अगली छ शताब्दियो तक—अर्थात् १७वी शती तक—निरन्तर बनी रही। महापण्डित जगन्नाथ इस शती का ध्वनि-समर्थक प्रख्यात काव्यशास्त्री था।

(ख) हिन्दी में रीतिकाल से पूर्व रीतिशास्त्र की परम्परा—

ईसा की १७वी शती के मध्य भाग अथवा स० १७०० मे संस्कृत की उक्त काव्यशास्त्रीय परम्परा के क्षीण होते ही इसे हिन्दी के आचार्यो ने अपना लिया। संस्कृत का अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ और हिन्दी का प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि—ये दोनो समकालीन थे। जगन्नाथ शाहजहाँ का सभापण्डित था और चिन्तामणि को शाहजहाँ द्वारा

पुरस्कृत किया जाना इतिहास-प्रसिद्ध घटना है ।[1] पर वस्तुत हिन्दी की यह काव्यशास्त्रीय परम्परा चिन्तामणि से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गई थी। इस एक शती मे कृपाराम, सूरदास, नन्ददास मोहनलाल, रहीम, सुन्दर आदि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी ग्रन्थो का; बलभद्र मिश्र, मुबारक, लीलाधर आदि नख-शिख सम्बन्धी ग्रन्थो का; मोहनदास, तथा सेनापति बारहमासा और षड्ऋतु-वर्णन सम्बन्धी ग्रन्थो का गोपा तथा करनेस अलकार-सम्बन्धी ग्रन्थो का निर्माण कर चुके थे। इनके अतिरिक्त केशव ने काव्य के लगभग सभी अगो का निरूपण किया था। केशव के उपरान्त चिन्तामणि तक ५० वर्ष तक का समय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण की दृष्टि से नितान्त निष्क्रिय समझा जाता है। परन्तु यह धारणा तब तक बनी रहेगी, जब तक इस काल मे निर्मित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो की उपलब्धि नही होती। हमारा विश्वास है कि यह परम्परा इस अन्तराल मे भी विच्छिन्न नही हुई। हाँ, यह अलग प्रश्न है कि इस समय के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-सख्या की दृष्टि से अत्यल्प हो, तथा साधारण कोटि के भी हो, और इसी कारण काल के कराल गर्त मे लुप्त हो गये हो। अस्तु ! हिन्दी-काव्यशास्त्र की धारा स० १७०० के आसपास तीव्र वेग से गतिशील हुई और स० १९०० तक निरन्तर चलती रही। इसका प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि माना जाता है; क्योकि एक तो इसी आचार्य ने केशव के समान भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अलकारवादियो का अनुकरण न कर आनन्दवर्द्धन और मम्मट जैसे ध्वनिवादियो का अनुकरण किया, जिनके ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा शताब्दियो पूर्व हो चुकी थी और दूसरे, चिन्तामणि के परवर्ती विविध काव्याङ्गनिरूपक कुलपति, सोमनाथ, दास, श्रीपति, देव, प्रताप-साहि आदि प्रमुख आचार्यो ने चिन्तामणि के स्वीकृत मार्ग का अनुसरण किया।

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द ४, मुगल पीरियड (वोलजले हेग) पृष्ठ २२१

(ग) **रीतिकालीन रीतिशास्त्र की परम्परा—**

पीछे लिख आये है कि रीतिकालीन रीनिबद्ध ग्रन्थ दो प्रकार के है—लक्षण-लक्ष्यबद्ध और केवल लक्ष्यबद्ध। इनमे से प्रथम प्रकार के ग्रन्थ विशुद्ध 'रीतिशास्त्र' कहलाने के अधिकारी हे। इनके प्रमुख तीन भेद हैं—रस-निरूपक ग्रन्थ, अलकार-निरूपक ग्रन्थ और विविध-काव्याङ्ग-निरूपक ग्रन्थ। इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) **रस-विषयक ग्रन्थ**—रस-विषयक प्राय सभी ग्रन्थ अधिकाशत शृंगार-रस की विविध सामग्री से परिपूर्ण है। इनमे शृङ्गार-रस के आलम्बन के रूप मे नायक-नायिका-भेदो का विस्तृत निरूपण हे, और उद्दीपन विभाव के रूप मे नख-शिख, बारहमासा तथा षड्ऋतु का। कुछेक ग्रन्थो मे शृङ्गारेतर रसो को भी स्थान मिला है, पर अत्यल्प मात्रा मे और चलता-सा। कुछ प्रख्यात और उपलब्ध ग्रन्थो के नाम ये है—'सुधानिधि' (तोष), 'रसराज' (मतिराम), 'रसविलास' तथा 'सुखसागर-तरग' (देव), रससाराश' तथा शृङ्गार-निर्णय' (भिखारीदास), रसप्रबोध' (रसलीन), जगतविनोद' (पद्माकर), नवरसतरग' (बेनी-प्रवीन), और 'व्यग्यार्थ कोमुदी' (प्रतापसाहि)। इन ग्रन्थो का शास्त्रीय विवेचन अधिकाशत भानुमिश्र-प्रणीत—रसमजरी' पर आधारित है।

(ख) **अलकार-ग्रन्थ**—अलकार-ग्रन्थो का निर्माण रस-ग्रन्थो की अपेक्षा बहुत कम हुआ हे। प्रख्यात तथा उपलब्ध अलकार-ग्रन्थ निम्न-लिखित है—'भाषाभूषण' (जसवन्तसिंह), 'ललित-ललाम' तथा अलकार-पचाशिका' (मतिराम) शिवराजभूषण' (भूषण), 'कविकुलकण्ठाभरण' (दूलह) और पद्माभरण (पद्माकर)। इनमे से प्राय सभी ग्रन्थ जयदेव के 'चन्द्रालोक' तथा तत्प्रभावित अप्पय्यदीक्षित के कुवलयानन्द' पर आश्रित है।

(ग) **विविध-काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ**—इन ग्रन्थो की सख्या अत्यल्प है। उनमे से केवल १५ आचार्यो के १५ ग्रन्थ उपलब्ध हे—कविकुल-कल्पतरु' (चिन्तामणि), 'रसरहस्य' (कुलपति), 'काव्य-रसायन' अथवा

'शब्द-रसायन' (देव), 'काव्य-सिद्धान्त' (सुरति मित्र), 'रसिकरसाल' (कुमारमरिग), 'काव्यसरोज' (श्रीपति), 'रसपीयूषनिधि' (सोमनाथ), 'काव्यनिर्णय' (भिखारीदास), 'रूपविलास' (रूपसाहि), 'कवितारस-विनोद' (जनराज), 'साहित्य-सुधानिधि' (जगतसिंह), 'काव्यरत्नाकर' (रणवीरसिंह), 'काव्यविलास' (प्रतापसाहि), 'दलेलप्रकाश' (थानकवि) और 'फतह-प्रकाश' (रतन कवि) । इन ग्रन्थो के निर्माण मे प्राय मम्मट-प्रणीत 'काव्यप्रकाश' तथा विश्वनाथ-प्रणीत 'साहित्य-दर्पण' से सहायता ली गई है ।

रीतिकालीन ग्रन्थो से पूर्व-निर्मित रीति-सम्बद्ध ग्रन्थो मे केशव-प्रणीत दो ग्रन्थ उल्लेखनीय है—'रसिक-प्रिया' और 'कवि-प्रिया' । ये क्रमश रस और विविधाग-निरूपक ग्रन्थ हैं ।

रीतिबद्ध काव्य की विशेषताएँ

उद्देश्य—हिन्दी के रीति-ग्रन्थकार वस्तुत कवि पहले थे और आचार्य बाद मे । इनका प्रमुख उद्देश्य शृ गाररस-परिपूर्ण अथवा स्तुति-परक कवित्त-सवैये लिखकर अपने आश्रयदाता राजाओ से आश्रय एव पुरस्कार प्राप्त करना था, और गौण उद्देश्य उन सुकुमार-बुद्धि आश्रय-दाताओ, उनके कुमारो एव पारिषदो को सरल रूप मे कवि-शिक्षा देना । इस प्रकार ये एक साथ कवि भी थे और शिक्षक भी । कवि होने के नाते इन्होने शृ गाररस-परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक लक्ष्यो (उदाहरणो) का निर्माण किया और शिक्षक होने के नाते काव्य के विभिन्न अगो का परम्परागत लक्षण (शास्त्रीय सक्षिप्त निरूपण) प्रस्तुत करने का प्रयास किया । उनके रीति-ग्रन्थ इस दोहरे उद्देश्य को लक्ष्य मे रखकर निर्मित हुए है । इस सामान्य प्रवृत्ति के कुछेक अपवाद भी हैं । भूषण के अधिकाश उदाहरणो मे शृ गार-रस की मृदु एव मादक तरगो के स्थान पर वीररस की उच्छल और उत्तेजक तरगे है, पर काव्य-निर्माण के विभिन्न उद्देश्यो में से उनका कदाचित् एक उद्देश्य शिवाजी की स्तुति गाकर पुरस्कार-

प्राप्ति भी था। इस उद्देश्य के भी कुछ एक अपवाद उपलब्ध है। राजा जसवन्तसिंह जैसे आश्रयदाताओं को न तो स्वरचित उदाहरणों द्वारा किसी को प्रसन्न करने की चिन्ता थी, और न राजसभा-मण्डप को हर्ष-ध्वनि से गुंजाने के लिए उदाहरणों के रूप में कवित्त-सवैया प्रस्तुत करने की। संस्कृत के आचार्य जयदेव (१३वीं शती) के समान उन्होंने शास्त्रीय लक्षण और उदाहरण को एक ही छोटे-से छन्द (दोहा और सोरठा) में समाविष्ट करने का सुप्रयास किया है। इस दृष्टि से उनका भाषाभूषण विशुद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। पर ऐसे ग्रन्थ गिने-चुने ही है। अधिकतर ग्रन्थ उदाहरण-निर्माण की दृष्टि से ही लिखे गये हैं, और उनमें अनेकरूपता लाने के उद्देश्य से परम्परागत काव्यांगों का आश्रय लिया गया है।

सरस उदाहरण—उदाहरण-निर्माण की इस सामान्य प्रवृत्ति से एक लाभ तो अवश्य हुआ है कि सरस उदाहरणों का एक अक्षय कोष तैयार हो गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।" निस्सन्देह काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इनके अमूल्य महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर इन ग्रन्थों में उद्धृत पद्यों की संख्या इतनी अधिक है कि इन्होंने अपना अनुपात खोकर शास्त्रीय विवेचन को आच्छादित-सा कर दिया है। इस प्रकार ये ग्रन्थ, लक्षण-ग्रन्थों की अपेक्षा लक्ष्य-ग्रन्थ ही अधिक बन गये हैं।

निरूपण-शैली—हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों की निरूपण-शैली पर प्रकाश डालने से पूर्व संस्कृत के आचार्यों की निरूपण-शैली पर सामान्य प्रकाश डालना आवश्यक है—

(क) पद्यात्मक शैली—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है, उदाहरणार्थ—भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेख्य है। भरत

ने कुछेक स्थलो पर गद्य का भी आश्रय लिया है।

(ख) **सूत्रबद्ध शैली**—वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्
सूत्रबद्ध है, और सूत्रो की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणो के लिए
दोनो ने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली भानुमि
जगन्नाथ, अकबरशाह आदि की है।

(ग) **कारिकावृत्ति शैली**—आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वन
आदि ने कारिका-वृत्ति शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्र
सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं। उनकी व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति मे
और उदाहरण पद्यात्मक हैं।

इधर हिन्दी के अधिकतर आचार्यों ने सामान्यत प्रथम शैली
अपनाया है। वाग्भट प्रथम की निरूपण-शैली के समान शास्त्रीय विवेच
के लिए इन्होने दोहा और सोरठा जैसे छोटे छन्दो का प्रयोग किया
और उदाहरण के लिए प्राय कवित्त-सवैया जैसे बडे छन्दो का। केशव
चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर आदि
की निरूपण-शैली यही है। जसवन्तसिह, पद्माकर आदि आचाय
की शैली इन आचार्यो से थोडी भिन्न है। इन्होने जयदेव के समान
शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को प्राय एक ही दोहे मे समाविष्ट
करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त द्वितीय शैली—सूत्रबद्ध शैली—मे रचित हिन्दी का केवल एक
ग्रन्थ उपलब्ध है—'शृगारमजरी'। पर यह ग्रन्थ भी मौलिक न होकर
सन्त अकबरशाह-रचित सस्कृत-ग्रन्थ 'शृगारमजरी' का चिन्तामणि द्वारा
प्रस्तुत हिन्दी-अनुवाद है।

तृतीय शैली—कारिकावृत्ति शैली—मे कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि
के ग्रन्थो को रख सकते है। पर वस्तुत ये ग्रन्थ सस्कृत-आचार्यो की इस
शैली के ठीक अनुरूप नही हैं। आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि आचार्यो ने
गद्यबद्ध वृत्ति को कारिकागत शास्त्रीय सिद्धान्तो की व्याख्या का साधन
बनाया है। इधर कुलपति आदि उक्त आचार्यो ने भी कुछेक स्थलो पर

गद्यबद्ध वृत्ति का आश्रय इसी उद्देश्य से लिया है, पर इनका गद्यभाग एक तो संस्कृत ग्रन्थो मे प्रयुक्त गद्यभाग की तुलना मे मात्रा की दृष्टि से शताश भी नही है, और दूसरे, न यह परिष्कृत तथा गम्भीर विवेचनो-पयोगी है और न इसमे गम्भीर विवेचन प्रस्तुत ही किया गया है। इस शैली मे लिखने वाले संस्कृत आचार्यो का इन हिन्दी-आचार्यो मे एक भेद और भी है कि उन आचार्यो के उदाहरण उद्धृत है और इनके स्वनिर्मित।

शास्त्रीय विवेचन—हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो ने काव्यशास्त्रीय विवेचन मे कितना और क्या योग दिया है यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। योगदान के दो रूप सम्भव हैं—एक यह कि इन आचार्यो ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो को कहाँ तक यथार्थ रूप मे रूपान्तरित किया है, और दूसरा यह कि हिन्दी-साहित्य को लक्ष्य मे रखकर इन्होने किन नवीन सिद्धान्तो की स्थापना की है। अत्यन्त खेद का विषय है कि ये आचार्य दोनो दृष्टियो से असफल सिद्ध हुए हैं।

छोटे-मोटे आचार्यो की बात जाने दीजिए—रीतिकाल से पूर्ववर्ती केशव तथा रीतिकालीन चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, देव, श्रीपति प्रतापसाहि आदि विविधाग-निरूपक प्रमुख आचार्यो के ग्रन्थो को पढकर कोई भी व्यक्ति काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो मे पूर्णत और यथार्थत अवगत नही हो सकता। यहाँ तक कि जिन संस्कृत-ग्रन्थो का इन्होने आश्रय लिया है, उनके भी मूलगत भाव को इन ग्रन्थो से कोई पूर्णत समझ नही सकता। इस त्रुटि के कई कारण है—

(क) प्रथम कारण यह कि इनका प्रमुख उद्देश्य उदाहरण-निर्माण है, न कि काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करना, हाँ उदाहरणो को वे काव्यागो के चौखटे मे अवश्य 'फिट' करना चाहते हैं, जिसमे अधिकतर वे सफल भी हुए हैं, पर शास्त्रीय विवेचन मे वे प्राय असफल सिद्ध हुए है।

(ख) दूसरा कारण यह कि दोहे जैसे छोटे छन्द मे ये शास्त्रीय सामग्री को भर देना चाहते है। परिणामत लक्षण कही अपूर्ण, कही अस्पष्ट और कही अव्यवस्थित बनकर रह गये हैं।

(ग) तीसरा कारण यह कि उन लक्षणो को सुलझाने के लिए इनके पास सशक्त गद्य के माध्यम का अभाव है। यदि यह अभाव न भी होता, तो भी विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकता है कि वे उसका सफल उपयोग न करते—वस्तुत शास्त्रीय विवेचन मे उनकी आत्मा रमी नही थी।

(घ) चौथा कारण यह कि इन आचार्यो का अपना ज्ञान अपरिपक्व था। वे काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो की अतल गहराई तक नही पहुँच पाये थे। अधिकाश आचार्य नायक-नायिका-भेद तक अपने को सीमित कर पाये हैं, बहुत हुआ तो अलकार-निरूपण कर दिया। चिन्तामणि आदि जिन प्रमुख आचार्यो ने अन्य काव्यागो का विवेचन किया भी है, वे भी गम्भीर चर्चा से कतरा गये है। उदाहरणार्थ—

काव्यलक्षण-प्रकरण मे मम्मट के काव्यलक्षण पर विश्वनाथ-प्रस्तुत खण्डन को प्रतापसाहि के सिवा शायद किसी भी अन्य आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे स्थान नही दिया। प्रतापसाहि का भी यह प्रसग शास्त्र-असम्मत और भ्रामक है।

शब्दशक्ति-प्रकरण के अन्तर्गत तात्पर्य वृत्ति के प्रसग मे अन्विताभिधानवादी और अभिहितान्वयवादी के मत को समझाने का किसी आचार्य को साहस नही हुआ। कुलपति ने इस प्रसग को अवश्य छेडा है, पर पाठक उसमे उलझ कर रह जाता है। इसी प्रकार व्यञ्जना-स्थापना जैसे गम्भीर प्रसग पर भी लेखनी चलाना इनके वश मे नही था।

रस-प्रकरण मे भरत-सूत्र के चारो व्याख्याताओ के मन्तव्यो पर भी इन्होने प्रकाश नही डाला। प्रतापसाहि इस मार्ग की ओर अवश्य बढे, पर कुछ दूर तक जाकर वे वापस मुड आये। जहाँ तक गये हैं, उसे भी साफ नही कर सके।

गुण-प्रकरण मे गुण और अलकार के पारस्परिक अन्तर पर कुछेक आचार्यो ने थोडा-बहुत प्रकाश डालने का प्रयास किया है, पर उनके द्वारा उद्भट का मत यथेष्ट रूप मे प्रकाश मे नही आ सका। लगभग यही अवस्था अन्य काव्याग-प्रसगो की भी है। कुछ आचार्यो ने प्राचीन

शास्त्रीय प्रसगो मे इधर-उधर नवीनता लाने का प्रयास किया है, पर उसमे भी वे प्राय सफल नही हुए। उदाहरणार्थ दास का अलकारो को विभिन्न मूल अलकारो के अन्तर्गत विभक्त करना न पूर्णत वैज्ञानिक है और न सगत। लगभग यही स्थिति उसके गुणो के वर्गीकरण की भी है।

रीतिकालीन विविधाग-निरूपक ग्रन्थो मे एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जो 'काव्यप्रकाश' अथवा 'साहित्यदर्पण' का—जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है—पूर्ण, शुद्ध और व्यवस्थित उल्था उपस्थित कर सके। एक क्यो, यदि सभी उपलब्ध ग्रन्थो की सामग्री का सचयन करके देखा जाय, तो भी इन सस्कृत-ग्रन्थो की सामग्री उक्त रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित नही होती। इनके नायक-नायिका-भेद-प्रकरण निस्सन्देह विशालकाय है। इन्होने भानुमिश्र और उसकी 'रसमञ्जरी' का नाम अमर कर दिया है, इनका उदाहरणपक्ष सरस, शास्त्र-सम्मत और जीवन के मार्मिक चित्रो का उद्‌घाटक है, पर इनका भी शास्त्रीय पक्ष दुर्बल है। ऐसा एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है, जिसमे 'रसमञ्जरी' के समान नायक-नायिका के भेदोपभेदो के अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति-दोपो से रहित लक्षण प्रस्तुत किये गये हो। यहाँ तक कि चिन्तामणि ने 'शृगार-मञ्जरी' के शास्त्रीय पक्ष का शब्दश अनुवाद करने का प्रयास करते हुए भी उसे नितान्त अस्पष्ट बना दिया है, जिसे मूल पाठ के बिना समझ सकना हमारे विचार मे असम्भव है।

वस्तुत काव्यशास्त्रीय विषयो का निर्वाचन करते समय इन सबके समक्ष एक ही लक्ष्य था—सरल मार्ग का अवलम्बन, एव दुरूह समस्याओ का त्याग। यही कारण है कि गम्भीर शास्त्रार्थो से दूर रहकर इन्होने अधिकाशत स्थूल विषय-सामग्री तक—काव्यागो तथा उनके स्थूल भेदोपभेदो के लक्षण एव उदाहरण-निर्माण तक—ही अपने रीति-ग्रन्थो को सीमित रखा है। जहाँ इन्होने सूक्ष्म और जटिल समस्याओ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया भी है, वहाँ प्राय ये असफल रहे हैं।

इस सम्बन्ध मे दूसरा विचारणीय विषय है—इन्होने हिन्दी-

साहित्य को लक्ष्य मे रखकर किन-किन नवीन शास्त्रीय सिद्धान्तो की उद्भावना की है। इस सम्बन्ध मे भी हमारा यही उत्तर है कि इस दिशा मे इनका योगदान नही के बराबर है। दास का 'तुक' अलकार हिन्दी को लक्ष्य मे रखकर निर्मित हुआ प्रतीत होता है, अपने काव्य-हेतु-प्रसग मे इन्होने हिन्दीभापा के कवियो के उदाहरण दिये हैं, इनके दोष-प्रकरण के उदाहरणो मे भी हिन्दी का ही वातावरण है। पर दो सौ वर्षो की इस रीति-परम्परा मे ऐसे केवल दो-चार नवीन सिद्धान्त परिलक्षित होते है। नायक-नायिका-भेद-प्रसगो मे तोप, रसलीन, भिखारीदास आदि ने उद्बुद्धा, उद्बोधिता आदि ऐसे भेदो का उल्लेख किया है, जो 'रसमञ्जरी' मे उपलब्ध नही है, पर इनका स्रोत भी सद्य -उपलब्ध सस्कृत-ग्रन्थ 'शृगारमञ्जरी' मे मिल जाता है। हमारा विचार है कि इन आचार्यो के तथाकथित मौलिक सिद्धान्त मूलत किसी-न-किसी सस्कृत-ग्रन्थ पर अवलम्बित है, जिनकी गवेषणा अपेक्षित है, या फिर वे अपने मूल रूप से जान-बूझकर अथवा स्वाभाविक रूप मे इतने रूपान्तरित किये गये हैं अथवा हो गये है कि हम इन्हे मौलिक समझ लेते हैं। उदाहरणार्थ, केशव का लगभग सम्पूर्ण दोष-प्रसग नाम-भेद के साथ मम्मट के दोष-प्रसग पर आधारित मालूम पडता है। भूषण का 'भाविक छवि' अलकार कोई नया अलकार नही है, सस्कृत काव्यशास्त्र के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप है। देव का छल' नामक सचारिभाव विश्वनाथ के ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में उपलब्ध नही है, पर भानुमिश्र के 'रसतरगिणी' ग्रन्थ मे उपलब्ध है।

वस्तुत इनके सम्मुख सस्कृत-आचार्यो के समान लक्ष्य-ग्रन्थो को समक्ष रखकर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का निर्माण करना उद्देश्य नही था। यदि यही उद्देश्य होता तो एक तो ये उदाहरणो का चुनाव आदिकालीन और भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य से करते, न कि अपने उदाहरणो का निर्माण करते, और दूसरे, हिन्दी-ग्रन्थो के आधार पर नवीन शास्त्रीय धारणाएँ भी प्रस्तुत करते जाते। इस प्रकार इनके ग्रन्थो मे भी सस्कृत

के ग्रन्थो के समान शास्त्रीय सिद्धान्तो का क्रमिक विकास लक्षित होता। पर चिन्तामणि के दो सौ वर्ष उपरान्त भी प्रतापसाहि द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सिद्धान्तो मे कोई अन्तर नही है। यदि किसी आचार्य ने पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रन्थो का अवलोकन किया भी है तो उसके सिद्धान्तो के परीक्षण, पोषण, समालोचन, विवेचन, खण्डन-मण्डन अथवा परिवर्द्धन के उद्देश्य से नही, अपितु संस्कृत-ग्रन्थो का आधार ग्रहण करने मे बचने, अथवा बने-बनाये रूप को अपने रूप मे ढालने के उद्देश्य से। उदाहरणार्थ, प्रतापसाहि-कृत 'काव्य-विलास' अधिकाशत कुलपति की सामग्री पर आधारित है, सोमनाथ ने अलंकार-विवेचन के लिए जसवन्तसिंह के ग्रन्थ से प्राय सहायता ली है और भूषण ने मतिराम के ग्रन्थ से।

इस प्रकार रीतिकालीन रीतिग्रन्थ न तो संस्कृत-ग्रन्थो को समुचित रूप मे प्रस्तुत करते है, और न नवीन सिद्धान्तो की उद्भावना। इसके अतिरिक्त हिन्दी के वर्त्तमान काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के निर्माण मे भी इनका कोई योगदान नही है, क्योकि आज का समालोचक संस्कृत-ग्रन्थो से सहायता ले रहा है, अथवा पाश्चात्त्य ग्रन्थो से। परन्तु फिर भी इन आचार्यो के ग्रन्थो का महत्त्व इस तथ्य मे अवश्य निहित है कि वर्तमान आलोचना-शास्त्र और प्राचीन काव्यशास्त्र के बीच ये एक कडी हैं। यह कडी उस युग मे काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो की ओर अभिरुचि का परि-पोषण करती रही है, जिसका परिणाम आधुनिक आलोचना-शास्त्र के निर्माण के रूप मे हमारे समक्ष है।

कवि-परिचय

रीतिबद्ध कवि · लक्षणलक्ष्य-ग्रन्थकार

(१) चिन्तामणि

जीवन—चिन्तामणि का जन्मस्थान तिकवापुर (जिला कानपुर) माना जाता है। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। भूषण और मतिराम इनके भाई बताये जाते है। इनका जन्म सवत् १६६६ के लगभग माना

गया है। ये बहुत दिन तक नागपुर मे सूर्यवशी भोसला राजा मकरन्दशाह के आश्रय मे रहे और उन्ही के निर्देश से इन्होने डिगल ग्रन्थ की रचना की। सोलकी राजा रुद्रशाह और दिल्ली के सम्राट् शाहजहाँ ने इनको बहुत दान दिया था। ये सोलकी राजा वही है, जिन्होने भूषण कवि को 'भूषण' की उपाधि से भूषित किया था।

रचनाएँ—चिन्तामणि के बनाये छ ग्रन्थ कहे जाते हैं—'काव्यविवेक', 'कविकुलकल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'रसमजरी', 'छन्द-विचार-पिगल' और 'रामायण'। इनके अतिरिक्त इनका एक अन्य ग्रन्थ 'शृङ्गारमजरी' भी उपलब्ध हुआ है, पर यह इनका मौलिक न होकर अनूदित ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ मूलत सन्त अकबरशाह उपनाम 'बड़े साहब' द्वारा आन्ध्र भाषा मे प्रणीत है। ये सन्त शाहराजा के पुत्र और गोलकुण्डा के सुलतान अबुलहसन के चिरमित्र तथा गुरुपुत्र थे। उक्त ग्रन्थ का अनुवाद फिर सम्भवत सस्कृत मे हुआ और सस्कृत-अनुवाद से चिन्तामणि ने उसकी हिन्दी-छाया प्रस्तुत की। चिन्तामणि के उक्त छ मौलिक ग्रन्थो मे से केवल दो उपलब्ध हैं—'कविकुल-कल्पतरु' और 'छन्दविचार-पिगल'। प्रथम ग्रन्थ विविध-काव्याङ्ग-निरूपक है और द्वितीय ग्रन्थ छन्द शास्त्र है।

'कविकुलकल्पतरु' ग्रन्थ मे काव्यस्वरूप, गुण अलकार, दोष, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद नामक काव्याङ्गो का इसी क्रम मे निरूपण है। इस ग्रन्थ के निर्माण मे मम्मट, विश्वनाथ, धनञ्जय, अप्पय्यदीक्षित, विद्यानाथ और भानुमिश्र के ग्रन्थ की सहायता ली गई प्रतीत होती है। ग्रन्थ का लक्षण-भाग दोहा-सोरठा छन्दो मे है और उदाहरण-भाग कवित्त-सवैया छन्दो मे। कुछेक स्थलो मे गद्य का भी प्रयोग किया गया है। चिन्तामणि ने इस ग्रन्थ मे सस्कृत-काव्यशास्त्रो से अधिकाधिक स्थूल सामग्री का सकलन करते हुए प्राय उसे शाब्दिक अनुवाद के रूप मे प्रस्तुत किया है। शब्द-शक्ति, गुण-प्रकरण तथा दोष-प्रकरण के कुछेक स्थलो को छोडकर शेष ग्रन्थ-भाग मे इनकी शैली गम्भीर, विषयानुकूल एव व्यवस्थित होने के कारण

विषय को स्पष्ट कर देने मे पूर्ण सक्षम है ।

विशेषताएँ—अपने प्रकार के प्रथम हिन्दी आचार्य का यह समग्र प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है । यह ठीक है कि इनके ग्रन्थ से भावी आचार्यो ने सामग्री नही ली, पर विविधाङ्ग-निरूपण मे सम्बद्ध जो मार्ग इन्होने दिखाया, उसी का अनुकरण भावी विविधाङ्ग-निरूपक आचार्यो ने भी किया । यह अलग प्रश्न है कि इस श्रेणी के आचार्यो की सख्या अन्य श्रेणियो के आचार्यो की अपेक्षा बहुत कम है । चाहे हम इसे एक सयोग कह दे, पर मम्मट के आदर्श को लेकर चलनेवाले सर्वप्रथम आचार्य ये ही हैं । यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि नायक-नायिका-भेद अथवा अलकार-ग्रन्थो के रीतिकालीन निर्माताओ ने इनके आदर्श का अनुकरण नही किया । नायक-नायिका-भेद-प्रकरण मे इन्होने जिस ग्रन्थ—'रस-मजरी' का प्रधानत आधार ग्रहण किया, उसी का आधार कृपाराम आदि सभी पूर्ववर्ती आचार्य पहले ही ग्रहण कर चुके थे । इसी प्रकार इनके परवर्ती अलकार-निरूपक अधिकतर आचार्यो ने इनके समान मम्मट अथवा विद्यानाथ का आदर्श न लेकर अप्पय्यदीक्षित का ही आदर्श लिया, जिसे उपलब्ध ग्रन्थो के अनुसार सर्वप्रथम जसवन्तसिह ने अपनाया था । इस प्रकार यद्यपि सभी परवर्ती आचार्य इनके स्वीकृत आदर्श पर नही चले, पर विविधाङ्ग-निरूपक आचार्यो का इन्ही के ही स्वीकृत आदर्श पर चलना इनके लिए कम गौरव की बात नही है । आचार्यत्व के अतिरिक्त इनका कवित्व भी कम सफल नही है । उदाहरणो की सरसता एव शृ गार-रस की स्निग्धता रीतिकालीन आचार्यो की प्रमुख विशिष्टता रही है । चिन्तामणि भी इसी विशिष्टता से युक्त हैं । दो उदाहरण लीजिए—

(१)

बोलत काहे न बोल सुनें,
मधुरी बतियाँ मनमोहन भाखें ।
बोलें कहा, कछु चित्त में ह्वै दुख,
पित्त बढ़े कटु लागती दाखें ।।

(२)

ओढ़ै नील सारी घन घटा कारी चिंतामनि,
कंचुकी किनारी चारु चपला सुहाई है।
इन्द्रबधू-जुगनू जवाहिर की जगी जोति,
बग-मुकतान माल, कैसी छबि छाई है।
लाल पीत सेत बर बादर बसन तन,
बोलत सु भृंगी धुनि-नूपुर बजाई है।
देखिबे को मोहन नवल नट-नागर को,
बरषा नबेली अलबेली बनि आई है॥

(२) जसवन्तसिह

जीवन—महाराज जसवन्तसिह का जन्म संवत् १६८३ मे हुआ। ये मारवाड के प्रतापी हिन्दू राजा थे। ये बडे वीर नरेश थे। कहा जाता है कि औरगजेब को इनका सदा भय रहता था। औरगजेब ने इन्हे कुछ दिनो के लिए गुजरात का सूबेदार बनाया था। वहाँ से शाइस्ताखाँ के साथ ये छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गये थे। कहते हैं कि इस चढाई मे शाइस्ताखाँ की जो दुर्गति हुई, वह बहुत-कुछ इन्ही के इशारे से। अन्त मे ये अफगानो पर विजय प्राप्त करने के लिए काबुल भेजे गये, जहाँ सवत् १७३५ मे इनकी मृत्यु हो गई।

रचना—ये साहित्य-मर्मज्ञ, गुणज्ञ एव उदार शासक थे, कवियो के आश्रयदाता थे। आचार्य-रूप मे इनकी ख्याति का कारण इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाषाभूषण' है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होने तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखे है। जैसे 'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'अनुभव-प्रकाश', 'आनन्द-विलास', 'सिद्धान्त-बोध', 'सिद्धान्त-सार'। इनके अतिरिक्त इन्होने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक भी लिखा है।

विवेचन—'भाषाभूषण' जयदेव-प्रणीत 'चन्द्रालोक' की सक्षिप्त शैली मे लिखा गया है। जयदेव के समान इन्होने भी एक ही दोहे मे अलकार के लक्षण तथा उदाहरण को समाविष्ट करने का प्रयास किया है। इस शैली

से यह लाभ तो अवश्य होता है कि ग्रन्थ सुखपूर्वक स्मरण-योग्य बन जाता है, पर अत्यधिक कसावट के कारण उदाहरणो मे अलकार की रूपरेखा के अतिरिक्त अन्य कोई काव्य-चमत्कार नही आ पाता। निस्सन्देह 'भाषा-भूषण' अपने युग का पाठ्य ग्रन्थ रहा है। सोमनाथ आदि आचार्यो ने अपने अलकार-प्रकरण मे इसी ग्रन्थ को आधार बनाया है। इसी ग्रन्थ पर सात प्राचीन टीकाएँ लिखी गई है, जिनमे से बशीधर, रणधीरसिह, प्रतापसाहि, गुलाब कवि और हरिचरणदास की टीकाएँ प्राप्त है। पर इस ख्याति का प्रधान कारण ग्रन्थ की सुगम, सुबोध, सक्षिप्त शैली है, न कि काव्यसौष्ठव।

यह ग्रन्थ मुख्यतया अलकार-ग्रन्थ है। इसमे शब्दगत और अर्थगत कुल मिलाकर १०८ अलकारो का निरूपण है। इसके अतिरिक्त इसमे सक्षिप्त रूप से नायक-नायिका-भेद तथा हाव-भाव-वर्णन की भी चर्चा की गई है। ग्रन्थकार ने जयदेव की शैली को अपनाते हुए भी अलकारो के लक्षण-निर्माण के लिए अप्पय्यदीक्षित के ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' की भी सहायता ली है। इससे उसकी सारग्रहण-प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। इस सक्षिप्त प्रणाली का नमूना देखिए—

द्वितीय प्रतीप—**उपमेय को उपमान तें, आदर जबै न होइ।**
गरब करति मुख को कहा, चंदहि नीकें जोइ॥
मीलित—**मीलित सोई सादृस्य तें, भेद जबै न लखाय।**
अरुन-बरन तिय-चरन पर, जावक लख्यौ न जाय॥

(३) मतिराम

जीवन—मतिराम का जन्म सवत् १६७४ मे तिकवाँपुर जिला कानपुर मे हुआ था। ये चिन्तामणि और भूषण के भाई कहे जाते है। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। इनकी मृत्यु सवत् १७७३ के लगभग हुई। बूँदी के महाराज भावसिह, जो बडे भावुक और कविता-प्रेमी थे, इनके आश्रयदाता थे।

रचनाएँ—मतिराम की गणना रीतिकाल के प्रमुख कवियो मे की

जाती है। मिश्रबन्धुओ ने इन्हे हिन्दी के नवरत्नो मे स्थान दिया है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थो के नाम हैं—'रसराज', 'ललित-ललाम', 'अलकार-पचाशिका', 'मतिराम-सतसई', 'छन्द-सार', 'साहित्य-सार' और 'लक्षरण-सार'। परन्तु इनकी ख्याति प्रधानत 'रसराज' और 'ललित-ललाम' नामक ग्रन्थो के ही काररण है।

(१) **रसराज**—इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ शृङ्गार-रस-प्रधान है। इसमे नायिका के सौन्दर्य-वर्णन की कुशलता प्रशसनीय है। उदाहरण के लिए एक पद दिया जाता है—

कुन्दन को रगु फीको लगै, झलकै अति अगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु विलासिन्ह की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नही, मतिराम लहै मुस्कानि मिठाई।
ज्यों-ज्यो निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यो-त्यो खरी निकरै-सी निकाई॥

(२) **'ललित-ललाम' और 'अलंकार-पंचाशिका'**—ये दोनो अलकार-ग्रन्थ हैं। इनमे केवल अर्थालकारो को स्थान मिला है, जोकि अप्पय्यदीक्षित-कृत 'कुवलयानन्द' की शैली पर निर्मित हुए है। लक्षरण दोहो-सोरठो मे प्रस्तुत किये गये है और उदाहरण प्राय कवित्त-सवैयो मे। ग्रन्थ के उदाहरण-भाग मे शृङ्गार-रस के मर्मस्पर्शी चित्रो की झाँकी देखने को मिलती है। एक उदाहरण लीजिए—

तेरे अंग-अग मे मिठाई औ लुनाई भरी,
मतिराम कहत प्रगट यह पाइए।
नायक के नैननि मै नाइए सुधा सो, सब,
सौतनि के लोचननि लोन-सो लगाइए॥

(३) **मतिराम-सतसई**—'विहारी-सतसई' की भाँति यह शृङ्गार-प्रधान सात सौ दोहो का ग्रन्थ हैं। मतिराम का विरह-वर्णन स्वाभाविक और सरस है। वे बिहारी की भाँति नायिका और विरह-ताप को लेकर खिलवाड नही करते। एक उदाहरण देखिए—

बाल अलप जीवन भई, ग्रीषम-सरित सरूप ।
अब रस परिपूरन करो, तुम घनश्याम अनूप ॥

भाषा—मतिराम की भाषा ब्रज है। भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से मतिराम को वही स्थान प्राप्त है, जो देव, बिहारी, पद्माकर आदि कवियो को है। इनके काव्य मे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि देव-बिहारी की भाँति इनकी भाषा मे कृत्रिमता नही आने पाई। इनकी भाषा छन्दो की भर्ती-मात्र नही है।

मतिराम की रचनाओ मे अलङ्कार-योजना सुन्दर, रस की सहायक तथा परिपोषक है। विषम अलङ्कार का उदाहरण देखिए—

सेत सारी ही सौं सब सौतें रंगी स्याम रंग।
सेत सारी ही सौं रंगे स्याम लाल-रंग में॥

निष्कर्ष यह कि—

मतिराम की समस्त रचना, उनका एक-एक पद, उनकी कवित्वशक्ति और मौलिकता का प्रमाण है। इनके सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मार्मिक आलोचक का यह कथन अक्षरश सत्य है—"**भारतीय जीवन से छाँटकर लिये हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रो में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियो में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की-सी चलती भाषा और सरस व्यंजना नही मिलती।**"

(४) भूषण

जीवन—तिकवापुर जिला कानपुर-निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र तथा मतिराम, चिन्तामणि तथा जटाशकर के भाई वीर-कवि भूषण का जन्म स० १७०० के लगभग हुआ और मृत्यु स० १७७२ मे हुई। इनका वास्तविक नाम क्या था, इसका पता अभी तक नही लग सका।

चित्रकूट के सोलङ्की राजा रुद्र ने इन्हे कवि 'भूषण' की उपाधि दी थी और तभी से यह भूषण नाम से प्रसिद्ध हो गये। पहले ये अन्य अनेक राजाओ के यहाँ रहे, किन्तु अन्त में अपनी विचारधारा के समर्थक

छत्रपति महाराज शिवाजी के यहाँ जा पहुचे। पन्ना के महाराज छत्रसाल भी इनका बहुत सम्मान करते थे। कहा जाता है कि एक बार स्वय छत्रसाल ने इनकी पालकी मे अपना कधा लगाया था। शिवाजी ने इनकी कविता पर प्रसन्न होकर इन्हे लाखो रुपये, कई गाँव तथा हाथी भेट किये।

जिस समय अन्यान्य रीतिकालीन कवि शृङ्गारी परम्परा मे पडे नायक-नायिकाओ के हास-विलास के वर्णन मे लगे हुए थे, भूषण और लाल जैसे कवियो का हृदय देश की करुण पुकार से गुजरित हो उठा और उनके काव्य मे वीर रस की धारा का प्रवाह बहने लगा। भूषण ने देश की स्वतंत्रता के पुजारी महापराक्रमी शिवाजी की सच्ची वीरता को अपने काव्य का विषय बनाया है। छत्रसाल की देश-प्रेम की भावना ने भी भूषण को आकृष्ट किया। उन्होने औरङ्गजेब की निन्दा उनके मुसलमान होने के कारण नही की, प्रत्युत एक अत्याचारी शासक होने के कारण की। साथ ही शिवाजी अथवा छत्रसाल की झूठी प्रशंसा करके भी उन्होने अपनी लेखनी का दुरुपयोग नही किया।

रचनाएँ—'शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी' और छत्रसाल-दशक इनकी ये तीनो रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त 'भूषण-उल्लास', 'दूषण-उल्लास' तथा 'भूषण-हजारा' ये अन्य तीन रचनाएँ भी इनकी बताई जाती है। 'भूपण-उल्लास' नाम से एक अलङ्कार-ग्रन्थ प्रतीत होता है। इधर 'शिवराज-भूषण' मे भी अलङ्कारो के लक्षण-उदाहरण हैं। अतः सम्भव है कि 'शिवराज-भूषण' को ही पहले 'भूषण-उल्लास' कहा जाता हो। 'दूषण-उल्लास' मे सम्भवत काव्यशास्त्रीय दोषो का निरूपण होगा और 'भूषण-हजारा' मे इनकी रचनाएँ सकलित होगी। 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' इनकी फुटकर कविताओ के सकलन है। उपलब्ध ग्रन्थो मे 'शिवराज-भूषण' इनकी प्रमुख कृति है।

(१) **'शिवराज-भूषण'**—यह ग्रन्थ एक ओर रीति-ग्रन्थो की परम्परा मे आबद्ध है, और दूसरी ओर वीर-काव्यो की श्रेणी मे आता है। यह ग्रन्थ काव्याङ्ग-निरूपक होने के कारण निस्सन्देह रीति-ग्रन्थो की कोटि मे

आता है, पर महाकवि भूषण का उद्देश्य रीति-प्रणाली के सहारे अपने चरितनायक की प्रशसा करने तथा वीर-काव्य लिखने का भी था। इस सम्बन्ध मे उन्होने स्वय कहा है—

शिव चरित्र लखि यो भयो कवि भूषन के चित्त।
भाँति भाँति भूषननि सौं भूषित करौं कवित्त॥

इस ग्रन्थ मे शब्दालकारो और अर्थालकारो का निरूपण है। अलकारो के लक्षण दोहो-सोरठो मे है, और उदाहरण कवित्त-सवैयो मे। लक्षणो के निर्माण मे भूषण ने जयदेव और अप्पय्यदीक्षित के अतिरिक्त मतिराम के 'ललित-ललाम' मे भी सहायता ली प्रतीत होती है। कही-कही तो शब्दावली भी एक-सी है।

भाषाशैली—भूषण की भाषा ब्रजभाषा है, परन्तु उसमे विभिन्न प्रान्तीय एव विदेशी शब्दो का प्रयोग भी मिलता है। यत्र-तत्र व्याकरण एव वाक्य-रचना की त्रुटियाँ आ गई है। शब्दो को तोडा-मरोडा भी गया है। फिर भी भूषण की वर्णन-शैली इतनी प्रवाहपूर्ण और प्रभावशाली है कि एक चित्र-सा सामने खिच जाता है। युद्ध का एक चित्र देखिए—

साजि चतुरग वीर रग में तुरग चढ़ि,
सरजा शिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषण भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नद मद गैंवरन के रलत है।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठेल पैल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगति जिमि,
धारा पर पारा-पारावार यो हलत है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवि होने पर भी भूषण शृगार-कर्दम मे नही फँसे। यदि तत्कालीन अन्य कवि भी उनका अनुकरण करते तो भारत का इतिहास भी सम्भवत कुछ और ही होता।

(५) कुलपति

कुलपति आगरा के निवासी थे। इनके पिता परशुराम मिश्र थे। प्रसिद्ध कवि बिहारी इनके मामा कहे जाते हैं। ये जयपुर के कूर्मवशीय जयसिह के पुत्र महाराज रार्मसिह के दरबार मे रहते थे। इनके बनाये पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'द्रोणपर्व', 'युक्ति-तरगिणी', 'नखशिख', 'सग्राम-सार' और 'रसरहस्य'। इनमे से अन्तिम ग्रन्थ काव्यशास्त्र से सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ की रचना इन्होने अपने आश्रयदाता रार्मसिह की आज्ञा के अनुसार उनके विजयमहल मे की थी। ग्रन्थ का रचनाकाल कार्तिक बदी एकादशी सवत् १७२७ है।

इस ग्रन्थ मे आठ वृत्तान्त है। शास्त्रीय प्रसग दोहा-सोरठा मे है, और उदाहरण कवित्त-सवैयो मे हैं। ग्रन्थ मे यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग हुआ है, जिसमे अधिकतर लक्षण-उदाहरण का समन्वय मात्र दिखाया गया है, गम्भीर विवेचन प्रस्तुत नही किया गया। कुछेक स्थलो मे शास्त्रीय विषय का स्पष्टीकरण भी हुआ है।

इस ग्रन्थ मे काव्य-स्वरूप, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुणीभूत व्यग्य, गुण, दोष और अलकार—इन काव्यागो का इसी क्रम मे निरूपण प्रस्तुत किया गया है। नायक-नायिका-भेद-प्रसग को इसमे स्थान नही मिला। इस अभाव का एक कारण तो मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अनुकरण है, और दूसरा सम्भव कारण यह है कि कुलपति ने 'नखशिख' नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी निर्माण किया है, जो वस्तुत नायक-नायिका-भेद का ही ग्रन्थ है।

'रसरहस्य' के निर्माण मे मूलत 'काव्यप्रकाश' का आधार ग्रहण किया गया है। कुछेक स्थलो मे विश्वनाथ-कृत 'साहित्यदर्पण' तथा केशव-कृत 'रसिकप्रिया' से भी सहायता ली गई है। इनकी निरूपण-शैली की विशेषता यह है कि इन्होने चिन्तामणि के समान केवल उल्था मात्र प्रस्तुत न करके शास्त्रीय सामग्री को सुबोध एव सरल अनुवाद के रूप मे ढाल दिया है, पर वर्ण्य विषय को सुबोध बनाने के उद्देश्य से इसे गम्भीरता से भी वञ्चित

नही रखा गया।

इनके ग्रन्थ मे कुछेक गम्भीर शास्त्रीय विषयो को भी स्थान मिला है। उदाहरणार्थ इन्होने मम्मट तथा विश्वनाथ के काव्यलक्षणो पर आक्षेप प्रस्तुत किये हैं, शब्दशक्ति-प्रसग मे तात्पर्यार्थवृत्ति की चर्चा की है, तथा रस-निष्पत्ति-प्रसग मे अभिनवगुप्त के मत का उल्लेख किया है। निस्सन्देह इनके ये सभी स्थल न तो पूर्ण एव सर्वांशत मान्य हैं और न व्यवस्थित रूप मे प्रतिपादित हुए हैं। फिर भी इन गम्भीर प्रसगो का उल्लेख कुलपति के गम्भीर आचार्यत्व का द्योतक है।

इन्होने कुछेक मौलिक धारणाएँ भी प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ—विश्वनाथ के काव्यलक्षण पर इनका प्रथम आक्षेप नूतन है। काव्य-प्रयोजन-प्रसग मे काव्य द्वारा 'जगत् के राम अथवा राग के वश में' होने का उल्लेख भी नूतन है। नाटक मे शान्त-रस को स्थान न देने के सम्बन्ध मे इन्होने एक नवीन कारण प्रस्तुत किया है, जिसका भावार्थ है कि नाटक बहुविषयी है और काव्य एक-विषयी, निर्वेदवासनावत अर्थात् विरक्त पुरुष इस भय से (शान्त-रस-प्रधान भी) नाटक नही देखता कि कही कोई विषय उसके लिए विकारोत्पादक न बन जाय, अत काव्य मे तो शान्त-रस को स्थान मिलना चाहिए, पर नाटक में नही। सस्कृत-आचार्यो में धनञ्जय और उनके टीकाकार धनिक ने इस विषय पर प्रकाश डाला है, पर कुलपति इस सम्बन्ध मे उनसे नितान्त अप्रभावित है। उनका उक्त कारण पूर्णत मान्य न होते हुए भी हमारे विचार में मौलिक अवश्य है। इस ग्रन्थ मे कुछेक दोष भी हैं। उदाहरणार्थ रस-दोष-प्रसंग मे 'अनगाभिधान' नामक दोष का अर्थ इन्होने किया है—अनग (कामदेव) का अभिधान (नाम लेना) वर्जित है। पर वस्तुत इसका अर्थ है अनग, अर्थात् रस के अनुपकारी किसी प्रसग का अभिधान, अर्थात् वर्णन। पर इस प्रकार के दोषो की सख्या अत्यल्प है। इनके ग्रन्थ का अधिकतर भाग शास्त्र-सम्मत, विशुद्ध, व्यवस्थित तथा सुबोध होते हुए भी गम्भीर शैली मे प्रतिपादित है। इस दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यो मे कुलपति

का स्थान अपनी विशिष्टता रखता है। इस ग्रन्थ की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है—उदाहरणो की शास्त्र-सम्मतता एव सरसता। दो उदाहरण लीजिए—

(१)

साजि सिंगार हुलास विलास अवास तें प्रीतम बास पधारी।
देह की दीपति ऐसी लसै जेहि देखत दामिनी को टक वारी॥
आगे ह्वै जाई कै आदरि कै कर पै कर राखि लै आये मुरारी।
भैचकी हेरि हँसी विलखी तिय भीतर भौन भयो रंग भारी॥

(२)

यमुना जल संग समीर बहै रु सुधा करतें सो प्रकास कियो।
सजि चन्दन अग चढ़ायो बनाय कपूर को अंजन नैन दियो॥
नीर गुलाब सो न्हाय पियूष-सी बातें करे ढिग ओर तियो।
वह सेज सरोजनि की परिपोटै तऊ नहिं सीतल होत हियो॥

(६) देव

जीवन—रीतिकाल के शृङ्गारिक कवियो तथा लक्षण-ग्रन्थकारो मे प्रमुख महाकवि देवदत्त अथवा देव का जन्म स० १७३० मे इटावा के एक धनाढ्य ब्राह्मण परिवार मे हुआ और मृत्यु ९४ वर्ष की अवस्था मे स० १८२४ मे हुई।

अपने मनोनुकूल आश्रयदाता न मिलने के कारण ये विभिन्न राज-दरबारो मे भटकते फिरे थे। इस पर्यटन से इनका ज्ञान व्यापक और विस्तृत हो गया था। सोलह वर्ष की आयु मे ही इन्होने 'भाव-विलास' नामक सुन्दर रीति-ग्रन्थ की रचना कर डाली थी, इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है कि ये कितने प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे।

मुगल-सम्राट् औरङ्गजेब के पुत्र आजमशाह तृतीय को इन्होने अपना 'भाव-विलास' तथा 'अष्टयाम' सुनाया। गृह-युद्ध मे आज़मशाह के मारे जाने पर देव को दिल्ली छोडकर अन्यान्य आश्रयदाताओ की खोज करनी पडी। अन्त मे उन्हे पिहानी-निवासी अकबर अलीखाँ का आश्रय

मिला। इन्ही अकबर अलीखाँ को देव ने अपनी अनेक रचनाओ को 'सुखसागर-तरङ्ग-सग्रह' का नाम देकर समर्पित कर दिया।

रचनाएँ—इनके ग्रन्थो की सख्या कोई ७२ और कोई ५२ बताते हैं। किन्तु निम्नलिखित २७ ग्रन्थ तो प्रकाशित हो चुके है शेष ग्रन्थो की अभी खोज की आवश्यकता है—

१ 'भाव-विलास', २ 'भवानी-विलास,' ३ 'जाति-विलास', ४. 'रस-विलास', ५ 'अष्टयाम', ६. 'नीतिशतक', ७. 'सुजान-विनोद', ८. 'प्रेम-तरंग', ९. 'राग-रत्नाकर', १०. 'देवचरित्र', ११. 'प्रेम-चन्द्रिका', १२. 'शब्द-रसायरण', १३ 'वृक्ष विलास', १४ 'ब्रह्मदर्शन-पच्चीसी', १५. 'तत्त्व-दर्शन-पच्चीसी, १६ 'रसानन्द-लहरी', १७ 'जगद्दर्शन-पच्चीसी', १८. 'आत्म-दर्शन-पच्चीसी', १९ 'पावस-विलास', २० 'प्रेम-दीपिका', २१. 'राधिका-विलास', २२. 'नख-शिख-प्रेमदर्पण', २३ 'सुमिल-विनोद', २४ 'कुशल-विलास', २५ 'सुखसागर-तरग', २६ 'देव-माया-प्रपंच नाटक' और २७ 'वैराग्य-शतक'।

इनमे से अधिकाश ग्रन्थो मे एक-दूसरे ग्रन्थों से कविताएँ सकलित कर एक नये ग्रन्थ का नाम दे दिया गया है। इनकी समस्त रचनाओ मे 'भाव-विलास', 'रस-विलास', 'प्रेम-चन्द्रिका' और शब्द-रसायरण' अधिक प्रसिद्ध एव उत्कृष्ट हैं। 'रस-विलास' और 'प्रेमचन्द्रिका' मे उत्कृष्ट साहित्य के दर्शन होते है। भाव-विलास' और 'सुखसागर-तरग' क्रमश रस-भेद तथा नायिका-भेद के ग्रन्थ है। 'शब्द-रसायन' काव्यशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसने काव्यस्वरूप, शब्द-शक्ति, रस, अलङ्कार तथा छन्द आदि का विवेचन किया गया है, पर यह ग्रन्थ पूर्णत प्रामाणिक एव शास्त्र-सम्मत नही है।

इन समस्त ग्रन्थो से देव की प्रतिभा और मानसिक क्रम-विकास का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। इनके काव्य का प्रमुख विषय शृङ्गार ही रहा है। यौवन की तरग मे इन्होने खूब शृङ्गारिक कविता लिखी थी परन्तु आश्रयदाताओ के प्रति असन्तुष्ट रहने के कारण अन्त मे इन्हे विरक्ति-सी

हो गई और यह शान्त-रस की रचना करने लगे। 'देव-माया-प्रपच' नाटक तथा 'वैराग्य-शतक' उसी समय की रचनाएँ हैं।

भाषाशैली—देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। भाषा के सौष्ठव, समृद्धि एव अलकरण पर देव का विशेष ध्यान रहा है। इनकी कविता मे पद-मैत्री, यमक और अनुप्रास का पर्याप्त प्रदर्शन है। भाषा मे रसार्द्रता और गति कम पाई जाती है। कही-कही शब्द-व्यय अधिक और अर्थ बहुत अल्प पाया जाता है। इनकी भाषा मे मुहावरो और लोकोक्तियो का सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है। उनका प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप मे अधिक प्राप्त है। ऋतु-वर्णन काव्य-परम्परा के अनुकूल निर्मित हुआ है।

बिहारी और देव की उत्कृष्टता को लेकर साहित्यिक जगत् मे एक विवाद-सा खडा हो गया था। डॉ० श्यामसुन्दरदास के कथनानुसार देव का स्थान पाण्डित्य की दृष्टि से रीतिकाल के समस्त कवियो मे आचार्य केशवदास के कुछ नीचे माना जा सकता है, और कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहरते है, फिर भी अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता मे उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा का मिश्रण करने और सुन्दर कल्पनाओ के समावेश के कारण सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पडता है। रीतिकाल के कवियो मे ये बडे ही प्रगल्भ एव प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, इसमे तनिक भी सन्देह नही। इनकी रचना के कुछेक निदर्शन देखिए—

(१)

आक बाक बकति, बिथा मै बूड़ि-बूडि जाति,
पी की सुधि आये जी की सुधि खोय-खोय देति।
बड़ो-बड़ी बार लगि बड़ी-बड़ी आंखिन ते,
बड़े-बड़े अँसुवा हिये समोय मोय देति।
कोह-भरी कुहकि, विमोह-भरी मोहि मोहि,
छोह-भरी छितिहि करोय रोय-रोय देति।
बाल बिन बालम बिकल बैठी बार-बार,
बपु मे बिरह-विष-बीज बोय-बोय देति।

(२)

खरी दुपहरी हरी-भरी-फरी कुञ्ज मंजु,
गुंज अलि-पुञ्जन की 'देव' हियो हरि जात।
सीरे नद नीर तरु सीतल गहीर छाँह,
सोवैं परे पथिक पुकारैं पिकी करि जात।
ऐसे मैं किसोरी भोरी, गोरी, कुम्हिलाने मुख,
पंकज से पाँव धरा धीरज सो धरि जात।
सोहैं घनस्याम-मग हेरति हथेरी-ओट,
ऊँचे धाम वाम चढ़ि आवति उतरि जात॥

(७) श्रीपति

श्रीपति मिश्र कालपी नगर के निवासी थे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'काव्य-सरोज' है, जिसकी रचना सं० १७७७ में हुई। इसके अतिरिक्त इन्होंने कविकुलकल्पद्रुम', 'रससागर' 'अलंकार-गंगा', 'अनुप्रास-विनोद', 'विक्रमविलास', 'सरोजलतिका' आदि अन्य ग्रन्थ भी लिखे, जोकि अनुपलब्ध हैं। नाम से प्रतीत होता है कि इनमें से प्रथम चार ग्रन्थों का विषय काव्यशास्त्र होगा।

'काव्य-सरोज' के कारण श्रीपति की गणना प्रमुख आचार्यों में की जाती है। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, दोष, गुण, अलंकार और रस नामक काव्यांगों का निरूपण है। इनके दोष-प्रसंग की विशेषता यह है कि इसमें इन्होंने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत न कर पूर्ववर्ती हिन्दी-कवियों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से केशव के अतिरिक्त सेनापति और ब्रह्म के नाम उल्लेख्य हैं। रीतिकाल के प्रख्यात आचार्य दास के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने अपने काव्यनिर्णय में बहुत-सी बातें श्रीपति के 'काव्यसरोज' से अपना ली हैं। पर दोनों ग्रन्थों की विभिन्न निरूपण-शैली तथा शास्त्रीय धारणाओं को देखते हुए यह कथन ठीक प्रतीत नहीं होता। श्रीपति की वर्ण्य-सामग्री सुलझी हुई तथा स्पष्ट है। इनके सरस उदाहरणों में से एक नमूना लीजिए—

घूँघट उदय गिरिवर ते निकसि रूप,
सुधा सौं कलित छबि-कीरति बगारो है।
हरिन डिठौना स्याम, सुख सील बरषत,
करषत सोक अति तिमिर बिदारो है।
श्रीपति विलोकि सौति वारिज मलिन होत,
हरषि कुमुक फूलैं नंद को दुलारो है।
रजन मदन तन गजन विरह, विवि–
खंजन सहित चंदबदन तिहारो है॥

(८) सोमनाथ

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण नीलकण्ठ मिश्र के पुत्र थे। ये भरतपुर के महाराज बदनसिह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिह के यहाँ रहते थे। इन्ही के लिए इन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसपीयूषनिधि' की रचना स० १७६४ मे की थी। इनके बनाये अन्य ग्रन्थ हैं—'शृगार-विलास', 'कृष्ण-लीलावती,' 'पचाध्यायी','सुजान-विलास' और 'माधवविनोद'। इनमे से 'रसपीयूषनिधि' और 'शृगारविलास' काव्यशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है और अभी तक अप्रकाशित हैं। 'शृगारविलास' वस्तुत स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है। 'रसपीयूष-निधि' मे वर्णित नायिका-भेद की सामग्री मे नाममात्र का परिवर्तन करके इसे यही नाम दे दिया गया है। यह ग्रन्थ पूर्ण रूप मे उपलब्ध नही है।

'रसपीयूषनिधि' विविध काव्याग-निरूपक ग्रन्थ है। इसमे शास्त्रीय लक्षण अधिकाशत दोहे अथवा सोरठे के एक दल मे प्रस्तुत किये गये हैं और थोडे स्थलो मे पूर्ण छन्द मे। उदाहरण के लिए अधिकतर कवित्त-सवैयो का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ मे कही-कही गद्य का भी प्रयोग किया गया है, पर उसमे शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत न किया जाकर अधिकतर लक्षण-उदाहरण का समन्वय मात्र प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ मे काव्यस्वरूप, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, गुणीभूत-व्यग्य, दोष, गुण और अलकार के अतिरिक्त छन्द का भी निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण मे सोमनाथ ने मम्मट, विश्वनाथ

और भानु मिश्र के ग्रन्थो के अतिरिक्त कुलपति के 'रसरहस्य' तथा जसवन्त सिह के 'भाषाभूषण' से सहायता ली है ।

ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य सुबोध और ललित शैली मे सुकुमार-बुद्धि पाठको को काव्यशास्त्रीय आरम्भिक ज्ञान देना प्रतीत होता है। यही कारण है कि वर्ण्य सामग्री के निर्वाचन मे उन्होने सरल मार्ग का अवलम्बन किया है, तथा वे इसे अत्यन्त सक्षिप्त और किन्ही स्थलो मे अपूर्ण रूप से प्रस्तुत करते चले गये है। उदाहरणार्थ काव्यहेतु-प्रसग मे इन्होने मम्मट-सम्मत 'अभ्यास' का तो उल्लेख किया है, पर शक्ति और व्युत्पत्ति का नही। शब्दशक्ति-प्रकरण मे आर्थी-व्यञ्जना के दस वैशिष्ट्यो मे से केवल चार पर प्रकाश डाला है। रस-प्रकरण मे भरत-सूत्र के चार व्याख्यानाओ मे से केवल एक—अभिनवगुप्त के सिद्धान्त की चर्चा की है और वह भी चलती-सी। दोष-प्रसग मे केवल १६ दोषो का निरूपण किया है। इसी प्रकार नायक-नायिका-भेद-प्रसग तथा अलकार-प्रकरण को छोडकर लगभग सर्वत्र यही स्थिति है। फिर भी इस ग्रन्थ का महत्त्व कम नही है। इसकी प्रमुख विशेषता है शास्त्रीय भाग का सरल भाषा मे प्रतिपादन। उदाहरणार्थ—

काव्य-प्रयोजन—

कीरति वित्त विनोद अरु अति मगल को देति।
करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति ॥

रति-लक्षण—

इष्ट-मिलन की चाह जो रति समुझौ सो मित्त ।

विभावना प्रथम—

बिना हेतु जहँ कारन सिद्ध । सो विभावना जानि प्रसिद्ध ।।

इस ग्रन्थ की अन्य विशिष्टता यह है कि इसमे 'ध्वनि' और उसके अन्तर्गत रस तथा 'नायक-नायिका-भेद' जैसे विशाल प्रसगो को छोटी-छोटी १२ तरंगो मे विभक्त करके पाठक को इसकी विशालता के भय से बचा लिया गया है।

इस ग्रन्थ के उदाहरणो की सरसता का एक नमूना लीजिए—

रचि भूषन आई अलीन के संग तें,
सासु के पास बिराजि गई ।
मुख चंद मऊखनि सो ससिनाथ,
सबै घर में छबि छाजि गई ।
इनको पति ऐहै सबार सखी कह्यौ,
यो सुनि कै हिय लाजि गई ।
सुख पाइकै, नार नबाइ तिया,
मुसक्याइ कै भौन मे भाजि गई ।।

(६) रसलीन

रसलीन का वास्तविक नाम सैयद गुलाम नबी था । ये बिलग्राम (जिला हरदोई) के रहने वाले थे । इनके बनाये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध है— 'अगदर्पण' और 'रसप्रबोध' । प्रथम ग्रन्थ की रचना स० १७६४ मे हुई और द्वितीय ग्रन्थ की स० १७६८ में । 'अगदर्पण' मे अगो का उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है । निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा इसी ग्रन्थ का ही है—

अमिय हलाहल मदभरे, श्वेत श्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ।।

'रस-प्रबोध' ग्रन्थ मे नवरसो का निरूपण है । रीतिकालीन अन्य ग्रन्थो के समान इस ग्रन्थ का भी अधिकतर भाग शृ गार-रस तथा उससे सम्बद्ध नायक-नायिका-भेद-प्रसग को समर्पित हुआ है । इसके कुछेक स्थलो मे केशव-प्रणीत 'रसिकप्रिया' से भी सहायता ली गई है । इस ग्रन्थ मे वर्णित उद्बुद्धा और उद्वोधिता नामक नायिका-भेदो के लिए 'शृ गार-मञ्जरी' नामक सस्कृत-ग्रन्थ को साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप मे आधार माना जा सकता है । रसलीन की कविता का सरस काव्य-चमत्कार देखिए—

दीपक लौं झाँपति हुती ललन होति यह बात।
ताहि चलत अब फूल लौं बिगसन लाग्यो गात॥
सजे श्वेत भूषन बसन जोन्ह माँहि न लखाय।
पट उघरत घन बदन द्युति चमकि द्वै ज मी जाय॥
सौतिन मुख निसि-कमल भो पिय-चख भये चकोर।
गुरुजन मन-सागर भये लखि दुलहिन मुख ओर॥
तिय सैसब-जोबन मिले भेद न जान्यो जात।
प्रात समै निसि-द्यौस के दोउ भाव दरसात॥
राधा-तन फूलन मिलो पातन हरि को गात।
नूपुर-धुनि खग-धुनि मिली भले बने सब सात॥

(१०) भिखारीदास

जीवन—भिखारीदास जाति के कायस्थ थे और प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपाल-दास था। ये स० १७९१ से स० १८०१ तक प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में रहे।

रचनाएँ—दास ने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी चार ग्रन्थों का निर्माण किया है—'काव्य-निर्णय', 'शृङ्गार-निर्णय', 'रससाराश', और छन्दोर्णव-पिगल'। इनमे से प्रथम ग्रन्थ मे काव्य के विविध अगो का निरूपण है। अगले दो ग्रन्थ रस और नायक-नायिका-भेद-विषयक है। चौथा ग्रन्थ छन्द शास्त्र है। इन्होने विष्णुपुराण भाषा का भी निर्माण किया था।

भिखारीदास की ख्याति का प्रधान कारण इनका 'काव्य-निर्णय' नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का निर्माण उक्त हिन्दूपतिसिंह के नाम पर स० १८०३ मे हुआ। इसमे २५ उल्लास है, जिनमे काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, रस, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, अलकार और दोष नामक काव्याङ्गो का निरूपण है।

इस ग्रन्थ मे अपराग नामक एक उल्लास के अन्तर्गत रसवत् आदि सात अलकारो का स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया गया है। वस्तुतः

'अपराग' कोई स्वतन्त्र काव्याङ्ग न होकर गुणीभूतव्यग्य का ही एक भेद है। इसी प्रकार तुक और चित्र को भी स्वतन्त्र उल्लासो मे स्थान मिला है। इनमे से चित्र तो शब्दालकार है ही, तुक भी प्रकारान्तर से अनुप्रास नामक शब्दालकार का एक रूप है, अत ये दोनो भी कोई स्वतन्त्र काव्याङ्ग नही हैं। दास ने गुण नामक काव्याङ्ग का पृथक् निरूपण न कर उसे अलकार का ही एक प्रकार मान लिया है, पर यह समुचित नही है।

इस ग्रन्थ मे अलकारो का निरूपण दो बार हुआ है—प्रथम बार 'अलकार-मूल' नाम से ('चन्द्रालोक' की शैली मे) सक्षिप्त रूप मे, और द्वितीय बार 'अलकार' नाम से विस्तृत रूप मे। अलकार-मूल से दास का तात्पर्य है—वे अलकार, जिन पर अन्य अलकार अवलम्बित हैं। दूसरा 'विस्तृत निरूपण' इन मूल अलकारो के आधार पर विभिन्न उल्लासो मे वर्गीकृत किया गया है, पर उनका यह वर्गीकरण पूर्णत वैज्ञानिक एव शास्त्र-सम्मत न होने के कारण पूर्ण रूप से मान्य नही है।

इस ग्रन्थ के निर्माण मे इन्होने मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित और जयदेव के ग्रन्थो की सहायता ली है, और उधर 'रससाराश' तथा 'शृङ्गार-निर्णय' के निर्माण मे भानुमिश्र तथा रुद्रभट्ट के ग्रन्थो के अतिरिक्त चिन्तामणि और केशव के ग्रन्थो से भी सहायता ली है। इनके नायिका-भेदो मे से कुछ भेद तो रसलीन और कुमारमणि के ग्रन्थो मे भी उपलब्ध हो जाते है। इन समकालीन लेखको मे कौन किसका ऋणी है—यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है।

दास के काव्यनिर्णय की अपनी विशिष्टता है। इसमे कुछेक मौलिक धारणाओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, पर वे पूर्णत. मान्य नही हैं। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम दास की वर्गीकरण-प्रियता उल्लेखनीय है। उन्होने वामन-सम्मत दस गुणो को चार वर्गो मे विभक्त किया है, नायिका के स्वाधीन-पतिका आदि आठ भेदो को दो वर्गो मे तथा इक्यानवे अलकारो को बारह वर्गों मे। ये वर्गीकरण दास की मौलिक

प्रतिभा के उत्कृष्ट नमूने है। इनमे से गुणो का वर्गीकरण तो सर्वागत-मान्य है, और शेप दो आशिक रूप मे मान्य है। इन्होने शृङ्गार-रस के सम तथा मिश्रित, सामान्य तथा सयोग और नायक-जन्य शृङ्गार तथा नायिका-जन्य शृङ्गार—ये नूतन भेद प्रस्तुत किये है। ये भी सभी मान्य है।

इन सबसे बढकर दास की महत्ता इस बात मे है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण करते समय इनके सम्मुख हिन्दी-भाषा का आदर्श है। ब्रजभाषा के सम्बन्ध मे उनका यह कथन कि "इस भाषा मे रचित रचनाओ को देखकर उनके रचयिताओ को ब्रजवासी समझ लेना उचित नही है," इस तथ्य का द्योतक है कि ब्रजभाषा उन दिनो ब्रजमण्डल से बाहर के भी क्षेत्र की साहित्यिक भाषा स्वीकृत हो चुकी थी और "उसमे विभिन्न-प्रदेशीय शब्दो का भी मिश्रण हो रहा था।"[1]—ब्रज-भाषा के सम्बन्ध मे उनका यह कथन सिद्ध करता है कि आचार्य के सम्मुख इस भाषा का भी आदर्श था। इसी प्रकार दास का काव्य-हेतु-प्रसग हिन्दी-भाषा को लक्ष्य मे रखकर निर्मित किया गया है। इनके दोष-प्रकरण मे भी अधिकतर उदाहरण हिन्दी-भाषा एव साहित्य का 'सदोष' रूप प्रस्तुत करते है। 'तुक' नामक काव्याङ्ग भी हिन्दी-कविता की निजी विशिष्टता है।

निस्सन्देह उक्त सभी धारणाएँ एव मौलिकताएँ पाठक के हृदय मे दास के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर देती है, पर इनके ग्रन्थो मे उपलब्ध सदोष एव अपूर्ण प्रसग उस श्रद्धा की क्षति भी करते है। उदाहरणार्थ, इनके विविधाङ्ग-निरूपण ग्रन्थ मे 'काव्य का लक्षण' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की चर्चा नही की गई। शब्दशक्ति-प्रकरण मे सकेत-ग्रह, उपादान लक्षणा तथा अभिधामूला शाब्दी व्यजना के प्रसग शिथिल है। गूढ और अगूढ

---

१. (क) ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो।
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानीहू से जानिये।
(ख) तुलसी गंग दुओ भये, सुकविन के सरदार।
इनकी काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

व्यग्यो को भी यथोचित स्थान नही मिला। इनके ध्वनि-प्रकरण मे परम्परा का उल्लघन भी है, विषय-सामग्री का अपूर्ण निरूपण भी तथा भाषा-शैथिल्य के कारण शास्त्रीय सिद्धातो का अपरिपक्व विवेचन भी। इसी प्रकरण मे इन्होने 'स्वयलक्षित व्यग्य' नामक एक नवीन ध्वनि-भेद का भी उल्लेख किया है, पर न इसका स्वरूप स्पष्ट हो पाया है और न इसके उपभेदो का। इनका गुणीभूतव्यग्य प्रकरण भी अधिकाशत अव्यवस्थित है। रस-प्रकरण मे करुण और करुण-विप्रलम्भ का अन्तर स्पष्ट नही हो सका। नायक-नायिका-भेद प्रकरण मे स्वकीया की रक्षिताओ के बीच स्थापना तथा इसके 'अनूढा' नामक भेद की स्वीकृति युक्तिसगत नही है। गुण-प्रकरण मे इनका 'पुनरुक्तिप्रकाश' नामक नया गुण भी हमारे विचार मे गुणत्व का अधिकारी नही है।

इस प्रकार मौलिक उद्भावनाओ तथा सदोष एव अपूर्ण प्रसगो से परिपूर्ण इनके तीनो ग्रन्थ एक विचित्र प्रकार का भाव पाठक के हृदय मे अकित कर देते है। इतना सब होते हुए भी विविधाङ्ग-निरूपक ग्रन्थो मे केशव की 'कविप्रिया' के बाद दास का 'काव्यनिर्णय' ख्याति-लब्ध रहा है— इसका प्रधान कारण दास की मौलिक उद्भावनाएँ ही हो सकती है। इधर काव्य-चमत्कार की दृष्टि से भी दास किसी भी रूप मे कम नही है। निदर्शन के लिए इनके दो पद्य लीजिए—

(१)

आनन है अरबिंद न फूले,
अलीगन भूले कहा मँडरात हौ।
कीर तुम्हे कहा बाय लगी,
भ्रम बिम्ब के ओठन को ललचात हौ।
दास जू ब्याली न बेनी बनाव है,
पापी कलापी कहा इतरात हौ।
बोलती बाल न बाजती बीन,
कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ॥

(२)

भावी भूत वर्तमान मानवी न होइ ऐसी,
देवी दानवीन हूँ सो न्यारो एक डौरई ।
या बिधि की बनिता जो बिधना बनायो चहै,
दास तौ समुझिए प्रकासै निज बौरई ।
कैसे लिखे चित्र को चितेरो चकि जात लखि,
दिन द्वैक बीते दुति औरै और दौरई ।
आज भोर औरई पहर होत औरई है,
दुपहर औरई रजनि होत औरई ॥

(११) पद्माकर

जीवन—पद्माकर बादा (उत्तर प्रदेश) के निवासी तैलग ब्राह्मण मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म-सवत् १८१० है। इनकी मृत्यु सवत् १८९० मे गगा के तट पर कानपुर मे हुई। भारत के अनेक राव-राजाओ द्वारा इनका पर्याप्त सम्मान हुआ और इन्होने अनेक ग्रन्थ उन आश्रयदाताओ के नाम पर लिखे। सितार के महाराज रघुनाथ राव या राघोबा, पन्ना के महाराज हिन्दुपति, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह तथा उनके पुत्र महाराज जगतसिंह, सुगरा के नोने अर्जुनसिह, गुमाई अनूपगिरि उप-नाम हिम्मतबहादुर, उदयपुर के महाराणा भीमसिह, ग्वालियर-नरेश दौलत राव सिन्धिया और बूँदी-नरेश आदि अनेक राजा-महाराजाओ ने इन्हे अपना राजगुरु एव राजकवि मानकर प्रचुर मात्रा मे धन और सम्मान दिया।

रचनाएँ—इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिम्मत-बहादुर-विरुदावली', 'जग द्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबोध-पचासा', 'गगालहरी' और 'राम-रसायन' माने जाते हैं।

'हिम्मत-बहादुर-विरुदावली' मे हिम्मतबहादुर की वीरता का ओजस्वी वर्णन है। 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' क्रमश श्रृगार-रस तथा अलकार के सुन्दर ग्रन्थ हैं। 'राम-रसायन' तुलसीदास जी की दोहा-चौपाई-शैली पर लिखा हुआ रामचरित-सम्बन्धी ग्रन्थ है। अपनी अन्तिम अवस्था मे

इन्होने 'प्रबोध-पचासा' तथा 'गगा-लहरी' नामक वैराग्य व भक्तिपूर्ण काव्यो की रचना की थी ।

भाषाशैली—पद्माकर की भाषा ब्रजभाषा है । शब्दो का लाक्षणिक प्रयोग तथा विशुद्ध मधुर पदावली इन्हे रीतिकालीन बिहारी आदि महा-कवियो की पक्ति मे ला बिठाती है । इनके कवित्त-सवैये देव की रचना की तुलना करते है । भाषा की अनुप्रासमयता पर विशेष बल देने के ये अभ्यासी न थे, फिर भी यत्र-तत्र ऐसा स्वरूप देखने को मिल जाता है । इन्होने रीतिकालीन अन्य कवियो की भाँति शब्दो मे तोड-मरोड करके भाषा को कृत्रिम रूप देने का प्रयत्न भी नही किया । इनकी रचना मे कोमलकान्त-पदावली तथा सरस भावनाओ का मणि-काचन-सयोग स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है ।

पद्माकर के कवित्त जैसे ओजपूर्ण होते थे, वैसे ही वे इन्हे पढते भी ओजपूर्ण रीति से थे । कहते हैं कि इनकी ख्याति सुनकर ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिन्धिया की इनसे मिलने की प्रबल इच्छा हुई । पद्माकर उस समय कुष्ट-रोग से ग्रस्त थे । महाराज को मन्त्रियो ने शास्त्राज्ञा बताई कि कोढी आदि रोगियो को राजा के लिए देखना निषिद्ध है । महाराज की इच्छा प्रबल थी, अत पद्माकर और राजा के बीच एक पर्दा डालने की व्यवस्था की गई । किन्तु जब पद्माकर ने अपने भडकीले कवित्त महाराज की प्रशसा मे सुनाने आरम्भ किये तो महाराज से न रहा गया और उन्होने पर्दे को एक ओर हटाकर पद्माकर को गले से लगा लिया ।

कहा जाता है कि 'गगालहरी' नामक ग्रन्थ पद्माकर का कोढी अवस्था मे लिखा ग्रन्थ है । यह प्रसिद्ध है कि गगा की स्तुति मे कवित्तो को कहते रहने पर, इनका कुष्टरोग सर्वथा जाता रहा ।

सक्षेप मे पद्माकर के काव्य की विशेषताएँ हैं, उत्कृष्ट कल्पना की उडान, विषय-विवेचन की विशुद्धता और कोमलकान्त मधुर पदावली तथा शब्दो का लाक्षणिक प्रयोग । इन्ही गुणो के कारण ही पद्माकर की रीति-काल के प्रमुख कवियो मे गणना की जाती है । इनकी रचना के कुछेक

नमूने देखिए—

घर ना सुहात ना सुहात बन-बाहर हूँ,
बाग ना सुहात जे खुशाल खुशबोही सो।
कहै पदमाकर घनेरे घन घाम त्यो ही,
चद ना सुहात चाँदनी हूँ जोग जोही सो।
साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछू,
ब्यापी यह बात सो बखानत हौं तोही सों।
राति न सुहात न सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों॥

(१२) प्रतापसाहि

जीवन—प्रतापसाहि बुन्देलखण्ड-निवासी रतनेस बन्दीजन के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता चरखारी (बुन्देलखण्ड) के महाराज विक्रमसाहि थे। 'शिवसिह-सरोज' के अनुसार ये कवि महाराज छत्रसाल परनापुरन्दर के यहाँ भी रहे थे। इनका रचना-काल स० १८८० से १६०० तक माना जाता है।

रचनाएँ—इनके द्वारा रचित ये ग्रन्थ कहे जाते है—'जयसिह-प्रकाश', 'शृ गारमजरी', 'व्यग्यार्थकौमुदी', 'शृ गार-शिरोमणि', 'अलकार-चिन्तामणि', 'काव्यविनोद' और 'जुगल-नखशिख'। इनके अतिरिक्त अपने 'काव्य-विलास' ग्रन्थ मे इन्होने 'रसचन्द्रिका' ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। 'जयसिह-प्रकाश' को छोडकर शेष सभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। इनमे से केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'काव्यविलास' और 'व्यग्यार्थकौमुदी'। इनके अतिरिक्त इन्होने 'भाषा-भूषण' (जसवन्तसिह-कृत), 'रसराज' (मतिराम-कृत), 'नखशिख' (बलभद्र-कृत) और 'सतसई' (सम्भवत बिहारी-कृत)—इन ग्रन्थो की टीकाएँ भी लिखी हैं।

व्यंग्यार्थकौमुदी—इस ग्रन्थ की रचना सवत् १८८२ मे हुई थी। इसके दो भाग हैं—मूलभाग और वृत्तिभाग। लगभग सम्पूर्ण मूलभाग मे इन्होने भानुमिश्र के नायक-नायिका-भेदो को लक्ष्य में रखकर उदाहरण प्रस्तुत

किये है, और गद्यबद्ध वृत्तिभाग मे प्रत्येक उदाहरण से सम्बद्ध नायक-भेद अथवा नायिका-भेद का तथा शब्दशक्ति और अलकार के भेद का निर्देश करके इन भेदो के सामान्य-परिचयात्मक लक्षण भी प्रस्तुत कर दिये है। इस प्रकार वृत्तिभाग से समन्वित यह एक लक्षण-ग्रन्थ है और इसके बिना मूलत लक्ष्य-ग्रन्थ। निस्सन्देह यह अपने प्रकार का विचित्र प्रयोग है। सम्भव है ऐसे ग्रन्थ उस युग मे अन्य भी लिखे गये हो। लगभग इसी आदर्श पर लिखित राव-गुलाबसिह-प्रणीत 'बृहद् व्यग्यार्थकौमुदी' नामक प्रकाशित ग्रन्थ हमारे देखने मे आया है। स्पष्ट है कि प्रतापसाहि का उक्त ग्रन्थ मूलत ध्वनि तथा व्यग्यार्थ का विवेचक ग्रन्थ नही है, जैसा कि लगभग सभी हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने माना है।

काव्य-विलास—इसका निर्माण स० १८८६ मे हुआ। यह विविध काव्याग-निरूपक ग्रन्थ है। इसमे काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुणीभूत व्यग्य, गुण और दोप का निरूपण है। इसमे नायक-नायिका-भेद और अलकारो का निरूपण नही है। इसमे यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ के आरम्भ मे ही काव्यलक्षण-प्रसग के अन्तर्गत भीपण भ्रान्तियो को देखकर ग्रन्थकार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, पर आगे वस्तुस्थिति लगभग सँभल जाती है। आगामी प्रकरणो मे जो अशुद्ध विवेचन है, वे इतने भ्रामक नही है। उदाहरणार्थ—शब्द-शक्ति-प्रकरण मे सकेतग्रह-प्रसग भ्रमपूर्ण है। लक्षणामूला व्यजना के भेद अशास्त्रीय है। लक्षणा के भेदोपभेदो की गणना शिथिल है। दोप-प्रकरण मे च्युतसस्कृति, सन्दिग्ध, विरुद्धमतिकृत, अपुष्ट आदि दोषो के लक्षण अथवा उदाहरण अशुद्ध है। इसी प्रकार इनका गुण-प्रकरण भी नितान्त शिथिल एव अव्यवस्थित है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे नाम-मात्र के लिए भी कोई मौलिकता नही है। निस्सन्देह इस ग्रन्थ का अधिकतर भाग शास्त्रसम्मत है, पर पद्य एव गद्य-भापा की असमर्थता इन्हे स्पष्ट करने मे नितान्त अनुपयुक्त सिद्ध हुई है। ग्रन्थ के अधिकाश भाग मे किसी सस्कृत के आचार्य का आधार न ग्रहण कर कुलपति का

आधार ले लेना लेखक मे आत्मविश्वास के अभाव का सूचक है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रीय विषय से ये अवगत अवश्य थे, क्योकि इनके अधिकाश उदाहरण शास्त्र-सम्मत एव विशुद्ध हैं। ये उदाहरण काव्य-सौष्ठव से भी पूर्ण है। इनके दो पद्य लीजिए—

(१)

मनिमय मन्दिर के आँगन अनोखी बाल,
बैठी गुरु लोगन में सोभा सरसाइ कै।
गरक गुलाब नीर, अरक उसीरन के,
राखे उन ओरन सुगंध बगराइ कै।
कहै परताप पिय नैन के इसारतनि,
सारति जनाई मुख मृदु मुसक्याइ कै।
बोली नहिं बोल कछु सुन्दरि सुजान रही,
पुण्डरीक-सुमन सोहायौ दिखराइ कै।।

(२)

तड़पै तडिता चहुँ ओरन ते,
छिति छाइ समीरन की लहरै।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै,
गन मजु मयूरन के कहरै।
इनकी करनी बरनी न परै,
मगरूर गुमानन सो गहरै।
घन ये नभ-मंडल में छहरैं,
घहरैं कहूँ जाय, कहूँ ठहरै।।

रीतिबद्ध ग्रन्थों की परम्परा

रीतिबद्ध ग्रन्थ लिखने की यह परम्परा रीनिकाल के उपरान्त भी चलती रही। रूप-विधान तथा विषय-निर्वाह की दृष्टि मे अनेक ग्रन्थ रीतिकालीन आदर्शो पर भी निर्मित हुए। उदाहरणार्थ नन्दराम-कृत

'शृंगार-दर्पण' (स० १६२६), लेखराज-कृत 'रसरत्नाकर' (स० १६३०); लच्छिराम-कृत 'कमलानन्द-कल्पतरु' (स० १६४०); मुरारीदान-कृत 'जसवन्तसिंह-भूषण' (स० १६५०), जगन्नाथप्रसाद भानु-कृत 'काव्य प्रभाकर' (स० १६६७), और बिहारीलाल भट्ट कृत 'साहित्य-सागर' (स० १६६४) आदि। पर आगे चलकर प्राचीन आदर्श की लेखन-परिपाटी मन्द-सी पड गई। धीरे-धीरे इसका स्थान नवीन-से-नवीनतर परिपाटी ने ले लिया—इस दिशा मे सीताराम शास्त्री-कृत 'साहित्य-सिद्धान्त', लाला भगवानदीन-कृत 'अलकारमञ्जूषा', कन्हैयालाल पोद्दार-कृत 'काव्य-कल्पद्रुम' के अतिरिक्त श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, नगेन्द्र आदि के ग्रन्थो के तथा लेखो के नाम उल्लेखनीय हैं।

रीतिबद्ध कवि : लक्ष्य ग्रन्थकार

(१) बिहारी

जीवन—रीतिकाल के सर्वाधिक जनप्रिय कवि और उत्कृष्ट काव्य-कला के शिल्पी महाकवि बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर राज्य के बसुआ गोबिन्दपुर नामक स्थान मे माथुर चौबे केशोराय के यहाँ सवत् १६६० मे हुआ था और मृत्यु स० १७२० मे मथुरा मे हुई। इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखण्ड मे बीती। युवावस्था मे कुछ वर्षो तक ये जयपुर के राजा मिर्जा जयशाह के आश्रय मे रहे, तदनन्तर अपनी ससुराल मथुरा मे जा बसे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध आचार्य कवि केशवदास इनके कविता-गुरु थे। बिहारी मे प्रतिभा थी। केशवदास के शिष्यत्व मे थोडा समय रहने पर उनकी प्रतिभा और भी निखर उठी। तत्पश्चात् बिहारी गुरुबाबा नरहरिदास के पास साहित्य का अध्ययन करते रहे।

बिहारी के पिता केशोराय बाबा नागरीदास के अनन्य भक्त थे। अपनी पत्नी के देहावसान के पश्चात् तो वे उन्ही के समीप यमुना के कछार मे कुटी बनाकर रहने लगे थे। बाबा नागरीदास के कहने से ही बिहारी की बहिन का विवाह हरिकृष्ण मिश्र के साथ कर दिया गया। कालान्तर में इन्ही हरिकृष्ण मिश्र से हिन्दी के उद्भट विद्वान् कुलपति

मिश्र का जन्म हुआ ।

बिहारी अपने पिता के विरक्त हो जाने पर अपनी ससुराल मथुरा मे रहने लगे थे और यदा-कदा उनसे मिलने के लिए नागरीदास के पास जाया करते थे। बाबा नरहरिदास भी भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन मे आकर बाबा नागरीदास के साथ ही रहने लगे थे। नरहरि-दास एक वीतराग और त्यागी महात्मा थे। उनकी साधुता की प्रशसा सुनकर तत्कालीन मुगल-सम्राट् जहाँगीर उनसे मिलने आये। सौभाग्य-वश बिहारी भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। नरहरिदास ने अपने प्रिय शिष्य बिहारी का सम्राट् जहाँगीर से परिचय करा दिया। इस प्रकार बिहारी को मुगल-दरबार का आश्रय मिला। जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ ने उन्हे आगरा बुला लिया। वही पर बिहारी का परिचय हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानाखाना से हुआ। रहीम बडे गुणग्राही तथा कवियो के लिए कल्पतरु थे। कहा जाता है कि उन्होने बिहारी के एक दोहे पर मुग्ध होकर उन्हे स्वर्ण मुद्राओ से ढक दिया था।

शाहजहाँ की कृपा से बिहारी को कई राजाओ से वार्षिक वृत्ति मिलती थी। नूरजहाँ के कुचक्र मे फँसकर जब शाहजहाँ को आगरा छोडना पडा तो बिहारी को भी अन्यत्र जाने के लिए विवश होना पडा। उनके निम्नोक्त प्रसिद्ध दोहे के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि जब बिहारी जयपुराधीश राजा जयसिह से एक बार अपनी वार्षिक वृत्ति लेने गये तो राजा अपनी नव-विवाहिता पत्नी के प्रेम-पाश मे फँसकर राज्यकार्य से भी विमुख था। बिहारी ने मालिन के द्वारा यह दोहा—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो बँध्यौ आगे कौन हवाल॥

लिखकर महाराज के पास भिजवा दिया। मोह-पाश से मुक्त होकर राजा ने बिहारी से ऐसे ही और दोहे बनाने का आग्रह किया। फलस्वरूप 'सतसई' के सात सौ दोहो की रचना हुई और प्रत्येक दोहे पर बिहारी को एक अशर्फी पुरस्कार मे मिलने लगी।

रचना—बिहारी की रचना परिमाण मे अत्यन्त स्वल्प—सात सौ छब्बीस दोहे मात्र—है, और इसी 'सतसई' पर बिहारी की ख्याति आधारित है। इस ग्रन्थ की सर्वाधिक लोकप्रियता तथा महत्ता इसी से स्पष्ट है कि इसकी बीसियो टीकाएँ, आलोचनाएँ, प्रत्यालोचनाएँ आदि हो चुकी है। लिखने की आवश्यकता नही कि 'सतसई' एक मुक्तक काव्य है। मुक्तको मे कोई क्रम नही होता। इसीलिए 'बिहारी-सतसई' का भी कोई निश्चित क्रम नही है। कहा जाता है कि सर्वप्रथम औरगज़ेब के पुत्र आजमशाह ने इसे क्रमबद्ध कराया था और वह क्रम 'आजमशाही' क्रम से विख्यात है।

बिहारी ने अपनी रचना के लिए दोहा जैसा छोटा छन्द चुना, जिसमे शब्दो का नपा-तुला प्रयोग हो सकता है। इतने पर भी इन दोहो मे कितनी मादकता, कितना व्यग्य, कितना चुटीलापन और कितनी तीव्रता है, वह देखते ही बनता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि मुक्तक काव्य के लिए आवश्यक सभी गुण बिहारी की रचना मे चरमोत्कर्ष पर पहुंचे है।

बिहारी-सतसई लक्षण-रहित रीति-ग्रन्थ है। इसमे लगभग सभी प्रमुख-काव्याङ्गो के सुन्दर उदाहरण मिल जाते है। अलकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सभी के उदाहरण 'गागर मे सागरवत्' उनकी सतसई मे उपलब्ध है। शब्द-शक्तियो के भी सुन्दर उदाहरण उसमे मिलते है। नायिका-भेदो के उदाहरणो का तो यह अपूर्व भण्डार है।

यद्यपि बिहारी ने पृथक् रूप से कोई लक्षण-ग्रन्थ नही लिखा परन्तु इनकी सतसई शृङ्गार-सम्बन्धी सम्पूर्ण विभाव, अनुभाव, सचारी भाव तथा हावादि के सुन्दर उदाहरणो से परिपूर्ण है। वे मूलत शृङ्गार के कवि है। उन्होने शृङ्गार के दोनो पक्षो—सयोग और वियोग—के चित्र उपस्थित किये है। इनमे सयोग शृङ्गार के चित्रो की प्रधानता है, जोकि अद्भुत काव्य-सौन्दर्य से पूर्ण है।

बिहारी प्रतिभाशाली कवि होने के साथ-साथ विभिन्न विषयो के ज्ञाता

भी थे। इनके अनेक दोहो मे ज्योतिष राजनीति, वैद्यक, साख्य-शास्त्र, वेदान्त विज्ञान आदि विभिन्न ज्ञानो का कलापूर्ण रीति से प्रयोग हुआ है; पर इस प्रयोग से वे इन विषयो के प्रकाण्ड पण्डित नही मालूम होते।

इतना सब कुछ होने पर भी बिहारी सर्वथा मौलिक नही हैं। उन्होने अधिकाश विचार सस्कृत की मुक्तक रचनाओ से लिये है जिनमे से 'अमरूकशतक', 'गाथासप्तशती', 'आर्यासप्तशती' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त उनकी व्यजना-शैली पर फारसी-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। फिर भी बिहारी मे कल्पना का अभाव नही है। वे उन विचारो को नूतन रूप मे हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण मे ढालना खूब जानते है।

भाषा-शैली—बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दो मे बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना सुव्यवस्थित है और शब्दो के रूपो का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियो मे पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियो ने शब्दो को तोडा-मरोडा तथा विकृत कर दिया है पर बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है।

बिहारी की सतसई से पूर्व भी कुछेक सतसइयो का निर्माण हुआ और बिहारी के पश्चात् तो एक परम्परा-सी ही चल पडी। इनमे से कुछेक के नाम ये है—'मतिराम-सतसई', 'वृन्द-सतसई', रसनिधि का 'रतन-हजारा'[1] 'विक्रम-सतसई' तथा आधुनिक काल मे श्री वियोगी हरि की 'वीर-सतसई', श्री दुलारेलाल की 'दुलारे-दोहावली', श्री रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई' तथा श्री तुलसीराम शर्मा की 'श्याम-सतसई' आदि। पर इनमे से लोकप्रियता की दृष्टि से 'बिहारी-सतसई' अग्रगण्य है। बिहारी के दोहो के भाव मतिराम, देव, रसखान आदि कवियो ने लिये और उनके आधार पर अपने कवित्त और छप्पय रचे, पर उनमे उतने तीव्र भाव न आ सके, जो बिहारी ने छोटे-से दोहो मे भर दिये

१ यह सतसई की परम्परा पर ही लिखा गया है।

थे। निस्सन्देह बिहारी ने भी किसी के भावो का अनुकरण किया पर उनमे नई रगत इनकी अपनी है। पर इधर अन्य जिसने भी बिहारी का अनुकरण किया वह उनकी छाँह तक भी न छू सका।

बिहारी की काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी। वह काव्य-कला से भी पूर्णतया परिचित थे। उनका एक भी दोहा ऐसा नही है जो अलकार-शून्य हो। उदाहरण के लिए एक दोहा देखिए, जिसमे असगति अलकार का अभूतपूर्व चमत्कार है—

दृग उरझत, टूटत कुटुँब, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुर्जन हिए, दई नई यह रीति॥

बिहारी के दोहो को हम दो प्रधान भागो मे बॉट सकते है। एक वे, जिनमे काव्यशास्त्रीय भावो—अनुभाव, सचारी भाव—की प्रधानता है। इन्ही मे अनेक दोहे ऐसे है जिनमे नायिका-भेद के गूढ रहस्य तथा जीवन के गूढ रहस्य छिपे है। इसीलिए पाठक उन भावो तक सरलता से नही पहुँच पाता। दूसरे वे दोहे हैं जिनमे उक्ति-वैचित्र्य तथा अलकारत्व की प्रधानता है। दोनो प्रकार के दोहो मे कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति का सुन्दर समन्वय है। यही कारण है कि विहारी की सूक्तियॉ भी सरस हो गई है और सतसई के समस्त दोहे काव्य के अनुपम रत्न बने हुए है।

अन्त मे यह कह देना आवश्यक है कि एक ओर बिहारी की रचना मे मानव-जीवन के साधारण और स्वाभाविक प्रणय-व्यापारो का सूक्ष्मतम निरीक्षण, कला-कुशलता और वाग्वैदग्ध्य—ये तीनो गुण विशेष रूप से विद्यमान है, जिनके कारण वे रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते है, तो दूसरी ओर उनके काव्य मे विरह के साथ खिलवाड करने तथा अनेक अत्युक्तिपूर्ण मज़मून बॉधने का दोष भी आ गया है। कल्पना की इन अस्वाभाविक और अलौकिक उडानो के लिए सम्भवत उन पर फारसी-साहित्य का ही प्रभाव है। फिर भी बिहारी की प्रतिभा अप्रतिम है। वे रीतिकाल के अनुपम कवि है, उनका

एक-एक दोहा जाज्वल्यमान काव्यरत्न है ।

लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ की परम्परा

बिहारी की सतसई के अतिरिक्त रीतिकाल मे अन्य अनेक लक्ष्यबद्ध ग्रन्थो का निर्माण हुआ । इनमे से मतिराम की सतसई, रसनिधि का रतनहजारा, रामसहाय की राम-सतसई आदि उल्लेखनीय है । इनके अतिरिक्त इस काल मे निर्मित नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा से सम्बद्ध रचनाएँ भी लक्ष्यबद्ध ग्रन्थो के अन्तर्गत आती हैं ।

रीतिमुक्त कवि

(१) वृन्द

सूक्तिकार कवियो मे वृन्द का स्थान रहीम के बाद मानना चाहिए । इनका जन्म सवत् १७०० मे मेडता, राजस्थान मे हुआ । इनके पिता डिंगल के कवि थे । वृन्द ने काशी मे जाकर तारा पण्डित से सस्कृत का अध्ययन किया । वृन्द जोधपुर के महाराज जसवन्तसिह के दरबार मे रहे । कुछ समय औरगजेब के दरबार मे 'राजकवि' बनकर रहे । 'महान् कोश' (पजाबी ग्रन्थ) के निर्माता सरदार काहनसिह वृन्द को गोविन्दसिह का दरबारी कवि भी बताते हैं । इसी से वृन्द की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जाता है । वृन्द का देहान्त सवत् १७८० मे हुआ ।

वृन्द-रचित अनेक ग्रन्थ बताये जाते हैं—'वृन्दसतसई', 'शृगार-शिक्षा', 'भावपचाशिका', 'रूपक-वचनिका', 'अलकार-सतसई' तथा 'हितोपदेशाष्टक' । आपकी ख्याति 'वृन्दसतसई' के कारण है । इसमे दृष्टान्त, उदाहरण, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशसा, वाक्यार्थोपमा आदि के अद्भुत उदाहरण है । इनका काव्य लोकनीति का सुन्दर सग्रह है । नमूना देखिए—

भले बुरे सब एकसम जोलौं बोलत नाहि ।
जानि परत है काक पिक ऋतु बसन्त के माहि ।।
हितहू की कहिए न तिहि जो नर होय अबोध ।
ज्यौं नकटे को आरसी होत दिखाये क्रोध ।।

जैसो बन्धन प्रेम को तैसो बन्ध न और ।
काठहि भेदे कमल को छेद न निकरै भौंर ।।
रस अनरस समझै न कछु पढ़ै प्रेम की गाथ ।
बीछू मन्त्र न जानही साँप पिटारे हाथ ।।

(२) आलम कवि

आलम नाम के तीन कवि प्रसिद्ध हैं—

(१) प्रथम आलम अकबर का समकालीन था। इसने सवत् १६४० मे 'माधवानल-कामकन्दला' नामक प्रेम-कहानी दोहा-चौपाई मे लिखी। इसमे केवल शृगार-पद्धति का अवलम्बन लिया जान पडता है। इसका कवित्व साधारण है।

(२) दूसरा आलम बहादुरशाह का आश्रित कवि था, जिसके विषय मे यह प्रसिद्ध है कि रगरेजिन के कवित्व पर मुग्ध होकर ब्राह्मण से मुसलमान धर्म ले लिया। इसकी रचना 'आलम-केलि' (रचनाकाल सवत् १७४०) प्रसिद्ध है। इसकी स्त्री रगरेजिन बडी हाजिरजवाब स्त्री थी। शाहजादा मुअज्जम (बाद मे बहादुरशाह) ने उस स्त्री से पूछा— "आलम की औरत आप हैं" उसने तुरन्त उत्तर दिया "हाँ जहाँपनाह! जहान की माँ मै हूँ।" कवित्व की दृष्टि से आलम और उसकी स्त्री की कृति भावबहुल, मधुर तथा सुगठित है। नमूना देखिए—

प्रेमरग पगे जगमगे जगे जामिनी के
जोबन की जोति जागी जोर उमगत है।
मदन के माते मतवारे ऐसे झूमत है
झूमत है झुकि झुकि झँपि उघरत है।
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत है उडिबे को देखत मयंक मुख
जानत है रैनि तातै ताही में रहत है।।

(३) आलमशाह—गुरु गोविन्दसिह के एक दरबारी कवि थे। इनका

रचनाकाल सवत् १७४५ है। समय को देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक है दूसरा 'आलम' और तीसरा 'आलम' एक है। पर भाषा की कसावट और भाव-सौन्दर्य जो दूसरे आलम मे है, वह तीसरे आलम मे नही है। अत पजाब-निवासी आलम उनमे पृथक् है। इनकी कुछ मुक्तक रचनाएं ही मिलती हैं—

सोभा हू कौ सागर नवल नेह नागर है
बल भीमसम कहाँ लौ गिनाइए।
भूमि के विभूखन जू दूखन के दूखन हू
समूह सुखहू कै मुख देखे तै अघाइए।
हिम्मत निधान आन दान कौ बखानै जानै
आलम तमाम जाम आठो गुन गाइए।
प्रबल प्रतापी पातसाह गुरु गोविन्द जी
भोज कौ सी मौज तेरे रोज रोज पाइए॥

(३) लाल

'लाल' कवि का उपनाम है इनका पूरा नाम गोरेलाल था। इनका जन्म स० १७१५ मे बुन्देलखण्ड मे हुआ। अपने आश्रयदाता छत्रसाल की आज्ञा से इन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'छत्रप्रकाश' की रचना की थी। इसमे दोहे और चौपाइयो मे छत्रसाल के जीवन की वीर-घटनाएँ वर्णित हैं। यह वीररस की एक प्रौढ एव सरस रचना है। इसकी भाषा परि-मार्जित और स्पष्ट है। न केवल साहित्यिक दृष्टि से अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह कृति महत्त्वपूर्ण है। इसकी अधिकाश घटनाएं बिल्कुल सत्य हैं। छत्रसाल की जय-पराजय का सही वर्णन इसमे मिलता है। इसके अतिरिक्त गोरेलाल ने 'छत्रसाल-शतक', 'छत्रकीर्ति', छत्रछन्द' आदि अन्य ग्रन्थो की भी रचना की, पर इनकी प्रौढ और प्रसिद्ध रचना 'छत्रप्रकाश' ही है। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

काटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सो बाँटि धरनि धरि लेहु॥

(४) गुरु गोविन्दसिह

सिख-सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा मे गुरु गोविन्दसिंह का अपने विलक्षण व्यक्तित्व के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु नानकदेव से जिस अध्यात्म ज्योति का प्रकाश हुआ था, उसका अन्तिम प्रभाव, तथा गुरु अर्जुनदेव से जिस राजवृत्ति का श्रीगणेश हुआ था, उसका सर्वश्रेष्ठ विकसित रूप—ये दोनो विशेषताएँ—गुरु गोविन्दसिह के व्यक्तित्व मे पाई जाती हैं। गुरुजी एक साथ राजनीतिज्ञ, वीरशिरोमणि, परमतेजस्वी सन्त और महान् साहित्यस्रष्टा थे।

गुरु गोविन्दसिह का जन्म पौष १७, सवत् १७२३ शनि-रवि की मध्यरात्रि को पटना मे हुआ था। आपके पिता उस समय कामरूप मे थे। गृहसघर्ष के कारण इनके पिता गुरु तेगबहादुर इन्हे पटना मे ही छोडकर पजाब वापस आ गये थे। पटना-नरेश के यहाँ आपका पालन-पोषण हुआ और बालक गोविन्द ने पं० शिवदत्त तथा भीखनशाह से सस्कृत और फारसी का अध्ययन किया। बचपन मे आपके राजसी लक्षण प्रकट हो गये थे। बालको की सेना बनाकर युद्ध करना आपकी बाल-क्रीडा का एक क्रम था। पिता की अमरशहीदी के बाद आप दसवे 'गुरु' कहलाये। अपनी एक शिष्यमडली को सैनिक वेश देकर नये सम्प्रदाय मे प्रतिष्ठित करना आप-जैसे समर्थ व्यक्ति का काम था। युग की गतिविधि को देखते हुए इन्होने आगे के लिए पूर्ववर्ती गुरुपरम्परा की समाप्ति कर 'आदिग्रन्थ' को ही गुरु मानने की परम्परा चलाई। इस सम्बन्ध मे यह दोहा प्रसिद्ध है—

आग्या भई अकाल की तभी चलायो पंथ।
सभ शिष्यन को हुकुम है गुरू मानियो ग्रन्थ॥

गुरुजी के जीवन का पूर्वार्द्ध साहित्यसाधना मे व्यतीत हुआ और शेष जीवन राष्ट्रसेवा मे। दिल्ली-तख्त से भयानक सघर्ष करते-करते आपको पजाब से बाहर रहना पडा। औरगजेब की मृत्यु के बाद आपका राज-कुमार मुअज्जम (बहादुरशाह) से समझौता हो गया। सवत् १७६५

कार्तिक सुदी पचमी को आप अकालज्योति मे विलीन हुए।

आप जन्मजात कवि थे। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" के अनुसार आप किशोर-जीवन मे ही रचना करने लगे थे। गुरु तेग़-बहादुर जी ने दिल्ली के बन्दीगृह से एक पद्य लिखकर भेजा था—

बल छूट्यौ बंधन पर्यौ कछू न होत उपाय।
कहु 'नानक' अब ओट हरि गज ज्यो होउ सहाय॥

किशोर गोविन्दराय (तब इनका यही नाम था) ने इसका उत्तर यो दिया—

बल होए बधन छुटै सब कछु होत उपाय।
(नानक) सब किछु तुमरे हाथ में तुम्हीं होत सहाय॥

आपकी धवलकीर्ति को नित्य प्रकाशित करने वाली एकमात्र रचना 'दशम ग्रन्थ' नाम से मिलती है। यह ग्रन्थ वस्तुत एक रचना नही, बल्कि अनेक काव्यरूपो का सग्रह है। यथा—

१ जाप जी—इसमे 'विष्णुसहस्रनाम' पद्धति से ईश्वर के नाम वर्णित हैं।

२. अकालस्तुति—यह भी एक प्रकार का श्रुति-ग्रन्थ है।

३ विचित्र नाटक—इसमे कर्ता ने पूर्वजन्म का वृत्तान्त बताया है और अपना उद्देश्य अभिव्यक्त किया है।

४. चौबीस अवतार—इसमे विष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्र के अवतारो का निरूपण है।

५ चण्डीचरित्र—यह दुर्गासप्तशती का ओजस्वी भाषा मे अनुवाद है।

६. चण्डी-दीवार—यह उक्त रचना का दुबारा किया हुआ परिष्कृत अनुवाद है।

७. ज्ञान-प्रबोध—इसमे फोकटधर्म, तीर्थ, व्रत, देवतावाद आदि का खण्डन है।

८. शब्द-हज़ारे—इसमे सत्यधर्म का व्याख्यान है।

९ तैंती सवैये—इसमे इस्लाम तथा वैदिक धर्म की आलोचना है।

१० शस्त्रनाममाला—इसमे गुरुजी ने अपने समय के शस्त्रो के नाम और प्रयोग बताये है।

११ पख्यान चरित्र—इसमे ४०४ स्त्रियो की चरित्रगाथाएँ है।

१२ जफरनामा—औरगजेब को लिखा फारसी भाषा मे पत्र।

१३. हिदायतनामा—यह एक फारसी की रचना है।

गुरुजी के नाम के अन्तर्गत एक और रचना भी सुनी जाती है—श्रीमद्भगवद्गीता। पटनेवाली 'दशमग्रन्थसहिता' मे यह रचना सलग्न है, पर अन्य प्रतियो मे नही है। यह रचना किसी अद्वैतवादी सन्यासी अप्रख्यान गोविन्दसिह की रचना मालूम होनी है, यथा—

नमो नमो परमेसुर रूप हमारे। हम तुम होइ कै खेल पसारे।।
हम तुम एक अकाल सरूपा। अलख गोविन्द सब तिसका रूपा।।
नाना भाँति होइ पसरियो स्वामी। घट घट ही वही अन्तरजामी।।
नाम जात प्रभु रूप तुम्हारे। तुध बिन कोई नाहि नियारे।।
जो दीसै सो कृष्ण मुरारी। जिनि इहु सगली खेल पसारी।।

रचना मे कही-कही गद्य भी है। गुरुजी के दरबार मे ५२ हिन्दी-पजाबी कवियो का दल विद्यमान रहता था। सालकार और समर्थ अभिव्यक्ति मे गुरु गोविन्दसिह अपने-आप मे अकेले है। गुरुजी ने अपने समय के प्रचलित सभी वृत्तो का प्रयोग किया है। अनुप्रास तो कही छूटने नही पाया। दशम-ग्रन्थ मे तत्कालीन सभी काव्य-पद्धतियाँ सगृहीत हैं। यह रचना हिन्दू-सस्कृति का सयुक्त महान् कोश है। रचना का नमूना देखिए—

(१)

कहा भयो जो सब जग जीत सु लोगन को बहुत्रास दिखायो।
और कहा जु पै देस विदेसन माहि भले गज गाहि बंधायो।।
जो मन जीतत है सब देस वहै तुमरे नृप हाथ न आयो।
लाज गई कछु काज सर्यो नहि लोक गयो परलोक गमायो।।

(२)

निर्जर निरूप हौ कि सुन्दर सरूप हौ कि
भूपन के भूप हौ कि दानी महादान हौ।
प्रान के बचैया दूध पूत के देवैया
रोग सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हौ।
विद्या के विचार हौ कि अठैत अवतार हौ
कि सुद्धता की मूर्ति हौ कि सिद्धता की सान हौ।
जोबन के जाल हौ कि कालहू के काल हौ कि
सत्रुन के साल हौ कि मित्रन के प्रान हौ॥

(३)

भेंट भुजा भर अक भले भरि नैन दोऊ निरखे रघुराई।
गु जत भृंग कपोलन ऊपर नाग लवंग रहे लव लाई।
कंज कुरग कलानिधि केहरि कोकिल हेरि हिये हहराई।
बाल लखै छवि खाट परै नहि बाट चलै निरखै रघुराई॥

(४)

अदग्ग दग्गे अमोड मोड़े। अखिच्च खिच्चे अजोड जोडे।
अकड्ढ कड्ढे असाध साधे। अफट्ट फट्टे अफांद फादे।
अधध धधै अकाज काजे। अभिन्न भिन्ने अभज्ज भज्जे।
अछेड़ छेडे अलभ्य लभ्ये। अजित्त जित्ते अबद्ध बद्धे॥

(५) घनानन्द

जीवन—घनानन्द का जन्म सवत् १७४६ के लगभग और मृत्यु अहमदशाह अब्दाली के कत्लेआम मे सवत् १७९६ मे हुई। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मु शी थे और जाति के कायस्थ थे। कहा जाता है कि सुजान नाम की वेश्या से इनका प्रेम हो गया। सुजान सगीत-विशारदा थी अत इन्हे भी सगीत का व्यसन लग गया था। इनके प्रतिद्वन्द्वियो द्वारा इस बात की चर्चा सम्राट् के सम्मुख आई। सम्राट् सगीत-प्रेमी थे, अत उसने घनानन्द को कुछ गाने के लिए कहा। घनानन्द

अपने ईर्ष्यालु कर्मचारियो के कुचक्र को ताड गये और उन्होने गाने से इन्कार कर दिया। दरबारियो ने अवसर पाकर सम्राट् से कहा कि यदि इनके सामने सुजान हो तो अवश्य गा देगे। सुजान को बुलाया गया। घनानन्द गाने के लिए विवश तो हो गये परन्तु उन्होने अपना मुख सुजान की ओर तथा पीठ शाह की ओर करके गाया। इससे बादशाह प्रसन्न भी हुआ और रुष्ट भी। उसने इनको दिल्ली छोडकर चले जाने की आज्ञा दे दी। चलते समय घनानन्द ने सुजान को अपने साथ चलने को कहा किन्तु उसने यह स्वीकार न किया। तब घनानन्द वृन्दावन चले आये और सम्भवत सुजान के इस व्यवहार से उन्हे ससार से विरक्ति हो गई और उस समय से कृष्ण की भक्ति मे लवलीन होकर भगवान् का गुणगान करने लगे। अन्तिम दिनो मे अहमदशाह अब्दाली के सिपाहियो ने इनसे 'ज़र-जर' कहकर रुपया माँगा और जब इन्होने इस शब्द का उल्टा 'रज-रज' कहकर तीन मुट्ठी धूलि उनके ऊपर फेक दी तो सिपाहियो ने क्रुद्ध होकर इन्हे मार डाला।

रचनाएँ—इनकी निम्नलिखित छ रचनाएँ उपलब्ध है—१ सुजान-सागर, २. विरह-लीला, ३ कोकसार, ४ रसकेलिबल्ली, ५ कृपा-पद, ६. कृष्णभक्ति सम्बन्धी एक बडा ग्रन्थ।

रीतिकालीन परम्परा के अनुसार इनकी सभी रचनाएँ प्राय मुक्तक ही हैं और उनमे वियोग शृगार, उसकी अन्तर्दशाओ और प्रेम की पीर का चित्रण उत्कृष्ट बन पडा है। कुछ लोगो के विचार से सुजान इनके जीवन मे गहरी समा गई थी। विरक्त होने पर भी वे उसे न भुला सके। मरते समय भी सुजान को नही भूल सके। प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की जाती हैं—

अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सन्देसो लै सुजान को।

भाषाशैली—घनानन्द की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। इनके समान

सरस होते हुए भी विशुद्ध ब्रजभाषा लिखने मे सम्भवत और कोई कवि समर्थ नही हुआ। आचार्य शुक्ल जी का भी यही अभिमत है। उनके विचार मे, प्रेम की गूढ अन्तर्दशा का उद्घाटन जैसा इन्होने किया है वैसा हिन्दी के अन्य किसी शृंगारी कवि ने नही किया। भाषा पर इनका जैसा अधिकार भी अन्य किसी रीतिकालीन कवि का दिखाई नही देता।

इन्होने अधिकाशत सवैयो मे अपनी रचना की है जो अत्यन्त सरस है। वियोग शृंगार का एक उदाहरण देखिए—

पहिले अपनाय सुजान सनेह सो क्यो फिर नेह को तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार मझार दई गहि बाँह न बोरियै जू॥
घन आनन्द आपने चातक को गुन बाँधि कै मोहन छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में क्यौं विष घोरियै जू॥

कुछ लोगो का विश्वास है कि घनान्द प्रेम के उन्मुक्त गायक थे और राधा तथा कृष्ण ही उनके आलम्बन थे। यह भी सम्भव है कि राधा या कृष्ण को उन्होने अपनी रचनाओ मे 'सुजान' कहकर सम्बोधन किया हो। उन्होने अपने पूर्ववर्ती कवियो की भाँति अपनी रचना को सुरतान्त, विपरीत रति आदि से अपवित्र नही किया। उनकी राधा वासना की मूर्ति नही, वरन् त्याग, सयम और उत्सर्ग की प्रतिमूर्ति है। इस प्रकार हम देखते है कि घनानन्द अपने समय के स्वतन्त्र कवि थे। उन्होने किसी का अन्धानुकरण करते हुए कोई लक्षण-ग्रन्थ आदि लिखने का भी प्रयास नही किया। वे भाषा के धनी थे और भावलोक के स्वामी थे। इस दृष्टि से घनानन्द का हिन्दी-साहित्य मे विशेष स्थान है।

(५) सूदन

सूदन कवि के जन्म-मरण या अन्य जीवन-सम्बन्धी बातो का ज्ञान अभी तक गम्भीर अनुसधान की अपेक्षा रखता है। रचना के अन्त साक्ष्य से तो केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ये मथुरा-निवासी बसन्त के पुत्र और माथुर चौबे थे। ये भरतपुर के प्रसिद्ध जाट-नरेश सूरजमल (सुजानसिह) के आश्रय मे रहे थे। कितना समय वे वहाँ रहे ?—निश्चय-

पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता।

रचना—इनकी एक रचना बताई जाती है—'सुजानचरित्र'। कई विद्वान् इसका नाम 'सुजान-विलास' भी बताते है। इसमे उक्त सुजानसिह का वीर-चरित्र अकिन है।

सुजानचरित्र एक वीरकाव्य है। इसमे सुजानसिह के युद्धो का वर्णन है। काव्य मे वर्णित युद्ध काल्पनिक न होकर, यथार्थ हैं। अत इसमे काव्यत्व की अपेक्षा इतिहास उभरकर प्रकाश मे आता है। इसमे निम्न-लिखित ऐतिहासिक युद्धो का वर्णन है—

(१) सूरजमल की असदखाँ से लडाई,
(२) मेवाड की लडाई,
(३) मराठो से जयपुर-राज्य की ओर से लडाई,
(४) सलाबतखाँ से लडाई,
(५) बगश पठानो से लडाई,
(६) दिल्ली की लडाई, जिसमे सूरजमल ने दिल्ली को लूटा था।

इन युद्धो के वर्णन, उत्साहपूर्ण वीरो की ललकारे तथा शस्त्रा-सम्पात का वर्णन स्वाभाविक और रसपूर्ण है।

'सुजानचरित्र' मे काव्यसौन्दर्य को मन्द करने वाले साधारण-से दोष भी है। उसमे सिपाहियो की जातियो, घोडो की जातियो तथा अपने से पूर्व के कवियो की नामावलि आदि वर्णन अधिक लम्बे और बार-बार आये है। कतिपय प्रसगो मे इसकी काव्य-शैली बडी शिथिल हो गई है। भाषा मे पजाबी, अवधी, भोजपुरी, मारवाडी आदि भाषाओ की खिचडी बन गई है। कही-कही नादात्मक शब्दो की अधिकता अरुचिकर भी बन गई है। फिर भी वीरकाव्य-परम्परा मे इस ऐतिहासिकता-पूर्ण काव्य का अपना विशेष स्थान है। इसमे वीररसोचित अनेक छन्दो का प्रयोग हुआ है। रचना की बानगी देखिए—

(१)

दब्बत लत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से।
चब्बत लोह अचब्बत सोनित गब्बत से।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही।
जुट्टित फुट्टित सीस सुखुट्टित तेग गही।
कुट्टित घुट्टित काय विछुट्टित प्रान सही।
छुट्टित आयुध हुट्टित गुट्टित देह दही।

(२)

डोलती डरानी खतरानी बतरानी बेबे
कुड़िए न वेखी अग्गी मी गुरू न पावाँ हाँ।
कित्थे जला पेऊँ कित्थे उज्जले भिड़ाऊँ असी
तुसी को लै गी वा असी जिंदगी बचावाँ हाँ।।
भट्ट ररा साहि हुआ चदला वज़ीर वेखो
एहा हाल कीता वाह गुरू नूँ मनवाँ हाँ।
जावाँ कित्थे कित्थे जावाँ अम्मा बाबा केहि पावाँजली
एही गल अक्खै लक्खौ लक्खौ गली जावाँ हाँ।।

(३)

आदित असोक भरी सोक भरी दिति और
दोष भरी पूतना अदोषभरी ओपिका।
कस हियै भौ भरी अभौ भरी है अंदाबंस
पंडव की कीरति अकीरति की लोपिका।।
लाज भरी द्रौपदी सुराज व्रजभूमि भरी
कूबरी इलाज सो अवाज करो कोपिका।
देवकी आनन्द भरी ऊर्गे व्रजचन्द धरी
भाग भरी जसुधा सुहाग भरी गोपिका।।

(६) सभाचन्द सोधी

पटियाला के भाषा-विभाग ने जो खोजकार्य आरम्भ किया है, उसमें

कई महत्त्वपूर्ण रचनाओ की उपलब्धि हुई है तथा कई कवि प्रकाश मे आये है। इनमे सभाचन्द सोधी का नाम विशेषत उल्लेखनीय है।[१] आपका सम्बन्ध पजाब के क्षत्रिय-वशज सोधी-परिवार से है। सोधी-परिवार जालन्धर (दोआब) मे पाये जाते हैं, अत अनुमानत ये इसी प्रदेश के निवासी होगे। आपका जन्म अनुमानत १७५० सवत् है। इस विषय मे बडा तर्क यही दिया जा सकता है कि आपकी कृति 'कथा-कामरूप' आपकी प्रौढ एवं परिपक्व प्रतिभा का प्रसाद है। इसकी रचना सवत् १७६८ मे हुई। उस समय लेखक प्रौढ अवस्था के होगे।

'कथा-कामरूप' सूफी प्रेमाख्यान-परम्परा के अन्तर्गत आती है। इसमे इन्होने अपने समय के दिल्ली-नरेश 'सुलतानशाह मुहम्मद' का उल्लेख किया है, जोकि इस काव्य-परिपाटी के अनुकूल है। इन्होने नादिरशाह की लूट का भी उल्लेख किया है। यह रचना कथानक की दृष्टि से उच्च-कोटि की है। कथानक कविकल्पित न होकर श्रुति-परम्परागत आख्यान पर आधृत है। कादरयार ने भी पजाबी मे इसी कथावस्तु पर काव्य-रचना की है। कवित्व की दृष्टि से असाधारण तथा कलापक्ष की दृष्टि से सर्वाङ्ग-सम्पन्न रचना कम-से-कम पजाब मे दूसरी नही है। पजाब के प्रसिद्ध प्रेमाख्यानो मे इसे असदिग्ध रूप से प्रथम स्थान दिया जा सकता है। 'कथा-कामरूप' के पात्रो के नाम उनके व्यक्तिगत गुणो और विशेषताओ के प्रतीक है। यथा—

कलावन्त—नाटक, नृत्य और रासविद्या मे निपुण व्यक्ति,
मानकचन्द—माणिक्यविद्या का निपुण जौहरी,
चतुरमणि—चतुर चित्रकार,
धनन्तर—आयुर्वेद का मर्मज्ञ विद्वान्,
विद्याचन्द—व्याकरण-न्याय का आचार्य।

कथा का आरम्भ स्वप्नदर्शन से होता है। राजकुमार को अपने साथियो-

१. सप्तसिधु २ वर्ष—८ अङ्क सभाचन्द सोधी··· लेखक महेन्द्र एम० ए०।

सहित वडे-वडे कष्ट झेलने पडे। सिहलद्वीप की परम्परा सूफियो को शायद वहुत प्रिय है, यहाँ भी इसी द्वीप का उल्लेख है। रचना के नमूने देखिए—

सुन यह कथा कुंवर मुसकायौ। जिम ससि बादर सो निकसायौ।
सुनकर कामलता वा पाही। लिपट पडी जैसे परछाँही।
भौवें देख उठे मन शंका। मानौ परसराम कौ धनका।
जाकौ छवि देखत अधिकाई। ससि श्रौ भान ग्रहण हो जाई।
जो लौं बादर रोवैं नाही। पात फूल फल होवै नाही।
जग में ज्ञानी पुरुष जो होवैं। ज्ञान नीर सोक मल धोवै।

(७) निश्चलदास

दादूपथ-परम्परा मे अनेक सन्त-साधक हुए है। इस शाखा मे पजाव के साधु निश्चलदास का नाम विशेपत उल्लेखनीय है। हाँसी तहसील, जिला हिसार के कूंकड ग्राम के निवासी निश्चलदास जन्म मे जाट थे। इनका शरीर सुडौल तथा गौर वर्ण था। बचपन मे किस दादू-पथी सन्त से आपने दीक्षा ली, यह अभी तक अज्ञात है। जन्म मे जाट होने के कारण आपको सस्कृत पढाने की किसी ब्राह्मण ने कृपा नही की। विद्याग्रहण की उत्कट लालसा से प्रेरित होकर आप काशी मे गये और अपने-आपको ब्राह्मण घोषित कर इन्होने वेदान्त के अतिरिक्त अनेक शास्त्र पढे, जैसा कि अन्त साक्ष्य से सिद्ध होता है—

सांख्य न्याय में श्रम कियो पढ़ि व्याकरण अशेष।
पढै ग्रन्थ अद्वैत कैं रहै न एकहु शेष।।
कठिन जु और निबंध हैं, जिनमें मत के भेद।
स्रम तै अवगाहन किये निश्चलदास सबेद।।

आपका जन्म स० १७६० मे हासी मे तथा मृत्यु स० १८२० मे किहडौली गाँव मे हुई।

आपकी रचनाएँ ये हैं— विचारसागर', 'वृत्तिप्रभाकर', 'मुक्ति-प्रकाश'। 'विचारसागर' का मराठी, बगला तथा अँग्रेजी मे अनुवाद

हो चुका है। स्वामी विवेकानन्द पर आपका विशेष प्रभाव पडा दीख पडता है। एक बार उन्होने निश्चलदास के 'विचारसागर' के बारे मे कहा था—"यह (ग्रन्थ) भारत के अन्तर्गत गत तीन शताब्दियो मे लिखे गये किसी भाषा के ग्रन्थो मे सबसे अधिक प्रभावशाली है।" इनकी रचना का नमूना देखिए—

(१)

अन्तर बाहर एकरस जो चेतन भरपूर।
विभु नभ समसो ब्रह्म है नहिं नेरे नहिं दूर ।।
ब्रह्मरूप अहि ब्रह्म वित ताकी बानी बेद।
भाखा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रम छेद ।।

(२)

दीनता कू त्याग नर ! आपनो स्वरूप देखि
तू तौ सुद्ध ब्रह्म अज दृश्य कौ प्रकासी है।
अपने अज्ञान तें जगत सब तू ही रचै
सर्व कौ सहार करै आप अविनासी है।
मिथ्या प्रपंच देख दु:ख जनि आनि जिय
देवन को देव तू तौ सब सुख रासी है।
जीव जग हंस होय माया से प्रभा से तू ही
जैसे रज्जु साँप सीप रूप ह्वै प्रभासी है ।।

(८) ग़रीबदास

जीवन—गरीब-पथ के प्रवर्तक सन्त गरीबदास जी का जन्म वैशाख सुदी १५, स० १७७४ को रोहतक ज़िले के झज्जर नामक गॉव मे हुआ। आपके पिता जाति से जाट थे और जमीदारी करते थे। कहते है १२ वर्ष की आयु मे भैस चराते हुए बालक गरीब को कबीरदास जी के दर्शन हुए। बुद्धिवादी इसे स्वप्न मे कबीर के दर्शन की भी बात कह सकते हैं। इस घटना का समर्थन अन्त साक्ष्य से होना है—

दास गरीब कबीर का चेरा। सत्तलोग अमरपुर डेरा।
ऐसा सतगुर हम मिला तेजपुंज के अंग।
झिलमिल नूर हजूर रूपरेख नहिं रग॥

सन्त गरीबदास आजीवन सद्गृहस्थ रहे साधुवेष की अपेक्षा आपको यह जीवन अच्छा लगा। साधना मे स्त्रीसग मे बाधा पडती है—ऐसा मानने वालो को मानो उन्होने रचनात्मक उत्तर दिया।

आपकी रचना 'हिखर बोध' कही जाती है, जिसके २४ हजार पद्य कहे जाते हैं इनमे से १७ हजार पद्य इनके बताये जाते हैं और शेष कबीर के। इस रचना मे राग-रागनियो के अतिरिक्त सवैया, रेखता, झूलना, अरिल्ल, बैत, रमैनी, आरती आदि छन्द भी है। इनके पदो वा साखियो का सग्रह 'गरीबदास की बानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमे ब्रजभाषा और खडीबोली का सुन्दर समन्वय है, तथा पजाबी-शब्दावली के सयोग से उसमे सधुक्कडीपन आ गया है।

सिद्धान्त—गरीबदास जी के सिद्धान्त कबीर के मत से बहुत कुछ मिलते हैं। '**दास गरीब कबीर का चेरा**', पद मे आपने कबीर को स्पष्टतया अपना गुरु स्वीकार किया है। परमात्मा को इन्होने 'सत-पुरुष' कहा है और निराकार, निर्विशेष, निर्लेप, निर्गुन आदि विशेषणो से उसका परिचय दिया है। यह ससार वस्तुत उसी '**शब्द अतीत अगाध**' का प्रसार है। यह विश्व-प्रपञ्च उससे अभिन्न है—

मर्म की बुरज सब सीत के कोट हैं,
अजब ख्याली रचा ख्याल है रे॥
दास गरीब यह अमर निज ब्रह्म है,
एक ही फूल, फल, डाल है रे॥

इनकी साधना मे सुरत, निरत, मन और पवन इन चारो का एकीकरण हुआ है—

चार पदारथ महल में सुरत निरत मन पौन।
सिव द्वारा खुलि है जबै, दरसे चौदह भौन।

चार पदारथ एक कर, सुरत, निरत, मन पौन ।
असत फ़कीरी जोग यह, गगन मण्डल को गौन ।

इस एकीकृत साधना से ही अन्तत **'एकै मन, एकै दिसा साई के दरबार'** की अवस्था प्राप्त होती है । इसी दशा को 'लै' अर्थात् मुक्तोपम विलय भी कहा जाता है । परन्तु इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधक का हृदय परमात्मा के प्रति निर्विकल्प श्रद्धा और 'परतीति' (सन्देह-हीन विश्वास) के भाव से युक्त होना चाहिए । उन्होने स्पष्ट ध्वनित किया है कि जाप का मूलाधार विश्वास है—

साहब साहब क्या करै, साहब है परतीत ।

इनकी रचना का नमूना देखिए—

आधघडी की अधघडी आध घडी की आध ।
साधू से तौ गोषटी जो कीजै सो लाभ ।
आदि समय चेता नही, अत समय अधियार ।
मध्य समय माया रते पाकर लिए गवार ।
ऐसा अजन आँजिए सूझै त्रिभुवन राय ।
कामधेनु अरु कल्पवृक्ष घटहि मोहि लखाय ।
सुमरिन तबही जानियै रोम रोम धुन होय ।
कुंज कमल में बैठकर माला फेरे सोय ।

(६) गुलाबसिंह

जीवन—पजाब के वेदान्तवादी साधु-सन्तो मे गुलाबसिह का नाम मूर्धन्य स्थान पर है । आपने अपना जन्मस्थान 'मालवा' बताया है, 'मालवा' के अन्तर्गत नाभा, भटिण्डा, मिटग्रुमरी, फिरोजपुर आदि आ जाते हैं । 'महान् कोष' (पजाबी-ग्रन्थ) के निर्माता भाई काह्नसिहजी ने इनका जन्म-स्थान 'सेखव' गाँव को माना है, जो पत्तोकी (पश्चिमी पजाब) से चार मील दूर कच्ची सडक पर है, वहाँ इनका स्मारक कुआँ भी बताया जाता है । गुलाबसिंह की माता का नाम गौरी, पिता का नाम रामचन्द है । लेखक ने स्थान-स्थान पर इनका उल्लेख किया है और अपने गुरु 'मानसिंह' को

भी स्मरण किया है। अन्त साक्ष्य के आधार पर मानसिंह का गुरु द्वारा कुरुक्षेत्र मे रहना सिद्ध होता है—

गौरी जननी लोक मे राइया जनक महान्।
गुलाबसिंह सुत ताहि कै नाटक कीन बखान।
जिह अज्ञान निवारियो दीनी मोख अपार।
मानसिंह गुरु चरन कौ बन्दौ बारमबार।

गुलाबसिंह का जन्म स० १७८९ बताया जाता है।

रचना—गुलाबसिंह की २०–२५ रचनाएँ सुनी जाती हैं, पर इस समय चार ही लभ्य है—

भावरसामृत—यह एक ज्ञानप्रद वैराग्योद्दीपक कवित्त-सवैयो का सग्रह है। अधिकाश पद्य वैराग्यशतक के अनुवाद है। कुछेक कूट पद्य भी है। स० १८३४ मे उक्त रचना समाप्त हुई।

अध्यात्म-रामायण—यह रचना इसी नाम की सस्कृत रचना का अनुवाद है। रचना सात काडो मे तथा काण्ड कई-कई अध्यायो मे विभक्त है। इसमे कवित्त-सवैयो के अतिरिक्त मालती, नाराच, तोमर, गीया-मालती आदि विविध छन्दो का प्रयोग है। इसका रचना-काल स० १८३९ है।

प्रबोधचन्द्रोदय—यह सस्कृत के इसी नाम के नाटक का अनुवाद है।

मोक्षपंथप्रकाश—यह सस्कृत के वेदान्त-ग्रन्थ 'स्वराज्यसिद्धि' का अनुवाद है। सन्त जी का उपलब्ध साहित्य प्राय 'अनुवाद कोटि' का है, पर उसमे मौलिकता का-सा आनन्द मिलता है। भावो की मधुरता और गहनता, भाषा का प्रवाह और अलकार-प्रयोग सचमुच अनुपम हैं। भाषा ब्रज है और पजाबीपन से सर्वथा सुरक्षित है। रचना का नमूना देखिए—

(१)

कहिं कोविद बैठि विचार करै कहिं मूढ़ भयानक रार मचाई।
कहिं रोग महातन पाक बहे कहिं सौरभ सुन्दर देत दिखाई।

विधि मेल सुधारस सग किधौं विधि भाइक नै यह खेल रचाई ।
नहि जान परै जग आइ सुधारस के विधनै विख वेल बनाई ।

(२)

कूद कूद कै अटारी हनुमान सब जारी
किलकार पूंछ पावक सु पुर कौ पजार है ।
पीछै पावक जगाइ आगे भागे मार खाई
घर तोरन जराइ सु महाजन कौ मार है ।
हाय सुत हाय पति हाय माइ भाई बाप
राखस की नारी याहि मालजा पुकार है ।
प्रासाद सिर चढ़ै ताहि पावक सो जारै फिर
भ्‌म आग परै जन देवता पधार है ।

(१०) बोधा

बोधा का जन्म स० १८०४ के निकट माना जाता है। ये पन्ना-नरेश के दरबार मे रहते थे। इस दरबार की वेश्या 'सुभान' पर ये आसक्त हो गये थे। राजा ने किसी बात पर इन्हे छ मास के देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया। इन्होने सुभान के वियोग मे 'विरह-वारिश' की रचना की। दण्ड-समाप्ति के अनन्तर इन्होने राजा को इस ग्रन्थ का एक पद सुनाकर प्रसन्न किया और उनमे सुभान को उपहार रूप मे ले लिया। सस्कृत और फारसी का भी इन्हे अच्छा ज्ञान था। 'इश्कनामा' नामक एक और पुस्तक भी इन्होने लिखी। ये रसिक कवि थे। इन्होने 'प्रेम की पीर' का मार्मिक भाषा मे चित्रण किया है। इनकी भाषा चलती और मुहावरेदार है। भापा का एक नमूना देखिए—

जब तै दरसे मनमोहन जू,
तब तै अँखियाँ ये लगीं सो लगी।
कुलकानि गई भगि वाही घरी,
ब्रजराज के प्रेम पगीं सो पगीं।

कवि ठाकुर नेह के नेजन की,
उर मे अनी आन खगीं सो खगी।
अब गाव के नाव रे कोई धरौ,
हम सांवरे रंग रगीं सो रगीं ।।

(११) गिरधर कविराय

गिरधर कविराय के विपय मे अनेक किवदनियाँ प्रचन्दित है अत इनके जन्म-मरण और स्थान के विपय मे निश्चित रूप मे कुछ नही कहा जा सकता। कुछ विद्वानो ने अनुमान का सहारा लेकर इन्हे अवध का निवासी माना है, कुछ इन्हे पजाब का निवासी भी मानते है। कुछ लोगो का कहना है कि ये जाति के भाट जान पडते है, अन्य लोग इन्हे 'गोस्वामी' बताते है, उनका तर्क है कि कुछ पद्यो मे 'साई' शब्द आया है, जो 'गोसाई का द्योतक है। दूसरे लोग इस धारणा के विपरीत यह बताते है कि 'साई' छाप वाले पद्य इनकी पत्नी के बनाये हुए हैं।

गिरधर कवि को सूक्तिकार कहना कठिन है, क्योकि इनकी रचना मे वृन्द जैसा काव्यसौष्ठव नही है। ये कोरे 'पद्यकार' ही कहे जा सकते है। फिर भी सरल अभिव्यक्ति के कारण इनकी कु डलियाँ गाँव-गाँव मे प्रसिद्ध है। इसका कारण यह है कि अलकार, शब्दशक्ति अप्रस्तुत योजना आदि के व्यूह से निकलकर इन्होने सीधी-सादी भाषा मे लोक-व्यवहार का कथन किया है। इनके रचे ठेठ पजाबी के कु डलिये भी मिलते है। इनकी रचना की एक बानगी देखिए—

पानी बाढ़ो नाव में घर में बाढो दाम।
दोनो हाथ उलीचिये यही सयानो काम ।।
यही सयानो काम राम को सुमिरन कीजै।
पर स्वारथ के काज सीस आगे धर दीजै ।।
कहि गिरधर कविराय बडेन को याही बानी।
चलिये चाल सुचाल राखिये अपनो पानी ।।

(१२) बाँकीदास

राजकवि बाँकीदास का जन्म मारवाड राज्य के पचभद्रा परगने के भाडियावास गाँव मे सवत् १८२८ मे हुआ। इनके पिता का नाम फतेहसिह था, जो आशिया शाखा के चारण थे और डिंगल के सिद्धहस्त कवि थे। बाँकीदास ने गाँव से जोधपुर जाकर 'चद्रिका', 'सारस्वत', 'कुवलयानद' और 'काव्यप्रकाश' का अध्ययन किया। महाराजा मानसिह ने इनकी विद्या और काव्य-कला से प्रभावित होकर इन्हे अपना राजकवि नियुक्त किया। बाद मे ये मानसिह के गुरु हुए।

बाँकीदास सस्कृत, फारसी, डिगल और पिंगल के प्रकाड पण्डित और आशुकवि थे। इन्हे इतिहास का भी असाधारण ज्ञान था।

इनकी रचनाएँ ३४ के लगभग बताई जाती है, जिनमे से कुछ ये है—'सूर-छत्तीसी', 'वीरविनोद', 'दातारबावनी', 'नीतिमजरी', 'बिदुर-बत्तीसी', 'विवेक-पच्चीसी', 'धवल-पच्चीसी', 'बैसकवार्ता', 'कृपणदर्पण', 'मोहमर्दन', 'चुगल-मुख-चपेटिका', 'कुकवि-बत्तीसी', 'भुरजालभूषण', 'गगालहरी', 'कृपाण-पच्चीसी' आदि।

इन्हे कवि की अपेक्षा सूक्तिकार कहना कही अधिक सगत होगा। रीतिकालीन वृन्द गिरधर, दीनदयाल की श्रेणी मे इन्हे प्रथम स्थान दिया जा सकता है। इनकी रचनाओ मे भावो की अपेक्षा तथ्यो का आधिक्य है। इनके वर्ण्य-विषय हैं—सूर, कायर, दानी, कृपण, चुगल-खोर, कुकवि आदि। इनकी भाषा प्रौढ और विषयानुकूल है। कुछ नमूने देखिए—

(१)

छूटा जामण मरण सूं भवसागर तिरियाह।
मुंव जूंझ जे रण मही वे नर ऊबरियाह॥

(२)

मंगल एथी आवमत बाघाँ केरी बाट।
साँप अंगूठा मेल ज्यू कदियक हुसी कुघाट॥

(३)

कै मुलतानी कावती पेसावरी प्रचंड।
नेरापुर रानीपना बगदादी बलबंड ।।

(४)

दल अकबर तोपाँ दगै सूकै नीर निवाण।
गोला लागे चीतगढ मेगल माछर जाण ।।

(१३) सन्तोखसिह

सिख भक्तजन दश गुरुओ के उपरान्त भाई सन्तोखसिह का नाम बडी श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। भाई जी का जन्म सवत् १८४५ मे हुआ था। इनके पिता भाई देवासिह अम्बाला जिला के बूडिया गाँव मे रहते थे। भाई देवासिह गुरु मन्दिर की महिमा से आकृष्ट होकर अमृतसर आ बसे थे और यही भाई सन्तोखसिह का जन्म हुआ। इनके पूर्वज छिब्बा या छिब्बर नाम के ब्राह्मण थे। इन्होने ज्ञानी सन्तसिह जी से काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था।

सन्तोखसिह की रचनाएँ ये हैं—'अमरकोश का अनुवाद' (स० १८८०), 'गुरुनानक-प्रतापसूर्य' (स० १८८०), 'जपुजी की गरब गेजिनी टीका' (स० १८८६), 'आत्मपुराण' और 'गुरु-प्रतापसूर्य' (स० १८९०) तथा 'वाल्मीकि रामायण का अनुवाद' (स० १८९१)।

'गुरुनानक-प्रतापसूर्य' और 'गुरु-प्रतापसूर्य' का सिखमत मे वही स्थान है, जो हिन्दुओ मे 'महाभारत' का स्थान है। वस्तुत यही दो ग्रन्थ ही कवि की ख्याति का मूल कारण हैं। शेष ग्रन्थ टीका-ग्रन्थ हैं अथवा सस्कृत-ग्रन्थो के अनुवाद हैं। इन दोनो ग्रन्थो को कौनसा काव्य-रूप दिया जाय ?—यह अभी पर्याप्त विवाद का विषय है। रचनाओ को आयन, ऋतु, मास (राशि) तथा अध्याय मे विभक्त किया गया है। रचना की भाषा ब्रज है। इनमे गुरुओ के पवित्र चरित्र-वर्णन के अतिरिक्त सिख-सिद्धान्तो की विशद व्याख्या मिलती है।

इनकी रचना का नमूना देखिए—

सारग पै कवि सारग पै चढ़ि सारंग सत्रुन को बलि सारंग।
सारंग ज्यो जग में कुल सारंग सारंग ग्यान प्रकाशन सारग॥
सारंगदासन को प्रिय सारंग सारंग दोषन को सभ सारंग।
सारंग पानि भयो नर सारंग सारग श्री हरिगोविन्द सारंग॥

(१४) ग्वाल

सेवाराम बन्दीजन के पुत्र ग्वाल कवि का जन्म संवत् १८४८ मे मथुरा मे हुआ तथा मृत्यु सवत् १९२८ मे नाभा मे हुई। आप ब्रजभाषा के माने हुए कवि थे। आप शकर के उपासक थे और आपका बनाया ग्वालेश्वर जी का मन्दिर मथुरा मे आज तक विद्यमान है। ग्वाल एक प्रतिभाशाली कवि थे। कहते है कि एक समय मे ये आठ काम कर सकते थे। इनके बारे मे यह प्रसिद्ध है कि ये पजाब-केसरी रणजीतसिह के दरबार मे रहे। कुछ समय छुट्टी पाकर मथुरा रहकर जब वापिस गये तो लाहौर पर शेरसिह का राज्य था। यहाँ एक तरह का राज्य-विप्लव देखकर ग्वाल कवि नाभा आकर रहे। नाभा के प्रसिद्ध राजकवि भाई हजूरासिह से आपकी गहन मित्रता थी। आपने भारत का भ्रमण भी किया और अवधी, गुजराती, पजाबी तथा मुल्तानी भाषा मे कविता करने की दक्षता प्राप्त कर ली थी।

इनके रचे पच्चीस ग्रन्थ बताये जाते हैं। जिनमे से ये उपलब्ध है—

१. 'यमुनालहरी', २. 'हम्मीरहठ', ३ 'गोपी-पच्चीसी', ४ 'नख-शिख', ५ 'दूषणदर्पण', ६. 'रसिकानन्द', ७. 'रसरंग', ८. 'अलकार भ्रमभंजन', ९ 'बंसीबीसा', १०. 'कविदर्पण', ११ 'भक्त-भावन', १२ 'नेह निबाहन', १३. 'कुब्जाष्टक', १४. 'रामकृष्णाष्टक', १५. 'गणेशाष्टक', १६ 'राधिकाष्टक', १७ 'दृगशतक' १८. 'साहित्या-नन्द', १९. 'साहित्य-दूषण', २०. 'शृंगार-कवित्त', २१. 'गुरु-पंचाशिका', २२ 'शेरसिंह-प्रकाश' आदि।

इनकी रचना मे भाषा-सघटन और भाव-भगिमा अपूर्व है।

इनकी रचना का नमूना देखिए—

(१)

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम-धाम,
गरमी झुकी है जाम-जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झलेहु न सुखात स्वेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी।
ग्वाल कवि कहै कोरे कुम्भन ते कूपन तें,
लै-लै जलधार बार-बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेर अब,
पीवत-हू पीवत मिटै न प्यास पापिनी।

(२)

राजै सुर ह्वां तौ इहां साधुसुर राजै सदा,
सुधा है वहाँ तौ ह्याँ सुधासर दरस है।
पान लिये वाके होत अमर हू सुमर हू कै,
जीवन मुकुत यहि सभ कौ परस है।
ग्वालकवि योगिन कौ दुलभ कहाँ है उह,
योगी-योगी देवन कौ होत ह्याँ हरस है।
ह्वां है हरिमन्दिर ह्याँ हरिगुरु मन्दिर है,
या ते गुरुपुर सुरपुर सरस है।

(गुरु-पचाशिका)

(१५) कविराजा सूर्यमल

चारणों की मिश्रण शाखा के एक प्रसिद्ध कुल में श्री कविराजा सूर्यमल का जन्म सं० १८७२ बूँदी में हुआ। इनके पिता का नाम चंडीदान और दादा का नाम बदनसिंह था। ये सहृदय कवि और उच्च-कोटि के विद्वान् थे। इन्हें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पिंगल और डिंगल आदि कई भाषाओं का ज्ञान था। मुरारीदान ने—जो सूर्यमल्ल के गोद लिये पुत्र थे—अपने डिंगलकोश के प्रारम्भ में अपने पिता की विद्वत्ता की

प्रशसा की है। इनका देहान्त स० १६२० मे हुआ।

इनके रचे ये ग्रन्थ बताये जाते है—'वशभास्कर', 'बलवतविलास', 'छन्दोमयूख', 'वीर-सप्तशती'। 'वशभास्कर' सर्वश्रेष्ठ रचना है। बूँदी-नरेश रामसिह की आज्ञा से इन्होने यह ग्रन्थ स० १८६७ मे रचा था। इसमे प्रधानतया बूँदी रियासत का वृत्तान्त है और प्रसगवश दूसरी कतिपय रियासतो का भी वृत्तान्त है। इसकी भाषा डिगल, पिगल और अन्य कई भाषाओ का मिश्रित रूप है। 'वशभास्कर' वीररसपूर्ण और ओज-पूर्ण भाषा मे लिखा गया है, इसकी तुलना का दूसरा ग्रन्थ अभी तक नही मिला। वशभास्कर मे युद्धवर्णन भी अपूर्व है। इसमे छोटी-से-छोटी और बडी-से-बडी घटनाओ का वैज्ञानिक ढग से वर्णन किया गया है। अभी तक यह विवाद का विषय है कि 'वशभास्कर' को इतिहास कहा जाय या महाकाव्य, क्योकि इसमे दोनो पक्षो का सफल निर्वाह हुआ है।

सहणी सबरी हू सखी दो उर उलटी दाह।
दूधल जाणे पूतसम बलय लजाणे नाह।
जे खल भग्गा तो सखी मोताहल सज थाल।
निज भग्गा तो नाहरौ साथ न सूनो टाल।
हथलेवे की मूठ किण हाथ विलग्गा माय।
लाखाँ बाता हेकलो चूडौ मो न लजाय।।

रीतिकाल के अन्य कवि

(१) अली मुराद

अली मुराद का परिचय प्राप्त नही है। इनकी रचना 'कथा कुँवरावत' के अन्त साक्ष्य के आधार पर केवल इनके मुर्शिद (गुरु) का ही पता लग सका है, जिनका नाम हजरत फखरुद्दीन था—

निजामुद्दीन के लाल फखरुद्दीन विनती सुनो हमारी।
भव-सागर से पार उतारो बेगहि लियो उबारी।
बोहित बूड़ी मझधारी।

'जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला' नाम से एक वैद्यक ग्रन्थ मिलता है, जिसमे गद्य-वाक्य मिल जाते है। इन दो ग्रन्थो का वही मूल्य है, जो महान् वट-वृक्ष के बीज का होता है। चौदहवी शताब्दी मे अपभ्रंश-गद्य की अविच्छिन्न शृंखला मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। प्राचीन गुर्जर-काव्यसंग्रह' नामक संग्रह-ग्रन्थ मे कुछ अपभ्रंश-ग्रन्थो के गद्य-बद्ध उदाहरण संकलित है, इनमे से 'आराधना' (सं० १३३०) और 'अतिचार' (सं० १३४०) के नामक ग्रन्थो के नाम उल्लेख्य है। इनके अतिरिक्त इस संग्रह मे अन्य दो अज्ञात रचनाओ के गद्य भी संकलित किये गये है। इन गद्यो मे संस्कृत के तत्सम शब्द भी पाये जाते हैं।[1]

इस संग्रह के उपरान्त विद्यापति की कीर्तिलता' का नाम उल्लेखनीय है जिसका निर्माण सं० १३८० के लगभग हुआ। इसमे अपभ्रंश के सरल गद्य के नमूने मिलते है।[2] लगभग इसी शताब्दी मे रचित 'तत्त्व-

---

१ इन गद्य-भागो के नमूने देखिए—

(क) सम्यक्त्व प्रतिपत्ति करहु अरिहन्तु देवता सुसाधु गुरु जिन पणीत धम्मु सम्यक्त्व दडकु ऊचरहु सागार प्रत्याख्यानु ऊचरहु चऊहु सरणि पइ सरहु। —आराधना

(ख) प्रतिषिद्ध जीवसिंहादिक तणइ करणि कृत्य देवपूजा धर्मानुष्ठान तणइ अकरणि जि जिनवचन तणइ अश्रद्दधानि विपरीत परुपणा एवं बहु प्रकारि जु कोइ अतीचारु हुयउ पक्ष दिवस माहि। —अतिचार

(ग) पहिलउ त्रिकाल अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्व-पापक्षयंकर हउ नमस्कारउ। × × × × तउ तुम्हि ज्ञानाचार दरिसणाचार चारित्राचार तपाचार वीर्याचार पचविध आचार विषइया अतीचार आलोउ। [अप० सा० पृष्ठ ३७८]

२ तान्हिकरो पुत्र युवराजन्हि माझ पवित्र अगणेय गुणग्राम प्रतिज्ञा पद पूर्णंक परशुराम मर्यादा मगलावास कविताकालिदास प्रबल रिपुबल सुभट्ट सकीर्ण समर साहस दुर्निवार धनुर्विद्या वैदग्ध्य धर्न-

विचार' और 'धनपाल-कथा' के गद्य-भाग अगरचद नाहटा ने 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित कराये है।[1] सवत् १४७८ मे माणिकचन्द्र सूरि ने 'पृथ्वीचन्द्र-चरित्र' लिखा है, जिसमे गद्य का सुव्यस्थित रूप उपलब्ध है।[2]

इन गद्याशो को देखकर यह अनुमान लगाने को आधार मिल जाता है कि ये गद्य उत्तरोत्तर समास-रहित अतएव सरल बनते जा रहे है, तथा इनमे 'पुरानी हिन्दी' के तत्त्व भी उत्तरोत्तर बढ रहे है। इस प्रकार हम कह सकते है कि हिन्दी की ओर विकसित होने वाली अपभ्र श भापा का रूप जितना कविता मे विकासोन्मुख है, उतना गद्य मे भी है।

(ख) **ब्रजभाषा-गद्य—**

१५वी शती से अपभ्र श-गद्य की परम्परा लुप्त होनी प्रारम्भ हो जाती है। पर इसके लुप्त होने से पूर्व ब्रजभापा-गद्य की शृ खला जुड जाती है।

स० १४०० के आसपास का लिखा एक गोरखपथी गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसमे हठयोग और ब्रह्मज्ञान की चर्चा है। रामचन्द्र शुक्ल ने इसके गद्य को ब्रजभाषा का नमूना माना है। इसके बाद गोस्वामी विट्ठलनाथ की 'शृङ्गार-रम-मडन' नामक ब्रजभापा की पोथी मिलती है। यह रचना १६वी शताब्दी की है। इसी ग्रन्थ के रचना-काल मे स्वामी हितहरिवश जी का

जयावतार समाचरित चन्द्रचूड चरणसेव समस्तप्रक्रिया विराजमान महाराजाधिराज श्रीमद् वीरसिंह देव···

१. (क) एउ ससारु असारु। खण भंगरु। अणाइ चउ गईउ। अणोरु अपारु सभारु। —तत्त्व-विचार

(ख) उज्जयनी नाम नगरी, तहिठे भोजदेवु राजा। तीयहितणइ पचह सयह पडितह मांहि मुख्यु धनपाल नामि पंडितु। —धनपाल-कथा
[राजस्थान भारती वर्ष ३, अक २-३-४]

२. विस्तरिउ वर्षा काल, जो पंथी तणउ काल नाठउ दुकाल जिणिहि वर्षाकालि मधुर मेह जागइ दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ। जाणे सुभिक्ष भूपति आवतां जय ढक्का बाजई। —अ० सा० ३८०

विट्ठलनाथ जी को लिखा पत्र ब्रजभापा-गद्य का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है। १७वी शताब्दी मे गोस्वामी गोकुलनाथ ने 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'—दो पुस्तके ब्रजभापा मे लिखी। स० १६६० मे नाभादास ने 'अष्टयाम' नामक पुस्तक ब्रजभापा-गद्य मे लिखी। इन ग्रन्थो के गद्य-भागो के कुछ नमूने देखिए—

१. (क) **श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। है कैसे परमानन्द आनन्दस्वरूप है सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मै जु हौं गोरिष सो मछदरनाथ को दण्डवत करत हौं। है कैसे वे मछंदरनाथ? आत्मज्योति निश्चल है अन्तहकरन जिनकै अरु मूलद्वारतै छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै।** —गोरखपन्थी गद्य-ग्रन्थ

(ख) **प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते है। अमृतसमूह ताकरि निकुंज विषै श्रृङ्गार रस श्रेष्ठ रचना कीनो सो पूर्ण होत भई।** —शृ गाररसमण्डन

(ग) **सो श्री नंदगाम में रहतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत है सब को खडन करतो, ऐसे वाको नेम हतो। याही तै सब लोगन ने वाको नाम खडन पार्‌यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयौ।**

—दो सौ वावन वैष्णवन की वार्त्ता

(घ) **तब श्री महाराजकुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्धसमाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठते भए।** —अष्टयाम

इनके अतिरिक्त सवत् १६८० मे वैकुण्ठमणि शुक्ल ने अगहन-माहात्म्य और वैशाख-माहात्म्य, सवत् १७६० मे किसी अज्ञातनामा लेखक ने 'नासिकेतोपाख्यान' तथा सवत् १८५२ मे लाला हीरालाल ने 'आईन-ए-

अकबरी की भाखा वचनिका' ब्रजभाषा गद्य मे लिखी ।

ब्रजभाषा मे गद्य-ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति इतनी लोकप्रिय नही हुई, जितनी कि ब्रजभाषा मे लिखी 'टीकाएँ' लोकप्रिय हुई । यद्यपि कविता की 'मूल' ब्रजभाषा की अपेक्षा टीका की ब्रजभाषा जटिल और कठिन है, फिर भी टीकाग्रन्थो की कोई गिनती नही । इन टीकाग्रन्थो की परम्परा अठारहवी शती से लेकर भारतेन्दु-युग के मध्यकाल (सवत् १६४०) तक अविच्छिन्न चली आई है । अप्रसिद्ध टीकाग्रन्थो को छोड भी दिया जाय तो भी मोटे-मोटे टीकाग्रन्थो की सख्या दसियो तक जा पहुँचती है।[१] यह ठीक है कि इन टीका-ग्रन्थो का अपने-आप मे कोई साहित्यिक महत्त्व नही है, फिर भी ब्रजभाषा की प्रवृत्ति गद्य की ओर भी बनी रही है—यह इन टीकाओ से अवश्य सिद्ध हो जाता है ।

---

१ इनमे से प्रसिद्ध टीकाग्रन्थ ये हैं—

१	टीका विहारी-सतसई	हरिचरनदास	१७७७ ई०
२	कविप्रिया	,,	१७७८ ,,
३	हरिवश के चौरासी पदो की टीका	प्रियादास	१७८० ,,
४.	टीका सयुगति-वचनिका	रामजन	१७८२ ,,
५.	रामचरित मानस की टीका	रामचरन	१७८७ ,,
६.	रामचन्द्रिका की टीका	जानकीप्रसाद	१८१५ ,,
७	लक्ष्मण-चन्द्रिका (कविप्रिया)	लक्ष्मनराव	१८१६ ,,
८	लालचन्द्रिका (बिहारी-सतसई)	लल्लूलाल	१८१८ ,,
९	कृष्ण-चन्द्रिका (बिहारी स०)	कृष्णचन्द्र	१८३६ ,,
१०	रत्न-चन्द्रिका (बिहारी स०)	प्रतापसाहि	१८३९ ,
११	टीका रसिकप्रिया	सरदार कवि	१८४६ ,,
१२	गर्वगजनी (टीका जपजी)	सतोषसिह	१८४० ,,
१३	मानस-परिचय	रत्नहरि	१८५० ,,

खड़ीबोली : विकास और गद्यबद्ध निर्माण

(क) खड़ीबोली का विकास

विकास—आधुनिक काल से पूर्व व्रज और अवधी ही साहित्यिक भाषाएँ रही। अमीर खुसरो को छोडकर शेष किसी भी कवि ने खडी-बोली को मूलरूप से नही अपनाया। इसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि भ्रमवश इसे मुसलमानो की भाषा समझ लिया गया था। यहाँ तक कि कुछ विद्वानो ने इसे म्लेच्छभाषा कहने मे भी सकोच नही किया।[1] इतिहास साक्षी है कि आरम्भ मे खडीबोली का प्रयोग केवल मुसलमानो ने ही किया, जिन हिन्दू लेखको ने इसे कही अपनाया भी तो भाषा को पात्रा-नुकूल बनाने के उद्देश्य से इसे मुस्लिम पात्रो के मुँह से कहलवाया है।[2] हिन्दुओ की इस उपेक्षा मे खडीबोली मुस्लिम-सस्कृति की गोद मे पलकर उर्दू बन बैठी। और बहुत आगे चलकर खडीबोली को हिन्दू लेखको ने भी अपनाना आरम्भ कर दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस भाषा को सर्वप्रथम गद्य-साहित्य के माध्यम के रूप मे स्वीकार किया गया, अमीर खुसरो को छोडकर और किसी भी प्रसिद्ध हिन्दी-कवि ने इसे पद्य रूप मे नही अपनाया। यह अलग प्रश्न है कि हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन कालो की पद्यबद्ध रचनाओ मे इसका प्रयोग भी इधर-उधर बिखरा हुआ मिल जाता है, जिसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) आदिकाल—

१ खडी बोली के प्राचीन रूप अपभ्रश ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है। उदाहरणार्थ—

"भल्ला हुआ जु मारिआ, **बहिणि** ! महारा कन्तु।"

इस पक्ति मे छोटे टाइप वाले पद अपभ्रश की अपेक्षा खडीबोली

---

१ पुरानी हिन्दी, पृष्ठ १०८।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास (छठा सस्करण), रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ३५९।

की ओर अधिक झुके हुए हैं।

२. इसी प्रकार 'वीसलदेवरासो' मे भी, जो मूलत पिंगल भाषा का ग्रन्थ है, कुछेक स्थलो पर खडीबोली की 'आकारान्त प्रवृत्ति' स्पष्ट दिखाई देती है—

(क) **मोती** का **आषा** किया।

(ख) **चित्त** फाट्या **मन** उचट्या।

३. अमीर खुसरो ने तो अपनी पहेलियो और मुकरियो की रचना पूर्णत खडीबोली मे ही की है। एक पहेली का नमूना देखिए—

आदि कटे तो सब को पारै।
मध्य कटे तो सब को मारै॥
अन्त कटे तो सब को मीठा।
कह खुसरो मैं आँखौं दीठा॥

(आ) भक्तिकाल—

कबीर, नानक, दादू आदि सन्तकवियो की भाषा पर भी खडीबोली का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है—

(१) **कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।**

(२) **घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर।**
दादू बकता बहुत है मथि काढ़ै ते और॥

(३) **सोच विचार करे मत मन में, जिसने ढूँढा उसने पाया।**
नानक भक्तन दे पद परसे, निसदिन रामचरन चित लाया॥

(इ) रीतिकाल—

(१) भूषण कवि की 'शिवाबावनी' मे भी खडीबोली के कुछेक रूप द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ—

(क) **भूषन भनत** बाजे **जीत के नगारे भारे,**
सारे करनाटी भूप सिंहल **को** सरके॥

(ख) **अफ़जल खान गहि जाने मयदान** मारा,
बीजापुर गोलकुण्डा मारा **जिन आज है॥**

(ग) **बन्धु तौ मुरादबकस वादि चूक करिबे को**
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है ।

(घ) **भूली खान-पान फिरै बन** बिलबिलाती है ।

(२) रीतिकालीन अन्य कवियो—सीतल तोप सूदन, ग्वाल, रघुनाथ आदि—की कविता मे भी खडीबोली के रूप इधर-उधर बिखरे हुए मिल जाते है । रघुनाथ की कविता का नमूना देखिए—

वह मोहताज आप की है आप उसके न
आप क्यो चलोगे ? वह आप पास आवेगी ।

यह रही पद्यबद्ध रचना मे खडीबोली के विभिन्न प्रयोगो की चर्चा । आधुनिक काल से पूर्व खडीबोली के कुछेक गद्य-ग्रन्थ तथा कुछ उल्लेख भी उपलब्ध हो जाते है। इनके लेखको मे से गग तथा दौलतराम के अतिरिक्त 'मडोवर-वर्णन' के किसी अज्ञात-लेखक का नाम उल्लेखनीय है ।

अकवर के समकालीन गग कवि की 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' उपलब्ध है । इस ग्रन्थ की भाषा का एक उदाहरण लीजिए—

सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहि जी श्री दलपति जी अकबरसाह-जी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे । और आमखास भरने लगा है, जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से । जिनकी बैठक नही सो रेशम के रस्से में रेशम की लूमें पकड पकड के खड़े ताज़ीम में रहे ।

स० १८१८ मे पण्डित दौलतराम ने 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया था, जिसकी भाषा अरबी-फारसी के सम्पर्क से दूर खडीबोली है । निम्नलिखित उदाहरण से इस कथन की पुष्टि हो जायगी—

जम्बूद्वीप के भारतक्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे है इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै है और भूमि विषै साँठेन के बाडे शोभमान है । जहाँ नाना प्रकार के अन्नो के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे है ।

संवत् १८३० मे किसी अज्ञात लेखक ने 'मडोवर का वर्णन' साधारण बोलचाल की भाषा मे लिखा है। भाषा का एक नमूना देखिए—

अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुआ। इस लफ्ज का बिगड़कर मडोवर हुआ है।

इधर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने २०० वर्ष प्राचीन गद्य का नमूना, जो कि पत्रो के रूप मे है, प्रकाशित कराया है। मजे की बात यह है कि इन पत्रो की भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' भी दिया हुआ है। इससे इस नाम की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है—

अथ हेन्दुस्थानीय भाषाया (यॉं) पत्रलिखनप्रकारः।

स्वस्ति श्री सकल उपमायोग्य हमारे आप्त अमुक को महाराज के सदेश आगे हमको तुम्हारे मुलुक की फलानी चीज़ चहती है। तिस वास्ते हमारा पास (से) फलाना शकस को भेजा है। पैशें (पैसे) तॉं तिस्के पास दिए है तुमके किताब लिखी है।......

—विशाल भारत अप्रैल १९४०

(ख) खड़ीबोली का गद्य-बद्ध निर्माण

रीतिकाल तक खडीबोली के पद्य और गद्य-क्षेत्र मे प्रवेश करने की गाथा यही समाप्त नही हो जाती। आधुनिक साहित्य मे—जिसका वास्तविक प्रारम्भ भारतेन्दु से मानना चाहिए—इस भाषा के प्रवेश करने से पूर्व इसे अनेक गद्यबद्ध निर्माण-भागो से गुज़रना पडा। इस निर्माण को हम दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं—रीतिकालीन और रीतिकालोत्तरवर्ती।

(अ) रीतिकालीन निर्माण—(सवत् १८५०–१९००)
५० वर्ष

(आ) रीतिकालोत्तरवर्ती निर्माण—(सवत् १९००–१९२५)
२५ वर्ष

(अ) रीतिकालीन निर्माण—(सं० १८५०–१९००)

हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे सवत् १८५० (लगभग सन् १८०० ई०) से लेकर स० १९०० (लगभग सन् १८५०) तक के पचास वर्ष बड़े महत्त्व

के है। इन वर्षो का महत्त्व इस बात मे है कि बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उदय के साथ हिन्दी-साहित्य की जो महती उन्नति हुई, उससे लगभग ५० वर्ष पूर्व—फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के समय से लेकर—जिस समुचित तैयारी की आवश्यकता थी, वह इस समय मे यथेष्ट रूप मे हो चुकी थी। कुछ प्रत्यक्ष और कुछ परोक्ष शक्तियो ने मिलकर खडीबोली-गद्य को 'माँजना' आरम्भ कर दिया था, जिससे उसमे महान् साहित्य के निर्माण की क्षमता आने लग गई थी। इसमे जो-कुछ कमी रह गई थी, उसे आगे चलकर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पूरा कर दिया। इन ५० वर्षो मे जिन शक्तियो ने गद्य-निर्माण मे सहायता दी, वे ये है—

१ फोर्ट विलियम कालिज,

२ धार्मिक आन्दोलन—ईसाई और ब्रह्मसमाज,

३ कतिपय स्वतन्त्र लेखक—इशा अल्लाखॉ, सदासुखलाल और रामप्रसाद निरजनी।

४ पत्र-पत्रिकाएँ—उदत मार्तण्ड, बनारस अखबार, आदि-आदि।

इन शक्तियो मे से धार्मिक आन्दोलनो द्वारा हिन्दी गद्य को आनुषगिक लाभ पहुँचा है, अत इन्हे 'परोक्ष-शक्ति' मानना चाहिए और शेष तीन को प्रत्यक्ष-शक्तियाँ। प्रत्यक्ष-शक्तियो ने हिन्दी (खडीबोली) गद्य के निर्माण मे अपूर्व योग दिया है। इन सबका सक्षिप्त परिचय लीजिए—

१. फ़ोर्ट विलियम कालिज—

फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना भारत के शिक्षा-जगत् मे एक अपूर्व घटना है। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी-सरकार को आभास-सा मिल गया था कि भारत मे मुस्लिम-शासन की नीव हिल चुकी है और हिन्दू-शक्ति परस्पर बँटी हुई है। अत भारत मे साम्राज्य-स्थापन कोई कठिन कार्य नही है। कम्पनी के सर्वोच्च अधिकारी शुरू मे ही ऐसी नीति पर चल रहे थे, जिससे ऊपर से यह मालूम पडे कि अँग्रेज केवल अपने

व्यापार के साधन जुटा रहे हैं, पर वस्तुत वे उन साधनो को जुटाने मे लगे हुए थे, जिससे अँग्रेजी साम्राज्य की नीव पक्की हो। इस कूटनीति की अनेक शाखाएँ थी, जिनमे 'शिक्षानीति' भी एक थी।

'फोर्ट विलियम कालिज' मि० जॉन ओर्थविक् गिलक्राईस्ट के सुनहले स्वप्नो का और मार्क्विस वेलेजली के कूटनीतिक आदर्शो का प्रत्यक्ष परिणाम था। गिलक्राईस्ट सन् १७८३ मे कम्पनी के सर्जन बनकर आये थे। आते ही उन्होने यह निश्चय किया कि कम्पनी को सुचारु रूप से चलाने के लिए 'हिन्दुस्थानी' भाषा की जितनी आवश्यकता है, उतनी फारसी की नही, अत उन्होने स्वय हिन्दुस्तानी सीखनी शुरू की। बहुत जल्दी उन्होने दक्षता भी प्राप्त कर ली। इसका प्रमाण यह है कि उन्होने सन् १७९० मे 'हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' और सन् १७९६ मे 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' तैयार कर ली। गिलक्राईस्ट की असाधारण योग्यता देखकर कम्पनी ने अपने कर्मचारियो को 'हिन्दुस्तानी' की शिक्षा देने के लिए उनकी सेवाएँ प्राप्त की। सन् १७९८ मे 'ओरियण्ट सेमिनरी' सस्था स्थापित की गई। मार्क्विस वेलेज़ली ने इस सस्था के विकास मे बडी रुचि ली। दो वर्ष से भी कम समय मे ९ जनवरी, १८०० से गिलक्राइस्ट को परीक्षा लेने का अधिकार मिल गया। सस्था की सन्तोष-जनक प्रगति से प्रेरित होकर मार्क्विस वेलेजली ने ४ मई १८०० को 'ओरिएण्टल सेमिनरी' संस्था को 'फोर्ट विलियम कालिज' के रूप मे बदलने का निश्चय कर लिया। इसके लिए सब व्यवस्था कर दी गई; यथा—

१ सरक्षक और विज़िटर (निरीक्षक)—गवर्नर जनरल।

२ गवर्नर (व्यवस्थापक)—दिवानी अदालत के जज और सुप्रीम कौसिल के सदस्य।

३ इसके लिए विधान भी बना दिया गया।

तीन वर्ष तक कालिज यथेष्ट प्रगति के साथ चला और जितना कार्य किया गया, वह इतना पर्याप्त और सन्तोषप्रद है कि साहित्य-जगत् में

इसे यथोचित मूल्य मिलता रहेगा। पर कालिज के डाइरेक्टरो ने इस सस्था मे यथेष्ट रुचि नही ली, बल्कि उन्होने सदा विरोधी रुख बनाये रखा। परिणामत सन् १८०४ मे कालिज का कार्य सक्षिप्त कर दिया गया, और धीरे-धीरे कालिज २ फर्वरी १८५४ को वन्द कर दिया गया। कालिज के पहले चार वर्षो मे भारतीय भाषाओ का विकास हुआ, जिनमे हिन्दी भी एक है। जिसे हम 'हिन्दी' कह रहे है, उसे कालिज के वातावरण मे 'हिन्दुई' कहा गया, जिसे हम 'उर्दू' मान रहे है, उसे वहाँ 'हिन्दी' नाम से पुकारा गया। 'भाषा' के अन्तर्गत यद्यपि ब्रजभाषा का विकास हो रहा था, तथापि खडीबोली भी ब्रजभाषा के साथ-साथ पल-पुस रही थी। हिन्दी-साहित्य के विकास मे इस कालिज ने जो कार्य किया है, उसका विवरण इस प्रकार से है—

१८०० मे लल्लूजीलाल की भाषा-मुन्शी के रूप मे नियुक्ति।

१८०१ मे 'सिहासन-बत्तीसी' का प्रकाशन।

१८०२ मे 'वैतालपच्चीसी' और 'माधोनल कामकन्दला' का प्रकाशन।

१८०३ मे 'प्रेमसागर' का प्रकाशन।

१८०६ मे खडीबोली के 'अध्यात्म-रामायण' पर पुरस्कार।

१८०३–६ मे तीन थीसिसो (निबन्धो) का लिखा जाना।

१८१० मे ब्रजभाषा-व्याकरण का प्रकाशन।

फोर्ट विलियम कॉलिज के विशिष्ट व्यक्तियो का परिचय इस प्रकार है—

(१) जॉन ऑर्थविक् गिल क्राईस्ट

जॉन गिल क्राईस्ट का जन्म १७५९ ई० मे एडिनवरा मे हुआ था। सामान्य विद्याभ्यास के बाद इन्होने जॉर्ज हेरियट्स अस्पताल मे चिकित्सा-ज्ञान प्राप्त किया। ३ अप्रैल, १७८३ को वे कम्पनी के सहायक सर्जन नियुक्त होकर भारत आये। यहाँ पहुँचकर इन्होने 'हिन्दुस्तानी' के अध्ययन, प्रचार, शिक्षा और साहित्य-सर्जन मे विशेष रुचि ली। गिल क्राईस्ट ने

लगभग ६-१० पुस्तके लिखी,[1] उनकी लिपि यद्यपि रोमन है, तथापि उनका वर्ण्यविषय हिन्दी है। कॉलिज-डायरेक्टरो के विरोधी रुख से खिन्न होकर इन्होने कॉलिज से त्यागपत्र दे दिया और १८०४ मे इगलैण्ड वापिस चले गये। एडिनबरा विश्वविद्यालय से उन्हे एल्-एल्० डी० की उपाधि मिली। ६ जनवरी, १८४१ को पैरिस मे इनका देहान्त हुआ।

जॉन गिल क्राईस्ट की भाषा-सेवाएँ तो अपूर्व हैं, पर उनकी भाषा-सम्बन्धी परिभाषाओ ने भ्रान्ति फैलाने मे कोई कमी नही छोडी। उनके विचारो मे 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी', 'उर्दू', 'उर्दुवी' और 'रेख़्ता'—सब नाम एक भाषा के है। वे 'हिन्दी' का अर्थ 'हिन्द की' भाषा लेते थे। 'हिन्दवी' से हिन्दुओ की भाषा का अर्थ गिलक्राईस्ट ने इसलिए ले लिया कि यह नाम सदियो से हिन्दुओ की भाषा के लिए मुसलमानो मे रूढ चला आता था। उनके मन मे 'हिन्दवी' ब्रजभाषा, अवधी और सस्कृत-निष्ठ खडीबोली का नाम है।[2]

(२) लल्लूजीलाल

लल्लूजीलाल आगरा के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म सवत् १८२० तथा मृत्यु सवत् १८८२ मे हुई। ये सस्कृत, ब्रजभाषा और उर्दू के ज्ञाता थे। सवत् १८५७ (१८०० ई०) मे इनकी भाषा-मुन्शी के रूप मे फोर्ट विलियम कॉलिज मे नियुक्ति हुई। दो वर्ष के बाद वह नियुक्ति स्थायी हो गई। लल्लूजीलाल को जॉन गिलक्राईस्ट के

---

१ ए डिक्शनरी इग्लिश एण्ड हिन्दुस्तानी (१७९०), ए ग्रामर ऑव् दि हिन्दुस्तानी लैग्वेज (१७९६), दि ओरियण्टल लिंग्विस्ट (१७९८), दि ऐण्टी जार्गोनिस्ट (१८००), दि स्ट्रेजर्स ईस्ट इडियन गाइड टु दि हिन्दुस्तानी (१८०२), दि हिन्दी स्टोरी-टैलर (१८०२), ए कलैक्शन ऑव् डायलाग्स इगलिश एण्ड हिन्दुस्तानी (१८०४), दि हिन्दी मौरल प्रोसेस्टर (१८०३), दि ओरियण्टल फैब्यूलिस्ट आदि।

२ फोर्ट विलियम कॉलिज पृष्ठ १६८ और २०४।

अधीन काम करने का अवसर मिला था। यदि इनके भाषा-सम्बन्धी विचारो पर इनके अधिष्ठाता की छाप हो तो यह सर्वथा सम्भव जान पडता है। इनकी रचनाएँ ये हैं—

(क) 'सिहासन-बत्तीसी' और 'शकुन्तला' (१८०१ ई०)
(ख) 'बैताल-पच्चीसी' और 'माधोनल कामकदला' (१८०२ ई०)
(ग) 'प्रेमसागर' (१८०३)
(घ) 'राजनीति' (१८०६)
(ङ) 'ब्रजभाषा-व्याकरण' (१८११)
(च) 'सभा-विलास' (१८१५)।

इन रचनाओ मे से प्रेमसागर की विशेष प्रसिद्धि है। लेखक ने इसे ठेठ रूप देने का सकल्प लेकर लिखा था। यद्यपि इसकी भाषा 'हिन्दुई' है, पर इसे ब्रजभाषा और खडीबोली का मिश्रित रूप मान सकते है। जो हो, हिन्दीगद्य के निर्माण मे लल्लूजीलाल का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इनकी भाषा का एक उदाहरण लीजिए—

एक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दसम स्कंध की कथा को चतुर्भुज मिश्र ने दोहे-चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के लिए महाराजाधिराज सकल गुणनिधान, पुण्यवान, महाजान मारकुइस वलिजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त की आज्ञा से संवत् १८६० में लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने जिसका सार ले यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की 'खडीबोली' में कह नाम 'प्रेमसागर' धरा।

(३) सदल मिश्र

ये बिहार के रहनेवाले थे। ये भी लल्लूजीलाल की तरह कॉलिज मे भाषा-मुन्शी की हैसियत से काम करते थे। इन्हे एक-दो बार कॉलिज से पृथक् कर दिया गया, पुन अपने पद पर नियुक्त भी कर दिया गया। ये सन् १८०४ से १८०६ तक कॉलिज मे विद्यमान रहे। इनकी नियुक्ति भाषा-मुन्शी की हैसियत से हुई थी पर इनसे फारसी-सम्बन्धी कार्य भी

ले लिया जाता था। इनकी रचनाएँ ये है—

(क) 'अध्यात्मरामायण' (१८०६ ई०)

(ख) 'हिन्दी-फारसी शब्द-सूची' (१८०६ ई०)

(ग) 'नासिकेतोपाख्यान'

प्रथम दो पुस्तको का निर्माण कॉलिज-व्यवस्था के अधीन हुआ था, तथा इन पर पुरस्कार-प्राप्ति की घोषणा भी हुई थी। इनमे से प्रथम रचना अप्राप्य है। तीसरी रचना सदल मिश्र ने कॉलिज मे जाने से पूर्व ही लिखी होगी—अनुमान से ऐसा ज्ञात होता है। इनकी भाषा है तो 'हिन्दुई' पर उसका रूप व्यावहारिक खडीबोली का है। ब्रजभाषा और अवधी के शब्द यत्र-तत्र पाये जाते है। इनका भाषा का एक नमूना देखिए—

इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन-जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियो को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु, इनका जो बध करते है वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन-रात लगे रहते है, अपनी भार्य्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते औरो को पीड़ा देख प्रसन्न होते हें और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते है वो माता-पिता की हित-बात को नही सुनते, सब से बैर करते है, ऐसे जो पापीजन है सो महा डरावने दक्षिण द्वार से जा नरको में पडते है।"

इस प्रकार फोर्ट विलियम कालिज ने अध्ययन, साहित्य-प्रणयन, पुरस्कार आदि द्वारा अनेक मार्गो से हिन्दी-गद्य के निर्माण मे पूरी-पूरी सहायता दी, जिसे इतिहास भुला नही सकता।

२. धार्मिक आन्दोलन—

२० मई, १४९८ मे वास्को-ड-गामा भारत मे आया। इससे पूर्व कई ईसाई पादरियो का भारत मे आना सिद्ध होता है, पर यह कह सकना कठिन है कि उन्होने धर्म-प्रचार और भारतीय भाषाओ मे अधिक

रुचि ली। हाँ, इसके बाद आने वाले ईसाइयो ने निश्चयपूर्वक धर्म-प्रचार के साथ-साथ भारतीय भाषाओ के विकास मे पूरा-पूरा सहयोग दिया। सन् १५४२ मे फासिस जेवियर नामक पादरी भारत मे आया, सन् १५७९ मे फादर टामस स्टीफेन्स नामक अग्रेज पादरी भारत मे आया, इन दोनो ईसाई प्रचारको ने 'स्कूल' खोलकर पश्चिमी ढग से शिक्षा देनी आरम्भ की, जिससे ईसाई धर्म का प्रचार हो सके। इसके बाद सत्रहवी-अठारहवी शतियो मे फास हालैण्ड, वेलजियम, नार्वे आदि यूरोपीय देशो से ईसाई-प्रचारक आते रहे। सन् १८१३ से 'विल्फोर्स ऐक्ट' के पास होने पर ईसाइयो ने धर्म-प्रचार करना बडी द्रुतगति से प्रारम्भ कर दिया। स्कूल, अस्पताल, धर्मसघ, धर्मोपदेश, शास्त्रार्थ, पुस्तक-वितरण आदि अनेक उपायो से भारत मे ईसाई-प्रचार किया जाने लगा।

सन् १८०३ (सवत् १८६०) से सन् १८४३ (सवत् १९००) तक हिन्दी मे जितना ईसाई-साहित्य वना था, वह सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे नष्ट हो गया। सवत् १८६३ मे 'अजील' का नया सस्करण छपकर तैयार हुआ, वाईवल का पहला भाग 'न्यू टैस्टामेट' सवत् १८६६ मे और दूसरा भाग 'ओल्ट टेस्टामेट' सवत् १८७५ मे छपकर प्रकाशित हुआ। इनका अनुवाद सस्कृतनिष्ठ खडीबोली मे किया गया।

ईसाई-धर्मप्रचारको के ढग पर राजा राममोहन राय के प्रयास-स्वरूप ब्रह्म-समाज की स्थापना की गई। इस समाज के प्रचार का ढग भी वही था, जो ईसाई-धर्मप्रचारको का था। सवत् १८७२ मे राजा राममोहन राय ने 'वेदान्त-सूत्र' का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया तथा ब्रह्मसमाज-सम्बन्धी साहित्य का निर्माण खडीबोली गद्य मे किया गया।

३. कतिपय स्वतन्त्र लेखक—

स्वान्त सुखाय लिखने वाले साहित्यकारो की कृतियाँ जितना मूल्य रखती है, उतना मूल्य प्रेरणा, पुरस्कार, प्रचार अथवा किसी अन्य उद्देश्य से लिखी कृतियो का नही होता। इसका कारण स्पष्ट है। अपनी धुन

मे लिखनेवालो का लक्ष्य 'कला' होता है और प्रेरणा से लिखनेवालो का 'लक्ष्य' कला न होकर विशिष्ट प्रयोजन होता है, 'कला' तो उस प्रयोजन का साधनमात्र बनकर रह जाती है। अत. फोर्ट विलियम कालिज मे जो कुछ लिखा गया है और जो-कुछ धार्मिक आन्दोलनो से लिखा गया है, उसमे वास्तविकता कुछ और है। पर इधर इशाअल्लाखाँ, सदासुखलाल, प० रामप्रसाद निरजनी ने जो कुछ लिखा और कहा वह इस युग की वास्तविक रचनाएँ मानी जानी चाहिएँ।

स्वतन्त्र-चेता कतिपय लेखको का परिचय इस प्रकार है—

(१) रामप्रसाद निरजनी

रामप्रसाद निरजनी पजाब के रहनेवाले थे। इनका जन्म अनुमानत सवत् १७९८ ठहराया जाता है। हिन्दी-साहित्य मे इनके रचित 'योग-वसिष्ठ' की पर्याप्त चर्चा की जाती है। पटियाला-नरेश साहबसिंह सवत् १८३८ मे राज्य-सिहासन पर बैठे। इनके दरबार मे निरजनी जी का आना-जाना था। कुछ ही वर्षो के बाद महाराज की दो बहिने विधवा हो गई, जिनकी शोक-शान्ति के लिए रामप्रसाद निरजनी से 'योगवसिष्ठ' की कथा सुनाने के लिए प्रार्थना की गई। रामप्रसाद जी कथा बाँचते जाते और दो द्रुतलेखक—जो पास ही पर्दे मे छिपे रहते थे—उनकी मौखिक भाषा को लेखनीबद्ध करते जाते थे। वही रचना 'योगवसिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस रचना की भाषा पजाबी मिश्रित खडीबोली है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे यह प्रथम प्रयास है। पुस्तक-प्रकाशन के समय उसमे से पजाबीपन निकाल दिया गया। इससे आचार्य शुक्ल ने इस पुस्तक की भाषा को शृखलाबद्ध, साधु और व्यवस्थित भाषा कहा है। उनका यह कथन प्रकाशित पुस्तक के लिए यथार्थ है, पर रामप्रसाद निरजनी के मुख से निस्सृत मूल भाषा के लिए यथार्थ नही है। इस ग्रन्थ की भाषा का एक उदाहरण लीजिए—

"हे राम जी ! जो पुरुष अभिमानी नही है वह शरीर के इष्ट-

अनिष्ट में राग-द्वेष नही करता क्योकि उसकी शुद्ध वासना है × × × मलीन वासना जन्मो का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष-शोक आदि विकारो से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय क्रोध से रहित, रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बन्धन में न आवोगे।"

(२) इंशा अल्लाखाँ

गद्य-निर्माण-काल मे इंशा अल्लाखाँ का नाम शीर्ष स्थान पर आता है। इनके पिता मीर माशा अल्ला खाँ कश्मीर से चलकर दिल्ली आकर रहे। इंशा का जन्म मुर्शिदाबाद मे हुआ था और सिराजुद्दौला के मरने के बाद इंशा दिल्ली आ रहे और शाह आलम द्वितीय के दरबारी कवि बनकर रहे। इंशा ने सवत् १८५५ और १८६० के मध्य 'रानी केतकी की कहानी' लिखी थी। यह कहानी एक निश्चित विचार रखकर लिखी गई थी। इस कहानी का निर्माण करते समय 'हिन्दवी की छुट और किसी बोली की पुट न आने देने' का शुभ सकल्प इंशा के मस्तिष्क मे था, और वह अपने प्रयत्नो मे पूर्णतया सफल भी रहा। 'हिन्दवी' शब्द, जिसे आधुनिक विद्वान् 'हिन्दी' कहते है, मुसलमानो मे खडीबोली के लिए रूढ चला आ रहा था, अपनी इस कृति से ही खडीबोली के रूपनिर्धारण मे इंशा का स्थान सर्वप्रथम है। इंशा को खडीबोली-गद्य का, सही मानी मे, पिता माना जा सकता है। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

"जब दोनो महाराजो में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन-भादों के रूप रोने लगी, और दोनो के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातो को जी तरसने लगा।"

(३) मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़'

सदासुखलाल दिल्ली के रहने वाले कायस्थ थे। इनका जन्म सवत्

१८०३ में हुआ, तथा मृत्यु सवत् १८८१ मे हुई। ये सवत् १८५० मे चुनार (जिला मिर्जापुर) मे कम्पनी-सरकार द्वारा किसी अच्छे पद पर नियुक्त थे। ये उर्दू के अच्छे शायर थे। इन्होने फारसी और उर्दू मे बहुत-सी रचनाएँ लिखी है। ये नौकरी से कार्यमुक्त होकर प्रयाग मे जा रहे। वही इन्होने 'सुखसागर' की रचना की। इसकी भाषा परिमार्जित, व्यावहारिक और सरल खडीबोली है। उर्दू-ज्ञान के कारण इनकी भाषा ठेठ बन सकी है। 'नियाज' ने अपने सामने उर्दू का उत्थान और खडी बोली हिन्दी—जिसे मुसलमान 'भाखा' भी कहा करते थे—का पतन देखा था, जिसका उल्लेख इन्होने स्वय किया है—

रस्मो रिवाज भाखा का दुनियाँ से उठ गया।

इनकी रचना का एक नमूना देखिए—

विद्या इस हेतु पढते है कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिए। इस हेतु नही पढ़ते है कि चतुराई की बातें कह के लोगो को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरा-पान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, जोकि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नही है।

हिन्दी-साहित्य के गद्य-निर्माण की प्राथमिक दशा मे इन तीन लेखको की सेवाएँ सर्वश्रेष्ठ है। इनकी भाषा प्रारम्भिक खडीबोली का यथार्थ प्रतिनिधित्व करती है। लल्लूजीलाल और सदल मिश्र तो कालिज-क्षेत्र मे चले गये थे, उनकी स्वतत्र चेतना पर कालेज की नीति छाई हुई थी। अत बिना किसी अवलम्बन के, स्वतन्त्र भाव से लिखने वाले इन तीन लेखको का नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे सदा गर्व के साथ स्मरण किया जायगा।

४. पत्र पत्रिकाएँ—

इस युग मे इतनी पत्र-पत्रिकाएँ नही निकली, जिनका विस्तारपूर्वक

उल्लेख किया जाय। पत्र-कला विदेशी साहित्यकारो की देन है। दो-एक अग्रेजी-पत्रो की देखा-देखी कलकत्ता से सन् १८२६ (सवत् १८८३) मे युगल किशोर शुक्ल के सम्पादकत्व मे हिन्दी का पहला दैनिकपत्र 'उदन्त-मार्तण्ड' निकला, किन्तु दो वर्ष चलकर यह पत्र बद हो गया। इसके पश्चात् एक-दो अन्य पत्रो ने भी जन्म लिया, जिसमे राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'बनारस अखबार' प्रसिद्ध है। इसी युग मे युगलकिशोर शुक्ल ने 'साम्यदन्त-मार्तण्ड' पत्र भी निकला था, जो जल्दी ही बद हो गया। सवत् १९०७ मे बाबू तारामोहन मैत्र ने 'सुधाकर' पत्र बनारस से निकाला, जिसका उद्देश्य राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति का विरोध करना था। सवत् १९१० मे कलकत्ता से 'समाचार-सुधावर्षण' नामक हिन्दी-बगला-मिश्रित दैनिक पत्र निकला, श्यामसुन्दरसेन इसके सम्पादक थे।

इन पत्र-पत्रिकाओ के आविर्भाव से गद्य-निर्माण मे बडी सहायना मिली। इन पत्रो का वस्तु-विन्यास अधिकाशत गद्य मे होता था। 'गद्य' का क्या स्वरूप होना चाहिए ? इन पत्रो द्वारा इस विषय पर भी खासा वाद-विवाद हुआ। इससे हिन्दी का लाभ ही हुआ, क्योंकि सम्पादको को यह ज्ञात होने लगा था कि 'पत्र' वही सफलतापूर्वक चल सकता है, जिसकी भाषा मँजी हुई हो, परिनिष्ठित हो और ठेठ खडी-बोली हो।

निष्कर्ष यह कि—

फोर्ट विलियम कालिज, धार्मिक आन्दोलन, स्वतन्त्र-चेता लेखक और पत्र-पत्रिकाओ ने इन पचास वर्षो मे हिन्दी-गद्य का जो निर्माण किया, उसका मूल्य अनुमान से परे है। ये पचास वर्ष रीतिकाल के अन्तिम वर्ष थे। भक्तिकाल से लेकर रीतिकाल के अन्त तक 'ब्रज-भाषा' ही एकमात्र साहित्य-भाषा थी। वह शब्द-चयन, अभिव्यक्ति और अन्य कई बातो मे प्रौढ भी थी। यदि पद्य के साथ-साथ गद्य मे भी 'ब्रजभाषा' की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती तो आज हिन्दी-साहित्य' का इतिहास सम्भवत दूसरे ढग से लिखा जाता। गद्य और पद्य दोनो

स्थानो पर 'ब्रजभाषा' को स्थानान्तरित करना खडीबोली के लिए असम्भव हो जाता। यह भी अच्छा हुआ कि पद्य को न छेडकर खडीबोली ने पहले गद्य मे अपना स्थान बनाया। गद्य मे ब्रजभाषा की पुट मिलाकर लल्लूजीलाल इतने सफल गद्यकार सिद्ध नही हुए, जितने कि इशा अल्लाखाँ—हिन्दवीपन न छोडने की शपथ खाकर—'रानी केतकी की कहानी' लिखकर, गद्यकार के रूप मे सफल हुए। इसी प्रकार फारसी मिश्रित खडीबोली लिखकर राजा शिवप्रसाद, जिनकी चर्चा आगे की जा रही है, अपनी दुर्बलता से स्वय असफल हो गये।

आधुनिक युग के महान् साहित्य-निर्माण का श्रेय इन चालीस-पचास वर्षों मे जुटी अनेक शक्तियो को मिलना चाहिए। यदि इन शक्तियो का आविर्भाव इन वर्षो मे न होता तो हिन्दी-साहित्य का निर्माण ५०–६० वर्ष पीछे जा पडता। अत खडीबोली को गद्य मे लाने, साहित्य-निर्माण के अनुरूप गद्य को ढालने, उर्दू-मिश्रित भाषा का बहिष्कार करने और प्राथमिक वातावरण बनाने के लिए लगभग सवत् १८५० से १९०० तक—इन पचास वर्षो का असाधारण महत्त्व है।

(आ) रीतिकालोत्तरवर्ती निर्माण (स० १९००–१९२५)—

स० १९०० से १९२५ तक जिन गद्य-लेखको ने हिन्दी गद्य-साहित्य के निर्माण मे सहयोग दिया, उनमे से दो व्यक्तियो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तथा राजा लक्ष्मणसिह। इनकी सेवाओ के निर्देश से यह भी स्पष्टत प्रतीत हो जायगा कि उन दिनो खडीबोली न केवल गद्य-साहित्य के लिए उपयुक्त समझी जाने लगी थी, अपितु अब इसके रूप-विधान की भी चर्चा होने लग पडी थी। प्रथम लेखक इसमे अरबी-फारसी शब्दो के प्रयोग के पक्षपाती थे और द्वितीय लेखक सस्कृत के तत्सम शब्दो के। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द

आप उर्दू, फारसी, हिन्दी तथा सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इन्हे अग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान था। हिन्दी-भाषा के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम इन

की नीति यह रही कि ठेठ हिन्दी को अपनाया जाय। इनका 'राजा भोज का सपना' इसी नीति का प्रमाण है। इसके पश्चात् ये कुछ समय तक सस्कृत-मिश्रित भाषा के पक्ष मे भी रहे। 'मानवधर्मसार' नामक कृति मे इन्होने सस्कृत-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया। पर आगे इनकी नीति बदल गई। अब वे हिन्दी को सर्वप्रिय बनाने तथा इसे स्कूलो मे स्थान दिलाने के लिए इसे 'आम फहम' बनाने का प्रचार करने लगे। इसी कारण आप हिन्दी-गद्य मे उर्दू के शब्दो और मुहावरो का प्रयोग यथेष्ट मात्रा मे करने लगे।

सन् १९१३ मे आप शिक्षा-विभाग मे इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उन दिनो हिन्दी मे पाठ्यपुस्तके नही थीं। आपने ३५ पुस्तके स्वयं लिखी तथा दूसरे लोगो से भी कुछ लिखाई। इन पुस्तको की भाषा उर्दू-मिश्रित हिन्दी थी। इन्होने नागरी लिपि मे 'बनारस अखबार' नामक एक पत्र भी निकाला था। इसमे उर्दू-शब्दो की इतनी भरमार होती थी कि इसे 'हिन्दी' कहते हुए सकोच होता है।

राजा साहब अपनी धुन के पक्के तथा अध्यवसायी व्यक्ति थे। वे हिन्दी को शिक्षा-विभाग मे स्थान दिलाना चाहते थे। अपनी भाषा-सम्बन्धी नीति को परिवर्तित कर देने का भी यही कारण था। अन्त मे वे अपने उद्देश्य मे सफल हो गये—हिन्दी को शिक्षा-विभाग मे स्थान मिल गया। इनकी भाषा के दोनों नमूने देखिए—

(क) भोज! मै अभी तेरे पाप कर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता। क्योकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्यकर्म कौन-कौन से किये है कि सर्वशक्तिमान जगदीश्वर सन्तुष्ट होगा।

(ख) यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओ के मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है।

(२) राजा लक्ष्मणसिंह

राजा साहब आगरा-निवासी थे। इनका जन्म स० १८८३ मे हुआ। मातृभाषा से इन्हे बडा प्रेम था, सस्कृत और फारसी का भी अच्छा ज्ञान था। ये ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से उच्च सरकारी पद पर नियुक्त थे। सन् १८५७ के गदर मे अग्रेजो की सहायता करने के पुरस्कार-स्वरूप इन्हे 'राजा' की उपाधि मिली थी। इन्होने सस्कृत के 'मेघदूत', 'रघुवश' और 'शकुन्तला' के हिन्दी-अनुवाद किये। 'दण्ड-सग्रह' नाम से 'ताजीरात-इ-हिन्द' का भी अनुवाद किया। आप शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे और राजा शिवप्रसाद की उर्दूमयी भाषा के घोर विरोधी थे। अपने 'प्रजाहितैषी' पत्र मे आपने सस्कृत-प्रधान शैली का अनुसरण किया। 'शकुन्तला' के अनुवाद ने आपकी प्रसिद्धि मे चार चॉद लगा दिये। इनकी भाषा शुद्ध, सरल तथा सुन्दर है। कही-कही आगरा की बोली का पुट भी विद्यमान है।

इनकी भाषा का नमूना देखिए—

"काव्य—बेटी सुन। जब तू रणवास में वास पावे तब पति का आदर और गुरुजनो की शुश्रूषा करियो। सौतो में सपत्नी भाव से मत रहियो। सहेली की भाँति टहल करियो। कदाचित् पति तिरस्कार भी करें तौ भी उसकी आज्ञा से बाहर मत हूजियो। नौकर-चाकरो को एक-सा समझियो। और अपस्वार्थी मत हूजियो।"

आधुनिक-कालीन हिन्दी-साहित्य का युग-विभाजन

आधुनिक-कालीन साहित्य को सुविधा के लिए तीन प्रधान युगो में विभक्त किया जा सकता है—

(१) भारतेन्दु-युग	सवत् १९२५–१९५०
(२) द्विवेदी-युग	सवत् १९५०–१९७५
(३) प्रसाद-युग तथा प्रसादोत्तर-युग (प्रगति-युग)	सवत् १९७५ से पश्चात्

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि मुख्य प्रवृत्तियो को ही लक्ष्य मे रखकर यह युग-विभाजन किया गया है, अन्यथा एक युग की विशेषताएँ दूसरे युग मे भी परिलक्षित हो जाती है, पर अपेक्षाकृत कम। दूसरी बात यह कि भारतेन्दु, द्विवेदी और प्रसाद इन तीनो व्यक्तियो के नाम पर युगो के नाम देने का कारण यह है कि इनके जीवन-काल मे और इनके कई वर्ष उपरान्त भी हिन्दी-साहित्य का निर्माण थोड़ा-बहुत इन्ही के पथ-प्रदर्शन पर होता रहा है।

भारतेन्दु-युग (सं० १९२५–५०)

भारतेन्दु-युग के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियो का विश्लेषण करते हुए सर्वप्रथम हम देखते हैं कि यह युग हिन्दी-साहित्य के नवीन निर्माण के लिए सक्रान्ति-काल है। इसमे एक ओर पुरानी परम्पराएँ और मान्यताएँ धीरे-धीरे साहित्य-क्षेत्र से विदाई ले रही है, तो दूसरी ओर नवीन प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हो रही है। इस युग मे साहित्य के अनेक नवीन रूप तो प्रकट हुए ही, साथ ही पुराने रूपो मे भी अभिनव विषयो तथा शैलियो का समावेश स्पष्ट दिखाई देने लगा। जैसे कि—भारतेन्दु-युग से पूर्व-साहित्य के मुख्य प्रतिपाद्य विषय थे—भक्ति, शृङ्गार तथा राधा और कृष्ण की प्रणय-लीलाएँ आदि। नायक-नायिकाओ के हावभाव, नखशिख, ऋतुवर्णन, बारहमासा आदि ये सभी शृङ्गार-परक रचनाएँ थी। राम, कृष्ण अथवा रामायण और महाभारत से सम्बद्ध पात्रो के चरित्रो को लेकर प्रबन्धकाव्य भी लिखे जाते थे। कुछ कवियो ने शिवा, छत्रसाल, हम्मीर आदि समसामयिक वीरो की कीर्त्ति-कथा भी कही थी। भारतेन्दु-युग मे ये सभी विषय यथापूर्व चलते ही रहे।

इसके अतिरिक्त समाजसुधार, सगठन, देशभक्ति, स्त्रीशिक्षा, राजनीति, स्वातन्त्र्य-प्रेम, राजभक्ति आदि अनेक नूतन विषय भी कविता के क्षेत्र मे समाविष्ट हो गये। उदाहरणार्थ एक ओर भारतेन्दु-युग के कवि अँग्रेजी-राज्य की महिमा का बखान इस प्रकार करते दिखाई देते है—

ब्रिटिश सुशासित भूमि में आनँद उमगे जात। —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

बद्रीनारायण चौधरी इससे भी आगे बढकर कहते हैं कि—

धन्य तिहारो राज, अरी मेरी महारानी !
सिंह, अजा संग पियत जहाँ एकहि थल पानी ।।
जहँ दिन दुपहर परत रहे डाके नगरन मै ।
तहँ रक्षक निरखियत पथिक जन के हित वन मै ।
जहाँ काफ़िले लूटत रहे सो जतन किये हूं ।
जिन दुरगम थल माँहि गयो कोऊ नहि कबहू ।।

तो दूसरी ओर भारतेन्दु जी स्वय कहते है कि—

अगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेस चलि जात रहै अति ख्वारी ।।
ताहू पै मंहगी काल रोग विस्तारी ।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री !

इस प्रकार राजभक्ति और देशभक्ति—दोनो इस युग मे एक-साथ चलती रही । कवि का मन कुछ निश्चय नही कर पाता प्रतीत होता कि दोनो मे से किसे अन्तिम रूप से अपनाया जाय। इसी प्रकार सामयिक परिस्थिति एक ओर उन्हे तकाजा कर रही थी कि वे हिन्दू-मुस्लिम प्रेम के गीत गाये, दूसरी ओर हिन्दुत्व का पुन प्रबुद्ध अभिमान उन्हे हिन्दू-वीरो के गुणगान के लिए प्रेरित करता था। हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष के कारण देश को जो दुर्दिन देखने पड रहे थे, उसी को लक्ष्य मे रखकर प्रतापनारायण मिश्र ने कहा था—

भाय भाय आपस में लरै,
परदेसिन के पायन परै ।
यहै द्वेष भारत शशि राहु,
घर का भेदिया लङ्का ढाहु ।
भायप तनक परस्पर नहि जहँ,
सरल सनेह न हरि चरनन महँ ।

जगदादास कस होहि न आरज,
निबर की जुरहया कबके सरहज।
प्रीति परस्पर राखहु मीत।
जइहैं सब दुख सहजहि बीत।
नाहि एकता सरिस बल, कोय।
एक एक मिल ग्यारह होय।

इस समय के साहित्य मे आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज सनातनधर्म आदि सस्थाओ द्वारा प्रचारित भावनाएँ भी लक्षित होती है। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि सामाजिक कुप्रथाओ के विरुद्ध भी इस युग के कवियो का ध्यान जाने लगा था। जैसे कि—

हाय, शादी हुई थी
बेहोश मैं जब थी
मैं सोलह बरस की
वह अस्सी बरस के
देख मैं उनको रोती
देख हमको वह हँसते ॥

इस युग की कविता अधिकतर ब्रजभाषा मे ही लिखी जाती रही। पर कलम-आजमाई के लिए कविगरण खडीबोली मे भी कविता लिखने लगे थे, स्वय भारतेन्दु जी ने भी कुछेक पद खडीबोली मे रचे थे।

नाटक-साहित्य—

इस प्रकार 'भारतेन्दु-युग' के पद्य का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् इस युग के नाटको की चर्चा करते है। भारतेन्दु-युग से पूर्व हिन्दी मे नाटको का सर्वथा अभाव था। प्राणचन्द्र चौहान व हृदयराम आदि के जो नाटक उपलब्ध थे, वे एक तो सस्कृत नाटक की छाया-मात्र थे और दूसरे वे पद्यात्मक सवाद ही थे वास्तविक नाटक नही। भारतेन्दु जी ने रूपविधान की दृष्टि से हिन्दी का सबसे पहला नाटक अपने पिता गोपालचन्द्र द्वारा रचित 'नहुष' को माना है। परन्तु वास्तव मे हिन्दी-

नाट्य-साहित्य के प्रवर्त्तक 'भारतेन्दु' जी ही थे। भारतेन्दु तथा उनकी मित्र-मण्डली के लेखको—बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास आदि ने अनेक मौलिक नाटक लिखे तथा सस्कृत, अग्रेजी, बगला भाषाओ के नाटको का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया। ये नाटक भी विविध विषयो को लेकर लिखे गये थे। राजनीति, समाज-सुधार, धर्म, सगठन आदि ऐसा कोई सामाजिक विषय न था, जिसका समावेश इन नाटको मे न हुआ हो। यद्यपि अधिकतर नाटक साधारण कोटि के ही है, तो भी बहुत मे स्थायी साहित्यिक मूल्य के नाटक भी इस युग मे लिखे गये। भारतेन्दु जी के 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी' तथा उन्ही के द्वारा अनूदित नाटक 'मुद्राराक्षस' की गणना स्थायी साहित्य मे की जा सकती है। इस युग मे नाटक केवल लिखे ही नही जाते थे, प्रत्युत उनका अभिनय भी बडी सफलता के साथ किया जाता था। भारतेन्दु जी ने स्वय भी अनेक बार अभिनयो मे सक्रिय भाग लिया था। इस प्रकार हम देखते है कि नाट्य-साहित्य की दृष्टि से यह युग नवीन हिन्दी के लिए आरम्भिक होते हुए भी अत्यन्त उल्लासमय और गौरवशाली रहा।

गद्य-साहित्य—

आख्यायिका, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, जीवन-चरित्र आदि गद्य के विविध रूप भी इस युग मे उद्भूत होने प्रारम्भ हो गये थे। बालकृष्ण भट्ट और बद्रीनारायण चौधरी के निबन्धो की उस समय बडी धूम थी। उस युग मे दैनिक पत्र, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र-पत्रिकाएँ भी खूब चल निकली थी। भारतेन्दु-मण्डली के प्रत्येक लेखक ने कोई-न-कोई पत्रिका भी अवश्य निकाली थी। उनमे से विषय-सामग्री की दृष्टि से भारतेन्दु जी के 'हरिश्चन्द्र मेग्जीन' (हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका) का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। ये सब पत्र-पत्रिकाएँ सोद्देश्य निकाली गई थी। इनका प्रमुख उद्देश्य था—समाज व साहित्य की उन्नति मे सहायता देना।

समालोचना—

समालोचना का सूत्रपात भी इसी युग मे हो गया। लाला श्रीनिवास दास के 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' और 'सयुक्ता स्वयवर' नाटको की विस्तृत तथा तीखी आलोचना 'ब्राह्मण' और 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्र-पत्रिकाओ मे सर्वप्रथम प्रकाशित हुई थी। ये आलोचनाएँ प्राय गुण-दोष-विवेचनात्मक अथवा अधिकतर दोष-दर्शनात्मक ही होती थी।

कथा-साहित्य—

भारतेन्दु-युग मे आजकल की सी छोटी कहानियो का प्रवर्त्तन प्राय. नही हो पाया था। हाँ, छोटे-मोटे मौलिक और अनूदित उपन्यास अवश्य चल निकले थे। वस्तुत उपन्यासो की यह परम्परा भी भारतेन्दु-युग से ही प्रारम्भ हो जाती है। भारतेन्दु ने स्वय 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' नाम मे एक उपन्यास 'कवि-वचन-सुधा' मे प्रकाशित कराना प्रारम्भ किया था, किन्तु वह अपूर्ण ही रह गया। वकिम बाबू के 'राजसिह' का अनुवाद भी उन्होने किया था। भारतेन्दु जी से प्रोत्साहन पाकर राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने अनेक सुन्दर उपन्यास लिखे। किशोरीलाल गोस्वामी को हिन्दी के चरित्र-चित्रणात्मक उपन्यास-साहित्य का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। उन्होने 'उपन्यास' नामक एक पत्र भी निकाला था। गोपालराम गहमरी के घटना-प्रधान उपन्यास भी उसी युग मे चल निकले थे। ये सब उपन्यास नवयुवको की भावनाओ का पूर्ण प्रतिनिधित्व भी करते हैं। इसी प्रकार बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' आदि ऐयारी और तिलस्मी ढग के घटना-प्रधान उपन्यासो ने भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी।

जीवन-चरित्र—

यद्यपि भारतेन्दु-युग से पूर्व 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' (अर्ध-कथानक) आदि के रूप मे जीवन-चरित्र-सम्बन्धी साहित्य थोडा-बहुत उपलब्ध होता है तथापि सुव्यवस्थित जीवनियाँ इसी युग मे ही लिखी

जाने लगी थी। इस युग की जीवनियो मे किम्वदन्तियो पर आधारित प्रशसाएँ पर्याप्त मात्रा मे रहती थी। पहले-पहल पुराने दिव्य व्यक्तियो की जीवनियाँ लिखी गई, फिर बाद मे समसामायिक व्यक्तियो या प्राचीन ऐनिहासिक व्यक्तियो की गवेषणात्मक जीवनियो का उपक्रम भी हो गया।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी-साहित्य के लिए यह युग अत्यन्त उत्साही और उल्लास से पूर्ण था। इस युग मे साहित्य की विविध प्रवृत्तियाँ बडे ही आशापूर्ण भविष्य को लेकर प्रस्फुटित होने लगी, और नवीन युग का श्रीगणेश बडी धूमधाम से हो चला।

समग्र रूप मे भारतेन्दु-युग की विशेषताएँ इस प्रकार है—

(क) पद्य-साहित्य—

१. देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो के अनुकूल नवीन विषयो को कविता मे स्थान दिया गया। वे विषय थे—देशभक्ति, मातृभाषा का उद्धार, समाज-सुधार, अछूतोद्धार, लोकहित की भावना आदि।

२ इस युग मे शृगार तथा भक्ति रस की रचनाएँ भी हुई, पर इनकी अपेक्षा करुण रस तथा हास्य रस की रचनाएँ अधिक हुई। करुण रस की रचनाओ मे देश की परतन्त्रता-जन्य दुर्दशा का चित्र खीचा गया और हास्य रस की रचनाओ मे पुरानी लकीर के फकीर लोगो, नवीन फैशन के गुलामो, नाम और दाम के भूखे देशभक्तो को इस रस का आलम्बन बनाया गया।

३ पिछले तीनो कालो मे प्रकृति को अधिकाशत उद्दीपन विभाव के रूप मे वर्णित किया जाता था, पर इस युग मे इसे आलम्बन विभाव के रूप मे अर्थात् स्वतन्त्र रूप से कविता का विषय बनाया गया।

४. ये कविताएँ व्रज और खडीबोली—दोनो भाषाओ मे लिखी गईं, युग के आरम्भ मे व्रजभाषा मे और अन्त मे खडीबोली मे। मात्रा की दृष्टि से व्रजभाषा का पलडा फिर भी भारी रहा।

५ इस युग मे शैली मे भी यथेष्ट परिवर्तन हुआ। मुक्तक सूक्तियो तथा कथात्मक और वस्तु-वर्णनात्मक प्रबन्धो के स्थान पर पद्यात्मक छोटे-छोटे निबन्धो मे रचनाएँ की गई।

६. इस युग मे छन्द-सम्बन्धी तीन प्रकार की प्रणालियाँ प्रयुक्त की गई—

(क) हिन्दी के पुराने छन्दो—कवित्त-सवैया आदि मे भी रचना की गई तथा नये छन्दो—रोला, झूलना आदि मे भी।

(ख) उर्दू के 'बहर' को भी अपनाया गया।

(ग) लावनी, कजरी आदि राग-रागनियो मे भी कविताएं रची गई।

(ख) गद्य-साहित्य—

१. इस युग मे हिन्दी गद्य-साहित्य का मात्रा और भाषा की स्वच्छता की दृष्टि से जितना सुन्दर निर्माण हुआ उतना इससे पूर्व कभी न हुआ था।

२ गद्य-साहित्य को काव्य के विभिन्न रूपो मे स्थान मिला। उपन्यास, नाटक, इतिहास, निबन्ध, आलोचना, जीवनचरित्र, पत्र-पत्रिकाएँ आदि सभी काव्यरूपो का श्रीगणेश इसी युग मे हो गया। इनमे से नाटक तथा पत्र-पत्रिकाओ की अधिकता इस युग की निजी विशिष्टता है। अकेले भारतेन्दु ने १४ नाटको का प्रणयन तथा अनुवाद किया, और उनके सहयोगियो मे से लगभग सभी लेखक अपनी पत्र-पत्रिका लेकर ही साहित्यिक क्षेत्र मे अवतरित हुए।

३ भारतेन्दु के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए भी इस युग के प्रत्येक लेखक की शैली पर उसके निजी व्यक्तित्व की छाप स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

निष्कर्ष यह कि भारतेन्दु-युगीन साहित्य अपने समग्र रूप मे प्राचीनता तथा नवीनता का विचित्र मिश्रण होते हुए भी नवीनता की ओर अधिक झुका हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे यह पहला युग है, जिसमे साहित्य का सम्बन्ध जनसाधारण के साथ सर्वप्रथम

स्थापित हुआ है। इन्ही दो प्रमुख प्रवृत्तियो के बल पर यह युग आगामी काव्य-रूपो तथा विचारधारा के लिए प्रबल पृष्ठाधार का काम करता है। इस युग के साहित्य-सेवियो मे से कुछ के नाम ये है—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास, भीमसेन शर्मा, तोताराम आदि।

इनके अतिरिक्त आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द भी इस युग की उपज है, जिन्होने भारतेन्दु से नितान्त अप्रभावित रहकर हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास मे सक्रिय सहयोग प्रदान किया। इनमे कुछेक लेखको का परिचय लीजिए—

भारतेन्दु-युग के लेखक

(१) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जीवन—वर्तमान हिन्दी-युग के प्रतिष्ठापक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म सवत् १६०७ मे काशी के प्रसिद्ध वैश्य-वश मे हुआ। उनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था। वह वैष्णव थे और ब्रजभाषा मे 'गिरधर-दास' उपनाम से कविता करते थे। उन्होने ८० ग्रन्थ लिखे थे। जिनमे से अनेक अप्राप्य हैं। परन्तु जो प्राप्य है, उनमे काव्य-कौशल की अनुपम छटा दिखाई देती है। ऐसे लब्ध-प्रतिष्ठ कवि के पुत्र भारतेन्दु भी बडे प्रतिभासम्पन्न बालक थे। बचपन मे बडे नटखट थे। परन्तु दुर्भाग्य से पॉच वर्ष की अल्पावस्था मे ही वह मातृ-स्नेह से वचित हो गये। ६ वर्ष की अवस्था मे ही पिता भी उन्हे अकेला छोडकर परलोक सिधारे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। हिन्दी तथा अग्रेजी पढाने के लिए शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू भी एक मौलवी पढाने आते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह क्वीन्स कॉलेज मे प्रविष्ट हुए, पर उनका वहाँ जी न लगा। कविता करने की ओर दिन-प्रतिदिन उनकी अभिरुचि बढती जा रही थी। कविता-निर्माण के अकुर तो इनमे पॉच वर्ष की आयु मे ही दिखलाई देने लगे थे, जब इन्होने निम्न दोहा

बनाया था—

लै ब्यौंड़ा ठाडे भए, श्री अनिरुद्ध सुजान ।
बानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान ।।

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् आप तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पडे। इस तीर्थ-यात्रा से जहाँ आपको अन्य लाभ हुए, वहाँ मराठी गुजराती, बगला आदि प्रान्तीय भाषाओ का ज्ञान भी अनायास प्राप्त हो गया।

भारतेन्दु वास्तव मे एक अत्यन्त उदार-प्रकृति और शाही तबीयत के कलाकार थे। देश, जाति, राष्ट्र, समाज, साहित्य और कला के लिए आपका कोष सदा उन्मुक्त था। जिस बात की धुन लग गई उसके लिए पैसे की कमी का प्रश्न कभी नही आ सकता था। आपने अपनी लाखो की सम्पत्ति अपनी बात पर ही लुटा दी। पैंतीस वर्ष की छोटी-सी अवस्था मे हिन्दी के लिए जैसी महत्त्वपूर्ण सेवा आपने की, वैसी सम्भवत अन्य किसी ने भी नही की होगी। भारतेन्दु जी के लिए निस्सकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी को नव-जीवन देने के लिए ये एक युग-पुरुष के रूप मे अवतीर्ण हुए, और वे हिन्दी के लिए जीवित रहे।

हिन्दी-सेवा—भारतेन्दु जी ने हिन्दी के प्रचार तथा हिन्दी-साहित्य के निर्माण के लिए अनेक उपाय और प्रयत्न किये, जिनमे से निम्न-लिखित मुख्य है—

(१) **हाई स्कूल की स्थापना**—भारतेन्दु जी ने काशी मे हरिश्चन्द्र हाई स्कूल' के नाम से एक विद्यालय की स्थापना की, जिसमे शिक्षा नि शुल्क थी, तथा छात्रो को पुस्तके आदि भी बिना-मूल्य मिलती थी।

(२) **पत्र-पत्रिकाएँ**—भारतेन्दु जी ने अनेक पत्र-पत्रिकाओ का प्रकाशन किया, जिनमे 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' उल्लेखनीय है। यही 'मैगजीन' आगे चलकर 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।

(३) **नाट्य-समितियाँ**—हिन्दी के रगमच को पुनर्जीवित करने के लिए उन्होने एक 'हिन्दी नाटक-मण्डली' की स्थापना की। यह मण्डली भारतेन्दु के लिखे अनेक नाटको का सुन्दर अभिनय प्रस्तुत किया करती

थी। स्वय भारतेन्दु जी भी इस मण्डली मे सक्रिय भाग लेते थे।

(४) **कलाकारो का निर्माण**—भारतेन्दु जी ने जहाँ स्वय बहुत-कुछ लिखा, वहाँ अनेक कलाकारो को भी प्रोत्साहित किया। हिन्दी-साहित्य मे भारतेन्दु-मण्डली एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रताप-नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहनसिह, श्रीनिवासदास आदि अनेक उत्कृष्ट कलाकार भारतेन्दु-मण्डली के अन्तर्गत हिन्दी की सेवा मे लगे थे।

(५) **नाटक-निर्माण**—भारतेन्दु जी से पूर्व हिन्दी मे नाटक का अभाव-सा था। 'हनुमन्नाटक', 'देवमाया-प्रपच नाटक' 'आनन्द-रघुनन्दन नाटक' आदि कई नाटक थे अवश्य, परन्तु वास्तव मे ये नाटक न होकर पद्यात्मक सवाद ही थे। भारतेन्दु जी ने 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी' और 'अन्धेर नगरी' आदि नाटको का निर्माण करके हिन्दी मे नाटक-परम्परा को प्रचलित किया।

हिन्दी के प्रचार एव प्रसार के अतिरिक्त भारतेन्दु ने सुधार-कार्य भी बडे मनोयोग से किया। उन्होने अपनी पत्र-पत्रिकाओ तथा पुस्तको मे सामाजिक कुरीनियो और रूढियो पर बडे तीखे और गहरे व्यग्य किये। साहित्यकार होने के साथ-साथ भारतेन्दु सच्चे देशभक्त भी थे। देश की पराधीनता तथा तज्जन्य दुर्दशा को देखकर उनका हृदय रो उठता था। उनके हृदय का यह क्रन्दन—

आवहु रोवहु मिलि कै सब भारत भाई,
हा ! हा ! भारत दुर्दशा देखि न जाई।

—आदि पदो मे व्यक्त हुआ है।

रचनाएँ—भारतेन्दु जी की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ व्यापक थी और इस कारण उनकी रचनाएँ इतनी अधिक है कि उन्हे देखकर उनकी अपूर्व प्रतिभा, उनके अध्यवसाय और और हिन्दी-सेवा की अटूट लगन पर विस्मय होता है। १६-१७ वर्ष के अल्प साहित्यिक जीवन मे हिन्दी-साहित्य को जो अनुपम रत्न आपने भेट किये, वे गुणोत्कर्ष की दृष्टि

से तो बहुमूल्य हैं ही, परिमाण की दृष्टि से भी इतने अधिक हैं कि केवल उनके नाम गिनाने के लिये ही अत्यधिक स्थान चाहिये। उनकी रचनाएँ नाटक, काव्य, इतिहास, निबन्ध और आख्यान के रूप मे मिलती है।

१—नाटक—उनके मौलिक नाटक ६ हैं —

(१) सत्य हरिश्चन्द्र (२) चन्द्रावली (३) भारत-दुर्दशा (४) नीलदेवी (५) अन्धेरनगरी (६) वैदिक हिंसा हिंसा न भवति (७) विषस्य विषमौषधम् (८) सती प्रताप (९) प्रेम योगिनी। इनमे से अंतिम दो अपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त (१) मुद्राराक्षस (२) धनञ्जय-विजय (३) रत्नावली नाटिका (४) कर्पूर-मंजरी (५) विद्या-सुन्दर (६) भारत-जननी (७) पाखण्ड-विडम्बन (८) दुर्लभ बन्धु अनूदित नाटक हैं। इनमें मे प्रथम तीन संस्कृत के अनुवाद हैं। चौथा प्राकृत का अनुवाद तथा पाँचवाँ, छठा और सातवाँ बंगला से अनुवाद किये गये हैं। अंतिम नाटक अंग्रेजी नाटक का अपूर्ण अनुवाद है।

२—इतिहास आदि विविध विषयों पर भी भारतेन्दु जी ने गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे। कश्मीर-कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, अग्रवालों की उत्पत्ति, दिल्ली-दरबार-दर्पण आदि उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं।

३—नाटक-साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी अत्यन्त विस्तृत है। उनके भक्ति सम्बन्धी ४१ ग्रन्थ मिलते हैं। छोटे-छोटे ग्रन्थ होने पर भी ये सब भक्ति-साधना से पूर्ण हैं। उनके शृङ्गार-सम्बन्धी पद्य भी कम नहीं हैं। होली, मधुकुल, प्रेम फुलवारी, सतसई आदि उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। विजयिनी-विजय, वैजयन्ती, भारत-वीणा, सुमनाञ्जली उनकी राष्ट्रिय एवं राजभक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं।

४—निबन्ध और आख्यान भी भारतेन्दु जी के लिखे हुए मिलते हैं, पर उनमे से अधिकतर अपूर्ण हैं। सुलोचना, मदालसा और लीलावती उनके लिखे प्रसिद्ध आख्यान हैं। परिहास पंचक इनका हास्य-रस-सम्बन्धी लेख है। 'परिहासिनी' मे छोटे-मोटे हास्य-लेख हैं।

भाषा-शैली—भारतेन्दु की भापा के सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि भारतेन्दु का उदय हिन्दी-साहित्य मे ऐसे समय मे हुआ जब राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मणसिह का हिन्दी-खडीबोली के स्वरूप के सम्बन्ध मे द्वन्द्व चल रहा था। भारतेन्दु ने राजाद्वय की परस्पर-विरोधिनी शैलियो मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होने बोल-चाल की भापा को अपना लक्ष्य बनाया, जिसमे तद्भव रूपो का ही विशेष प्रयोग किया। साथ ही देशज शब्दो और मुहावरो को भी स्थान दिया तथा सस्कृत के सरल, सुबोध और लोक-प्रचलित शब्दो को भी अपनाया। इनकी दो शैलियाँ है—

१. भावात्मक शैली—इस शैली मे उन्होने साधारण और सरल विपयो पर लिखा।

२ वर्णनात्मक शैली—इस शैली मे उन्होने ऐतिहासिक और विवेचनात्मक विषयो पर लिखा।

ब्रजभाषा के अतिरिक्त काव्यक्षेत्र मे उन्होने खडीबोली का भी सफल प्रयोग किया है।

भारतेन्दु की इस साधना का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-साहित्य जो अब तक जन-जीवन से विमुख होकर चल रहा था, अब रीतिकालीन रूढियो की सीमाओ से दूर हटकर नवीन चेतना का सशक्त अकन करने मे समर्थ होने लगा। विज्ञान, इतिहास, गणित, राजनीति, गवेषणा आदि नये-नये गम्भीर विषयो की ओर हिन्दी-साहित्यकारो की लेखनी उन्मुख हुई। भारतेन्दु ने अपने चारो ओर लेखको का ऐसा मण्डल तैयार कर लिया था कि जिसने हिन्दी-साहित्य के इस नवीन रूप को आगे बढाने मे युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया। यही कारण है कि भारतेन्दु हिन्दी के पिता माने जाते हैं।

(२) प्रतापनारायण मिश्र

प० प्रतापनारायण मिश्र के पिता श्री सकटाप्रसाद बैसे गाँव (जिला उन्नाव) के सनाढ्य ब्राह्मण थे और अपने स्थान से कानपुर

आकर बस गये थे। यहीं प्रतापनारायण का जन्म सं० १९१३ मे हुआ। बालक प्रतापनारायण को स्कूल मे पढ़ने के लिए भेजा गया; पर इनका वहाँ मन नही लगा। १९ वर्ष की अवस्था मे उन्होने स्कूल का परित्याग कर दिया। इनका अँग्रेजी-ज्ञान तो साधारण था, पर इन्होने घर में ही फारसी, सस्कृत, उर्दू और हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

इनका व्यक्तित्व बडा विलक्षण था। ये गोरे रग के दुबले-पतले शरीर के थे। ये बडे ही मनमौजी और स्वतन्त्र प्रकृति के थे। इनके स्वभाव मे विनोद-प्रियता का स्थान मुख्य है। किसी-न-किसी बात मे ये अपनी विनोदपूर्ण युक्ति या उक्ति निकाल ही लेते थे, उदाहरणार्थ 'ब्राह्मण' पत्रिका के लिए अपने ग्राहक से चन्दा वसूल करते समय भी वे व्यग्य-विनोद को नही भूले थे, यथा—

चार महीने हो चुके ब्राह्मण की सुधि लेव।
गगा माई जै करे तुरत दक्षिणा देव॥
जो बिनु मांगे दीजिए दुहु दिसि होय अनन्द।
तुम निश्चिन्त हो हम करे मांगन की सौगन्ध॥

'ब्राह्मण-पत्रिका' मे यद्यपि देश-दशा, समाज-सुधार, हिन्दी-प्रचार प्रभृति अनेक विषय रहते थे, तथापि उनके शीर्षक मनमौजी तबीयत के सूचक प्रतीत होते हैं, जैसे—बूरै क लत्ता बिनै कनातन कै ढोल बाँधै, समझदार की मौत, वृद्ध, भौ आदि।

इनकी गद्य-पद्य-बद्ध रचनाओ और नाटको के नाम ये है—'कलि-कौतुक रूपक', 'कलि-प्रभाव-नाटक', 'हठी हम्मीर', 'गो-सकट', 'जुआरी-खुआरी', 'प्रेम पुष्पावली', 'मन की लहर', 'शृगार-विलास', 'दगल-खण्डन', 'लोकोक्ति-शतक', 'तृप्यन्ताम्', 'ब्रैडला स्वागत', 'शैव-सर्वस्व', 'प्रताप-सग्रह', 'रसखान-शतक', 'मानस-विनोद' आदि। इन ग्रन्थो से ये सभी विषयो के लेखक सिद्ध होते है। इनके नाटक रगमच का ध्यान

रखकर लिखे गये प्रतीत होते हैं। ये अभिनय-विद्या मे भी पारगत थे। सफल अभिनेता होने के कारण ये मचोपयोगी नाटक लिखने मे अधिक कृतकार्य हुए।

निबन्ध-लेखक के रूप मे इनका नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इनकी लेखन-प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग से बाहर नही जाती, फिर भी किन्ही दिशाओ मे अपने निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व के कारण इनकी युग से भिन्नता भी स्पष्ट लक्षित होती है—इनकी भाषा सजीव, चुस्त और गुरगुराने वाली है। नमूना देखिए—

"सच है, 'सब ते भले है मूढ़ जिन्है न व्यापै जगतगति'। मज़े से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियो से गप मारा करना, जो कोई तिथ-त्योहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना, गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेतमेंत में धरममूरत धरमऔतार का खिताब पाना; संसार परमार्थ दोनो तो बन गए, अब काहे की है है और काहे की खै खै।"

प्रतापनारायण की कविता इनकी रगीली तबीयत को प्रकट करती है। एक नमूना देखिए—

तब लखि हौ जहँ रह्यौ एक दिन कचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥
जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालै।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहिं पालै॥
नोन तेल लकड़ी घासहुँ पर टिकस लगै जहँ।
चना चिरौंजी मौल मिलै जहँ दीन प्रजा कहँ॥
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे है जहँ रिन भारन।
तहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारन॥

(३) बालकृष्ण भट्ट

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के महारथी बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में

स० १६०१ मे और परलोकनिवास स० १६७१ मे हुआ।

भट्ट जी ने स० १६३३ मे एक पत्रिका 'हिन्दी-प्रदीप' निकाली। इस पत्रिका ने हिन्दी-गद्य के निर्माण मे महान् योग दिया। यद्यपि भट्ट जी के गद्य मे पूरबीपन की छाप है, अंग्रेजी और फारसी के शब्दो का खुला प्रयोग हुआ है, तथापि उसके भावी व्यावहारिक स्वरूप का निर्धारण भी बहुत-कुछ भट्ट जी की लेखनी द्वारा ही हुआ।

भट्ट जी भी प्रतापनारायण की तरह व्यग्यपूर्ण और मुहावरेदार भाषा लिखना पसन्द करते थे, पर उनमे कही-कही कडवापन मात्रा से अधिक हो जाता था। इनके शीर्षक भी प्रतापनारायण के शीर्षको की तरह अधिकतर छोटे होते थे, जैसे—आँख, नाक, कान, बातचीत आदि। इनके वाक्य लम्बे और अनूठे होते थे। गद्य का नमूना देखिए—

इधर पचास-साठ वर्षों से अंग्रेजी राज्य के अमनचैन फायदा पाय हमारे देश वाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का व्याह कर पहले से ड्योढ़ी-दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जनसंख्या अवश्य घटनी चाहिए।

निबन्धो के अतिरिक्त भट्ट जी ने कतिपय नाटक भी लिखे हैं—'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बालविवाह नाटक' और 'चन्द्रसेन' नाटक। माईकेल मधुसूदनदत्त के दो नाटको—'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा'—के अनुवाद भी आपने किये थे।

गद्यकार और नाटककार के अतिरिक्त आपको आलोचक भी कहा जाता है। लाला श्रीनिवासदास कृत 'सयोगिता-स्वयवर' पर इनकी लिखी आलोचना 'हिन्दी-प्रदीप' मे प्रकाशित हुई थी।

(४) उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

'प्रेमघन' के पिता मिर्जापूर के रहने वाले सरयूपारीण ब्राह्मण थे और बहुत बडी जमीदारी के मालिक थे। प्रेमघन का जन्म स० १६१२ मे हुआ और निधन स० १६७६ मे।

'प्रेमघन' भारतेन्दु के मित्र थे और उन जैसी वेशभूषा भी रखा करते

थे। गद्य-निर्माण मे भारतेन्दु के बाद आपका ही स्थान है। प्रतापनारायण तथा भट्टजी के निबन्ध उनके विनोदप्रिय स्वभाव के परिचायक है और 'प्रेमघन' के निबन्ध निश्चित शैली और सीमित मान्यताओ के द्योतक हैं। 'कला को कला के लिए' मानने वालो मे आपको भी गिनना चाहिए। लगभग इसी सिद्धान्त को आप 'कलम की कारीगरी' कहा करते थे। आपके वाक्य लम्बे, अनूठे, सानुप्रास और वक्र होते थे। साधारण ढग से लिखना तो मानो आपको आता ही न था। एक लेख लिखकर बार-बार उसे काट-छाँट कर माँजने की आदत से कई बार आपके लेख बड़ी मुद्दत तक पड़े रहते। 'अनुप्रास' को आपकी भाषा का प्राण मानना चाहिए। आचार्य शुक्ल के लिखे नोट मे सशोधन करते हुए भी वे अनुप्रास को नही भूले, देखिए—

दोनों दलो की दलाद्दली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।

इनकी भाषा का एक और नमूना लीजिए—

दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े-बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' पहाड़ धकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है, कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेलपेल और कभी उस पर सुख की कुलेल है।

इन्होने 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक पत्रिका भी निकाली थी। निबधो के अतिरिक्त प्रेमघन जी ने नाटक भी लिखे है, यथा—'भारत-सौभाग्य', 'प्रयागरामागन', 'वाराङ्गना-रहस्य' आदि। पहला नाटक काग्रेस की स्थापना के उल्लास मे लिखा गया था। इसमे अनेक प्रान्तो के अनेक पात्र है।

'आनन्द-कादम्बिनी' मे लाला श्रीनिवास कृत नाटक की आलोचना भी छपी थी। इस आलोचना मे दोषदर्शन का प्रयास ही अधिक है। एक नमूना देखिए—

नाटक के प्रबंध का कुछ कहना ही नहीं, एक गंवार भी जानता

होगा कि स्थानपरिवर्तन के कारण गर्भाङ्क की आवश्यकता होती है। अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी पर्दे के बदलने को दूसरा गर्भाङ्क मानते हैं, सो आपने एक ही गर्भाङ्क में तीन स्थान बदल डाले हैं।

प्रेमघन जी व्रजभाषा के सरस कवि भी थे। वे स० १९६९ मे कलकत्ता मे हुए साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी चुने गये थे। भारतेन्दु जैसी भावुकता और मस्ती भी आप मे थी। 'प्रेमघन सर्वस्व' मे इनकी रचना का सकलन किया गया है। कविता का नमूना देखिए—

बगियान बसंत बसेरो कियो बसिये तेहि त्यागि तपाइये ना।
दिन काम कुतूहल के जे बने तिन बीच बियोग बुलाइये ना॥
'प्रेमघन' बढाय कै प्रेम अहो बिथा बारि वृथा बरसाइये ना।
चितै चैत की चाँदनी चाहभरी चरचा चलिबे की चलाइये ना॥

(५) स्वामी दयानन्द सरस्वती

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवर्त्तित आर्यसमाज की सेवाओ का उल्लेख हम पीछे यथास्थान कर आये हैं। भारतेन्दु से नितान्त अप्रभावित रहकर इन्होने हिन्दी-प्रचार मे पूर्ण योग दिया।

आपका जन्म गुजरात के शैव ब्राह्मण-परिवार मे हुआ। आपने मथुरा मे रहकर स्वामी विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त की। आर्य-धर्म के पुनर्घटन के हेतु आपने ब्रह्मचर्य से सीधा सन्यास ले लिया था। जब आपने पहले-पहल व्याख्यान देने आरम्भ किये तो सस्कृत मे प्रवचन करते थे, परन्तु कलकत्ता के केशवचन्द्र सेन तथा भूदेव मुकर्जी के सत्परामर्श से स्वामी जी हिन्दी-क्षेत्र मे उतरे। यह लिखने की आवश्यकता नही कि आपका हिन्दी-क्षेत्र मे आना एक क्रान्तिपूर्ण ऐतिहासिक घटना सिद्ध हुआ। आपने सवत् १९२० मे बम्बई मे आर्यसमाज की स्थापना की और आर्यसमाज ने हिन्दी-प्रचार व हिन्दी-रक्षा का व्रत धारण कर लिया। पजाब मे जो आज हिन्दी का स्वर सुनाई पडता है, वह सब आर्यसमाज के सुप्रयास का ही सुफल है। आज भारत के प्रत्येक भाग

मे डी० ए० वी० सस्थाएँ और गुरुकुल हिन्दी का जो प्रचार एव प्रसार कर रहे हैं उसका मूलश्रेय स्वामी जी को ही है।

स्वामी जी की लिखी रचनाएँ ये हैं—'सत्यार्थप्रकाश', 'सस्कारविधि', 'ऋग्वेदादि भाग्य-भूमिका', 'गोकरुणानिधि', 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' आदि। इनके अतिरिक्त इन्होने सम्पूर्ण यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के कुछ भाग का भी हिन्दी मे अनुवाद प्रस्तुत किया था। गुजराती होते हुए भी स्वामी जी ने अपने ग्रन्थ हिन्दी मे ही लिखे। हिन्दी को उन्होने 'आर्य-भाषा' नाम देकर एक तो उन्होने इसके गौरव मे वृद्धि की और दूसरे इसे प्रकारान्तर से सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा के रूप मे घोषित किया। उनकी रचना का एक नमूना देखिए—

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण करने वाले विषयो में प्रवृत्त करती है उनको रोकने में प्रयत्न करे जैसे घोड़े को सारथी रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है। इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्म-मार्ग से हटा के धर्म-मार्ग में सदा चलाया करें।

(६) श्रद्धाराम फिल्लौरी

प० श्रद्धाराम फिल्लौरी का जन्म आश्विन शुक्ल प्रतिपदा सवत् १९८७ मे हुआ। आपके पिता प० जयदयालु जोशी तथा माता विष्णु-देवी फिल्लौर (जिला जालन्धर) मे रहते थे और यजमानी वृत्ति करते थे। श्रद्धाराम अपने बहिन-भाइयो मे दसवे थे। इनसे पहले छ भाई मर चुके थे और सातवाँ भाई छोटी अवस्था मे कनफटा योगी बन गया था। एक बहिन वैधव्य का भार उठाये घर मे रहती थी। प० जयदयालु सारस्वत व्याकरण के ज्ञाता और सगीत विद्या मे असाधारण दक्षता रखते थे। पण्डितजी एक भण्डारी नामक क्षत्रिय यजमान के यहाँ यज्ञ करा रहे थे कि श्रद्धाराम बालक के जन्म का समाचार मिला और उसी समय नक्षत्र शोधकर पिता ने भविष्यवाणी की कि—"मेरा यह अन्तिम पुत्र हस्ति-आरूढ, राजमान्य, सर्वसम्पत्तियुक्त, भाग्यशूर और पण्डितसभा का रत्न होगा। परन्तु मुझ पिता के भाग्य मे इसका ऐश्वर्य देखना नही

है।" और कहते हैं कि यह भविष्यवाणी अक्षरश सत्य सिद्ध हुई।

बालक श्रद्धाराम बडा नटखट और रगीन तबीयत का था। 'बैंत' (उर्दू-छन्द) बनाने की प्रवृत्ति तो इनमे बचपन मे ही जागृति हो गई थी। पजाब मे कही 'बैंतो' का मुशायरा होता तो बालक श्रद्धाराम वही उपस्थित हो जाता। श्रद्धाराम ने सनातन धर्म तथा साहित्य की यथेष्ट सेवा की।

आपके जीवन की दो महान् घटनाएँ हैं—कपूरथला-नरेश रणवीरसिंह को ईसाई धर्म मे दीक्षित होने से बचाना और स्वामी दयानन्द जी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारना।

श्रद्धाराम सस्कृत, हिन्दी, उर्दू और पजाबी के असाधारण विद्वान् थे। पजाब के हिन्दी-क्षेत्र मे आपका जो स्थान है, वही स्थान आपका पजाबी-क्षेत्र मे भी है।

आपकी रचनाएँ ये है—'शतोपदेश', 'सत्यामृतप्रवाह', 'भाग्यवती', 'सिखाँ दे राज दी विथिया' आदि। आपके दो ग्रन्थ 'गीत-सग्रह' और 'आत्मकथा' अनुपलब्ध है। कहते है कि—'ओ३म् जय जगदीश हरे' नामक प्रसिद्ध भजन आपका ही रचा हुआ है। इनकी रचना का नमूना देखिए—

"हरिज्ञान मन्दिर फुल्लौर की ओर से विज्ञापन

बहुत काल से जो इस देश में से वेदो का पठन-पाठन दूर हो गया है कि जिसके दूर होने से धर्म में हानि होती जाती है। इस कारण संवत् १९३७ फाल्गुन की पूर्णमासी के दिन इस मन्दिर में एक पाठशाला नियत की गई है, जहाँ विद्यार्थियो को चारो वेद पढ़ाये जाते है और अन्नादि सेवा भी होती है। प्रकट है कि ऐसे कामो का स्थिर रहना जो बहुत-से धर्मात्मा लोगो की सहायता पर निर्भर रखना है। अतः विदित किया जाता है कि सब लोग इस पाठशाला को यथाशक्ति सहायता दे के अपने अन्य मित्रो को भी प्रेरणा करें कि जिसके समान कोई पुण्य नहीं।

विदित रहे कि यह सहायता जो केवल एक बार ही माँगी गई है फिर नित्य नही माँगी जावेगी, इस हेतु से पाँच रुपये से न्यून चन्दा देना

श्रेष्ठ नहीं होगा। जो लोग दूर से चन्दा भेजना चाहे वे मेरे नाम डाकखाने का मनीआर्डर भेजें।"

—प० श्रद्धाराम फिल्लौरी

द्विवेदी-युग

(सं० १९५०–१९७५)

भारतेन्दु-युग के समाप्त होते ही हिन्दी साहित्य ने फिर करवट ली, अब उसकी वह बाल-सुलभ चचलता व विमोहकता धीरे-धीरे लुप्त होने लगी। उसका स्थान अनुशासन, गाम्भीर्य तथा तत्त्वचितन लेने लगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-भार स्वीकार करते ही हिन्दी-साहित्य को एक नई दिशा की ओर मोड दिया और उसे नवीन अभिव्यक्ति एव अभिनव स्फूर्ति प्रदान की। यही कारण है कि इस युग को उनके नाम पर 'द्विवेदी-युग' से अभिहित किया जाता है।

इस युग की महत्त्वपूर्ण घटना है—खडीबोली मे पद्य-रचना का सफलता-पूर्वक प्रयोग। पिछली तीन-चार दशाब्दियो से हिन्दी-साहित्य की भाषा मे दो पृथक् रूपो का प्रयोग होता चला आ रहा था—भारतेन्दु-युग मे गद्य खडीबोली मे और पद्य अधिकतर ब्रजभाषा मे ही लिखा जाता रहा था। पिछले युग के दोनो प्रतिनिधि लेखको—राजा लक्ष्मणसिह तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ने अपने नाटको का गद्याश तो खडीबोली मे लिखा और पद्याश ब्रज-भाषा मे, यह विषम-स्थिति सर्वथा अस्वाभाविक तो थी ही, असह्य भी थी। किसी साहित्य के लिए एक साथ दो भाषाओ का प्रयोग श्रेयस्कर एव हितकर नही होता। पर इस युग मे आकर यह वैषम्य लगभग दूर हो गया और खडीबोली मे भी अधिकाश कवियो ने पद्य-रचना प्रारम्भ कर दी। निस्सन्देह यह सब अनायास नही हो गया था। ब्रजभाषा और खडीबोली के समर्थको ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिए पूर्ण जोर लगा दिया। यह आन्दोलन लगभग भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होकर द्विवेदी-युग तक चला आया। द्विवेदी-युग की विशिष्टताओ

पर प्रकाश डालने से पूर्व इस आन्दोलन की गतिविधि पर प्रकाश डालना अप्रासगिक न होगा ।

खडीबोली-आन्दोलन—

पद्य-क्षेत्र मे भी खडीबोली के प्रयोग की चर्चा जब प्रारम्भ मे चलती थी, तो यह कुछ अस्वाभाविक एव उपहासप्रद-सी प्रतीत होती थी, क्योकि उस युग की स्थिति को देखते हुए ब्रजभाषा के भी अपने गुण थे—एक तो वह युगो से काव्य-क्षेत्र मे रूढ चली आती थी । कान ब्रजभाषा के इतने अभ्यासी हो गये थे मानो वे दूसरी भाषा सुनने को तैयार ही नही थे । दूसरा—ब्रजभाषा मे पद्यगत सुकुमार भावो के वहन करने की क्षमता थी, पर अपनी स्वाभाविक कर्कशता के कारण खडीबोली उस समय पद्य के उपयुक्त नही समझी जाती थी । तीसरा—सगीत के लिए ब्रजभाषा मे जितनी माधुरी है, उतनी माधुरी खडीबोली मे नही है । अत शुरू-शुरू मे ऐसी प्रथा रही कि पद्य ब्रजभाषा मे निर्मित होता रहा और गद्य खडी-बोली मे । परन्तु परिवर्तनशील परिस्थितियो ने इस दशा को यथाशीघ्र बदल दिया ।

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस नई दिशा मे नया प्रयोग करके नया अनुभव करना चाहा । १ सितम्बर, १८८१ ई० मे उन्होने खडीबोली मे कविता रची—

गरमी के आगम दिखलाए रात लगी घटने ।
कुहू कुहू कोयल पेडो पर बैठ लगी रटने ।।
ठडा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई ।
सरस सुगन्ध सिरिस फूलों की कोसो तक छाई ।।
उपवन में कचनार बनो में टेसू है फूले ।
मदमाते भौंरे फूलो पर फिरते है भूले ।।

और 'भारत मित्र' को प्रकाशनार्थ भेजी तथा एक पत्र भी लिखा—

प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है, देखिएगा इसमे क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर

बन सकता है। ·· ··मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ, और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ।

स्पष्ट है कि इस पत्र मे भारतेन्दु जी ने अपनी कठिनाई छिपा के नही रखी और न ही वे आत्म-विश्वासपूर्वक खडीबोली मे कविता करने का साहस ही कर सके। भारतेन्दु के निधन तक खडीबोली मे कविता करने की विशेष चर्चा नही चली। उनके निधन (स० १६३२) के दो वर्ष बाद बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खडीबोली' के पक्ष मे विधिवत् आन्दोलन चला दिया। इस सम्बन्ध मे दो दल बन गये। एक दल ने खडीबोली की वकालत पूरी योग्यता से की, इस दल मे थे—अयोध्याप्रसाद खत्री, बालमुकुन्द गुप्त, मि० फैड्रिक पिकाट और श्रीधर पाठक। दूसरे दल ने ब्रजभाषा की रक्षा के लिए यथासम्भव सभी उपाय बर्ते, इस दल मे थे—राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' सर जार्ज ग्रियर्सन और बालकृष्ण भट्ट। ब्रजभाषा के पक्षपातियो ने अपनी धारणा के सम्बन्ध मे ये तर्क दिये—

(क) जब भारतेन्दु जी खडीबोली मे सफल काव्यरचना नही कर सके तो खडीबोली मे काव्यनिर्माण का प्रयत्न व्यर्थ है।

(ख) पिगलशास्त्र के किसी विधान पर खडीबोली ठीक नही बैठती।

(ग) खडीबोली एक गँवारू बोली है।

(घ) खडीबोली मे कविता करने की चेष्टा की गई तो इससे उर्दू का ही प्रचार बढेगा।

(ङ) खडीबोली के प्रचार से ब्रज-साहित्य जैसा अमूल्य रत्न-भण्डार हमसे छिन जायगा।

खडीबोली के समर्थको ने इन तर्को का उत्तर इस प्रकार दिया—

(क) भारतेन्दु बाबू की असफलता एव असमर्थता को सारे राष्ट्र की असफलता एव असमर्थता मान लेना समुचित नही है।

(ख) खडीबोली मे सभी छन्दो मे रचना की जा सकती है। किसी भाषा को छन्दो के अनुपयुक्त बतलाना कवि की अपनी अक्षमता का

सूचक है, भाषा की अशक्तता का नही ।

(ग) ब्रजभाषा एक सीमित क्षेत्र की भाषा है, वह एक गँवारू बोली हो सकती है, पर जो भाषा (खडीबोली) कई प्रान्तो मे बोली जाय, वह गँवारू कैसे हो सकती है ?

(घ) हिन्दी के प्रहरी सचेत रहेगे तो उर्दू घुसने नही पायेगी ।

(ङ) गद्य और पद्य मे दो विभिन्न भाषाओ के प्रयोग से साहित्यिक प्रगति मे बाधा पडती है । अपनी चरम समुन्नति के बाद अब ब्रजभाषा के विश्राम लेने का समय आ गया है ।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रथम युग मे खडीबोली और ब्रजभाषा के समर्थको के मध्य केवल विवाद ही चलता रहा, विशेष रचनात्मक कार्य न हुआ । यद्यपि ब्रजभाषा के घोर पक्षपातियो मे से कुछेक ने खडीबोली मे काव्य-रचना का प्रयोग करके देख लिया था, जैसे—बदरीनारायण चौधरी ने 'कजली-कादबिनी' (१८९७ ई०) और 'आनन्द, अरुणोदय' लिखा । अबिकादत्त व्यास ने 'कसवध', और प्रतापनारायण मिश्र ने 'सगीत-शाकुन्तल' आदि-आदि, परन्तु खडीबोली के समर्थको मे से केवल श्रीधर पाठक ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होने खडीबोली मे काव्य-रचना की । फिर भी प्रथम युग मे खडीबोली के पक्ष मे वातावरण का निर्माण होना प्रारम्भ हो गया था, यह कम सन्तोष की बात नही है ।

दूसरे युग मे दोनो दलो मे अनेक नये साथी आ मिले । ब्रजभाषा के पक्षपाती दल मे जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू जगन्नाथ रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न आदि का नाम उल्लेखनीय है और खडीबोली के पक्षपाती दल मे महावीरप्रसाद द्विवेदी, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि का । दूसरे दल वालो मे द्विवेदीजी को इनका 'अग्रणी' कहना अनुचित न होगा । इस युग में भी तर्कों और वितर्कों से काम लिया गया, पर वे सब के सब वही प्रथम युग के ही थे । उनमे विशेष नवीनता न थी । पर इधर अब खडीबोली के पक्षपाती ब्रजभाषा-वादियो की इन आपत्तियो का उत्तर रचनात्मक ढग से देने लगे—

१ ब्रजभाषावादियो की पहली आपत्ति यह थी कि खडीबोली में अच्छी कविता नही की जा सकती; इसका रचनात्मक उत्तर दिया बाबू बालमुकुन्द गुप्त मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी ने। इनकी कृतियाँ उस समय इतनी लोकप्रिय हुई कि साहित्यिको को विश्वास हो गया कि खडीबोली का भविष्य उज्ज्वल है।

२. पूर्व पक्ष की दूसरी आपत्ति यह थी कि इसमे कोमलकान्त पदावली तथा सुकुमार भावनाओ का अभाव है, इसका रचनात्मक उत्तर दिया गोपालशरणसिह 'नेपाली' ने, जिनकी रचनाएँ माधुर्य और कोमलकान्त पदावली मे उस समय बेजोड समझी जाती थी।

३ पूर्व पक्ष की तीसरी और अन्तिम आपत्ति यह थी कि इसमे महाकाव्य, सगीतकाव्य और अन्य काव्यरूप सफलतापूर्वक नही लिखे जा सकते। इसका उत्तर दिया अयोध्यासिंह उपाध्याय ने, जिनका रचा 'प्रिय प्रवास' खडीबोली का प्रथम महाकाव्य माना गया। इधर कुछेक छायावादी कवियो ने सगीत-काव्य की भी सृष्टि कर इस त्रुटि को भी पूर्ण कर दिया।

द्वितीय युग के प्रारम्भ मे कुछेक कवि ऐसे भी थे, जो ब्रजभाषा का पक्ष ले रहे थे; पर जब उन्होने देखा कि खडीबोली मे कविता चल निकली है, तो वे भी खडीबोली मे काव्य-निर्माण करने लगे। इस प्रसग मे अयोध्यासिह उपाध्याय, नाथूराम शकर, भगवानदीन और रूपनारायण पाण्डेय के नाम लिये जा सकते हैं।

सारांश यह कि—

ब्रजभाषा के पक्षपातियो की सख्या उत्तरोत्तर कम होती गई और खडीबोली के पक्षपातियो की सख्या उत्तरोत्तर बढती गई। पूर्व पक्ष केवल तर्क और वादविवाद का सहारा लेकर ब्रजभाषा को जीवित रखना चाहता था, और दूसरा पक्ष वादविवाद के व्यर्थ मार्ग से निकलकर रचनात्मक कार्यों द्वारा अपना नवीन मार्ग प्रशस्त करने मे लग गया। समय ने और जनता की माग ने भी साथ दिया और खडीबोली की जय सर्वत्र गूँज उठी, और आगे चलकर बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री का

स्वप्न प्रसाद और महादेवी वर्मा ने तथा पत और निराला आदि ने पूर्ण कर दिया।

उक्त आन्दोलन पर प्रकाश डालने का उद्देश्य केवल इतना है कि पाठक भारतेन्दु-युग के उपरान्त द्विवेदी-युग मे खडीबोली का पद्य-काव्य मे निश्शक प्रयोग देखकर चकित न हो जाय—वह उसे अनायास एव आकस्मिक घटना न समझ ले।

भाषा-संस्कार—

द्विवेदी-युग की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना है—भाषा का सस्कार। खडी-बोली के आन्दोलन-स्वरूप इस युग मे खडीबोली को काव्य-क्षेत्र मे स्थान तो मिल गया था, पर अभी उसे परिष्कृत करने की आवश्यकता बनी हुई थी, जिसे द्विवेदीजी ने पूर्ण किया। इन्होने अँग्रेज़ी तथा उर्दू पढे-लिखे लोगो को हिन्दी मे लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके वाक्य-विन्यास को शुद्ध किया। व्याकरण-सम्बन्धी शिथिलताओ को दूर किया। विभक्तियो के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किये। इस प्रकार भाषा की स्थिरता मे उनके प्रयत्न हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के लिए वरदान सिद्ध हुए, और खडीबोली गद्य और पद्य दोनो क्षेत्रो मे धीरे-धीरे व्यवस्थित, स्वच्छ एव परिपक्व रूप धारण करती चली गई।

वर्ण्य-विषय—

द्विवेदीजी स्वय एक कवि, सफल समालोचक और निबन्धकार थे। उनका प्रभाव समकालीन लेखको पर भी पडा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उन दिनो हिन्दी पढने वालो की सख्या भी बढ चली थी और उनमें अन्य काव्याङ्गो की अपेक्षा कथा-साहित्य पढने मे ही अधिक रुचि थी। अत इस काल मे उपन्यासो का निर्माण अन्य प्रकार की रचनाओ की अपेक्षा सर्वाधिक बढा। अँग्रेज़ी तथा बगला के उपन्यासो का अनुवाद भी हुआ तथा कतिपय मौलिक उपन्यासो का निर्माण भी। इसी प्रकार कहानी के आधुनिक रूप का सूत्रपात भी इसी युग से ही हो गया। इस युग के साहित्य का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

पद्य-साहित्य—

द्विवेद-युगीन पद्य-साहित्य वर्ण्य विषय की दृष्टि से यद्यपि भारतेन्दु-युग से चली आ रही धारा का ही एक रूप है, पर इसे नवीन रूप मे विकसित करने का श्रेय इस युग को ही है। देश-प्रेम, जन्मभूमि के प्रति प्रेम, भारत के अतीत का गौरव-गान, पीडितो के प्रति सहानुभूति, स्त्री-पुरुष की समानता आदि विषय, जिन पर इस युग मे कविता की गई, निस्सन्देह अब अछूते नही रह गये थे, पर इन्हे परिष्कृत एव स्वच्छ रूप इस युग से ही मिलना प्रारम्भ हुआ।

द्विवेदी-कालीन अधिकाश कविता शृङ्गार-मुक्त है। रीतिकालीन शृङ्गार-रस का एकाध छीटा भारतेन्दु-युग को सिक्त अवश्य कर जाता था, पर इस युग मे द्विवेदीजी के उज्ज्वल तथा आदर्श व्यक्तित्व के कारण शृङ्गार को उच्छृङ्खलता एव अश्लीलता समझकर इसे कविता का विषय प्राय नही बनाया गया। इसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज जैसी सस्थाओ के प्रभावस्वरूप सयम एव सात्त्विकतापूर्ण जीवन व्यतीत करने का प्रभाव उस युग पर पडना आरम्भ हो गया था, और इसी विचारधारा ने ही कविता को शृङ्गार-रस-वर्णन से बचाये रखा।

द्विवेदी-युगीन पद्य की दो अन्य विशेषताएँ भी उल्लेखनीय है—प्रकृति-चित्रण और प्रबन्धकाव्यात्मकता। प्रथम का सम्बन्ध इसके आन्तरिक पक्ष से है और दूसरे का बाह्य पक्ष से।

प्रकृति-चित्रण—

भारतेन्दु-युग मे किसी भी कवि का ध्यान प्रकृति की ओर नही गया था। या तो उन्होने प्रकृति-चित्रण किया ही नही, या जो कुछ किया भी तो वह बँधी-बँधाई परम्परा के अनुसार। उसमे उस युग की कवियो का कवियो की न अपनी अनुभूति दिखाई देती है और न अभिव्यक्ति। वस्तुत उस युग के कवियो का मन मानव के बाह्य व्यापारो के वर्णन और चित्रण में ही अधिक रमता था इसीलिए वे सब कुछ छोडकर कहते है कि—

धोवत सुन्दरी वदन करन अति ही छवि पावत,
वारिधि नाते शशि कलक मनु कमल मिटावत ।

किन्तु द्विवेदी-युग मे आकर कविगण का ध्यान प्रकृति के यथातथ्य चित्रण की ओर गया । उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' और गुप्त जी के 'साकेत' के अनेक प्रसग तो प्रकृति-वर्णन से परिपूर्ण हैं ही, साथ ही रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न', 'पथिक' और 'मिलन' आदि खण्ड-काव्यो मे भी नदी, पर्वत, समुद्र आदि के दृश्य अत्यन्त मनोमोहक रूप मे अकित हुए हैं । इन दृश्यो मे भी कही-कही प्राचीन परम्परा का परिपालन परिलक्षित हो जाता है, पर उनका पृष्ठाधार मानव-मन ही है, न कि बाह्य वस्तु-विधान ।

भारतेन्दु-युग मे खडीबोली की कविता तो थी नही, ब्रजभाषा मे भी उस युग के कवियो ने केवल मुक्तक पद ही लिखे थे । वास्तव मे वे अपनी पूरी शक्ति के साथ गद्य और नाटक के प्रतिष्ठापन के लिए ही प्रयत्नशील रहे थे, पद्य उनके लिए गौण काव्य-रूप रहा था । किन्तु इस युग मे आकर गद्य के साथ पद्य की भी जब पुन प्रतिष्ठा हुई तो कलाकारो का ध्यान मुक्तक के साथ-साथ प्रबन्ध-काव्यो की ओर भी गया, या यूँ कहे कि खडी-बोली का पद्य प्रबन्ध-काव्य के रूप मे ही प्रतिष्ठित होना प्रारम्भ हुआ । 'पचवटी', 'जयद्रथवध', 'रग मे भग', 'सैरन्ध्री' आदि अनेक छोटे-बडे खण्ड-काव्यो तथा 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' जैसे महाकाव्यो का निर्माण इस तथ्य का प्रमाण है ।

इस युग की एक अन्य निजी विशेषता है—विविध छन्दो का प्रयोग । इस कविता मे हिन्दी के मात्रिक छन्दो के अतिरिक्त न केवल सस्कृत के वर्णिक छन्दो को स्थान मिला, अपितु उनकी अतुकान्त शैली भी अपनाई गई । ब्रजभाषा मे शताब्दियो से प्रचलित कवित्त-सवैया का भी खड़ीबोली मे प्रयोग किया जाने लगा । इधर श्रीधर पाठक आदि ने उर्दू छन्दो को भी अपनी कुछेक कविताओ का माध्यम बनाया ।

इस युग की कविताओ की एक अन्य विशेषता यह है कि इनकी

शैली अधिकाशत गद्यात्मक है। सम्भवत इसका कारण यह है कि सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग इस युग की कविता मे अपेक्षाकृत अधिक होना आरम्भ हो गया था और किन्ही स्थलो मे यह प्रवृत्ति इतनी अधिक दिखाई देती है कि वह हिन्दी के रूप को भी खो बैठी है, तथा गद्यमय बन गई है। उदाहरणार्थ अयोध्यासिह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' की यह पक्ति देखिए—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय-कलिका-राकेन्दु-बिम्बानना।

भाव-निर्वहण की दृष्टि से इस युग की कविताएँ इतिवृत्तात्मक मानी जाती है। कल्पना की उडानो का अधिक आश्रय लिये बिना यथातथ्य रूप मे किसी वस्तु-विषय का वर्णन करना 'इतिवृत्तात्मकता' कहाता है। इसकी प्रतिक्रिया आगे चलकर प्रसाद-युग मे हुई। छायावाद-सम्बन्धी कविता-निर्माण का एक कारण इसी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया भी है।

गद्य-साहित्य—

द्विवेदी-युग मे गद्य-साहित्य का यथोचित विकास हुआ। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक, आलोचना, जीवन-चरित्र आदि साहित्य की सभी विधाओ मे यथेष्ट प्रगति होती रही।

कहानी—यूँ तो द्विवेदी-युग के प्रारम्भ से लगभग सौ वर्ष पूर्व इन्शा अल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' नामक एक रचना लिखी है, पर वह नाम की ही कहानी थी। वस्तुत वह कहानी न होकर एक छोटा-सा उपन्यास था। वास्तव मे हिन्दी-कहानी का प्रारम्भ स० १९५७ से होता है; जबकि किशोरीलाल गोस्वामी की पहली कहानी 'इन्दुमती' सब से पहले 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् अनेक और कहानियाँ अनूदित और रूपान्तरित रूप मे 'सरस्वती' मे प्रकाशित होती रही। बग महिला द्वारा लिखित 'दुलाई वाली' सरस्वती, मई १९०७ (स० १९६२) मे प्रकाशित कहानी इस युग की प्रथम विशिष्ट कहानी है।

सवत् १९६८ और १९६९ मे 'इन्दु' पत्र मे प्रसाद जी की 'ग्राम' और 'रसिया बालम' शीर्षक कहानियाँ प्रकाशित हुई थी। कथानक की

दृष्टि से हिन्दी कहानी-साहित्य प्रारम्भ मे ही यथार्थवादी और आदर्शवादी—इन दो पृथक् विचार-धाराओ मे बह निकला। प्रेमचन्द सुदर्शन आदि लेखक अपनी कहानियो मे जीवन के यथार्थ चित्र अकित करते रहे। वे अपने आसपास जैसा समाज देखते उसी को कहानियो मे चित्रित कर देते। इसके विपरीत प्रसाद जी तथा चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' आदि कलाकार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे ऐसी कहानियाँ लिखने लगे, जिनका सम्बन्ध आदर्श से अधिक रहता था। ये सभी कहानियाँ इन पाँच भागो मे बँट सकती हैं—

१ चरित-प्रधान, २ वातावरण-प्रधान, ३ कथानक-प्रधान, ४ कार्य-प्रधान, ५ विविध।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कहानी-साहित्य आयु मे सबसे छोटा होते हुए भी द्विवेदी-युग से ही विस्तृत और लोकप्रिय अग बनने लग गया। इसी युग मे उत्कृष्ट बीसियो कहानीकार अपनी कहानियो के द्वारा साहित्य-भण्डार को समृद्ध बनाने लगे।

उपन्यास—भारतेन्दु-युग मे उपन्यासो की परम्परा भली भाँति चल पडी थी। किशोरीलाल गोस्वामी ने चरित-प्रधान अनेक उपन्यास लिख डाले थे। फिर भी उनमे समाज की समस्याओ का सजीव चित्रण नही हो पाया था। उनमे व्यक्ति के प्रति सहानुभूति तो थी, पर समष्टि के प्रति नही। अब आवश्यकता थी ऐसे उपन्यासो की, जो सम्पूर्ण समाज की या वर्ग-विशेष की भावनाओ का प्रतिनिधित्व कर सके। विशेषत. नारी तथा अन्य दलित-वर्ग के प्रति सच्ची सहानुभूति दिखाने वाले तथा पीडित किसानो का करुण-क्रदन सुनने और सुनाने वाले उपन्यासो और उपन्यासकारो के लिए समाज लालायित था। समय की यह माँग द्विवेदी-युग मे ही प्रेमचन्द के 'सेवासदन', 'रगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासो के द्वारा पूर्ण हुई।

नाटक—इस युग मे नाटक के क्षेत्र मे कोई विशेष प्रगति नही हो पाई। बगला सस्कृत और अग्रेजी के प्रसिद्ध नाटको के हिन्दी-अनुवाद

धडाधड प्रकाशित होने लगे। बदरीनाथ भट्ट आदि नाटककारो ने कुछेक मौलिक नाटक भी लिखे, पर इनके नाटको मे साहित्यिक गाम्भीर्य के स्थान पर पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो के लिए लिखे जाने वाले उर्दू-नाटको के समान संवादो का ही प्राधान्य है। यद्यपि मैथिलीशरण गुप्त कवि के रूप मे ही विख्यात हैं, पर नाटको के अकाल के उस युग मे उन्होने 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' आदि नाटक देकर तात्कालिक नाटक-साहित्य की वृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योग दिया।

निबन्ध और समालोचना—इस युग मे निबन्ध और समालोचना के क्षेत्र मे विशेष प्रगति हुई। द्विवेदी जी स्वय उत्कृष्ट निबन्धकार थे; आलोचनाएँ भी उन्होने खूब लिखी। यद्यपि उनकी आलोचनाएँ अधिकतर परिचयात्मक और गुण-दोष-विवेचनात्मक ही रहती थी। पर इस काव्याङ्ग को सर्वप्रथम प्रशस्त मार्ग पर चलाने का श्रेय उन्ही को ही है। द्विवेदी जी के अतिरिक्त पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास आदि सत्समालोचको ने अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसी समय कार्य आरम्भ कर दिया था। उक्त सभी आलोचक निबन्धकार भी थे। इनके अतिरिक्त उत्कृष्ट निबन्धकार अध्यापक पूर्णसिंह भी इसी युग की उपज हैं।

निष्कर्ष रूप में इस युग की विशेषताएँ इस प्रकार है—

१. पद्य-क्षेत्र में खडीबोली को स्थान,

२. भाषा का व्याकरण-सम्मत परिष्कार,

३. प्रबन्ध-काव्यो के निर्माण का आरम्भ,

४. विविध छन्दो का प्रयोग,

५ शृगार-रस का प्राय बहिष्कार,

६ भारतेन्दु-युगीन वर्ण्य-विषय का विकास,

७. काव्य-शैली मे गद्यात्मकता तथा भाव-निर्वहण मे इतिवृत्तात्मकता,

८ कहानी और उपन्यास का यथेष्ट विकास; नाटको का निर्माण कम, आलोचना एव निबन्ध-साहित्य के आरम्भ द्वारा प्रशस्त मार्ग-प्रदर्शन।

इस युग के विशिष्ट लेखक ये हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, नाथूराम शकर, रामनरेश त्रिपाठी, देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, मिश्रबन्धु, जगन्नाथदास रत्नाकर, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, चन्द्रधर गुलेरी, पूर्णसिंह, सीताराम, पद्मसिह शर्मा, श्यामसुन्दरदास मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द और गुलाबराय। इनमे से अन्तिम चार लेखको का परिचय हम प्रसाद-युग मे प्रस्तुत कर रहे हैं, और शेष लेखको मे से तेरह का इसी प्रसंग मे।

(१) महावीरप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी का जन्म दौलतपुर जिला रायबरेली मे सवत् १९२७ मे और देहान्त सवत् १९९५ मे हुआ। अपने ग्राम मे हिन्दी-सस्कृत और उर्दू की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् रायबरेली हाई स्कूल मे उन्होने अग्रेजी व अरबी-फारसी पढी। बम्बई मे रहकर मराठी और गुजराती आदि भाषाओ की भी अभिज्ञता प्राप्त की। तारबाबू टेलीग्राफ-इन्स्पैक्टर आदि पदो पर कार्य करने के पश्चात् ऑफीसर से झडप हो जाने के कारण नौकरी छोडकर घर चले आये। सवत् १९६० मे आपने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार सँभाला। इस काल मे आपकी साहित्यिक प्रतिभा चमक उठी। तब से लेकर मृत्युपर्यन्त आप हिन्दी-भाषा के सस्कार और इसकी साहित्यवृद्धि मे सलग्न रहे।

भारतेन्दु-युग गद्य का प्रयोग-काल होने के कारण स्वच्छन्दता का युग था। उस युग की खडीबोली व्याकरण-सस्कार से हीन थी। उसमे परिमार्जन और शुद्धता की कमी थी। इस कमी की ओर सर्वप्रथम महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान गया। हरिश्चन्द्र-युग की खडीबोली केवल बोली या लोक-भाषा न रहकर अब वह गद्य-साहित्य मे विधिपूर्वक प्रयुक्त होने लगी थी, पर पद्य मे अभी उसका प्रवेश नही होने पाया था। भारतेन्दु-काल की यह परिस्थिति अस्वाभाविक-सी थी कि गद्य मे एक भाषा का और पद्य मे दूसरी भाषा का प्रयोग हो इसलिए अब द्विवेदी-युग मे पद्य मे भी खडीबोली का प्रयोग अपरिहार्य प्रतीत

होने लगा था। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु तथा उनकी मण्डली की कृपा से हिन्दी के पाठक तो असख्य हो गये, पर उक्त मण्डली के पश्चात् लेखको का अभाव-सा दिखाई देने लगा। जो इने-गिने लेखक साहित्यिक क्षेत्र मे आये भी, उनके सामने भाषा के ऊबड-खाबड प्रयोग थे। 'बडे बडे पुस्तक छपे', 'आशा किया' आदि च्युत-सस्कृत तथा अनेक प्रान्तीय प्रयोग हिन्दी मे घुसे चले आ रहे थे। इन सब अव्यवस्थाओ को समाप्त करके खडीबोली मे पद्य की प्रतिष्ठा तथा सुनिश्चित शैलियो के आविष्कार की आवश्यकता का अनुभव उस युग के कवियो को होने लगा। ऐसी परिस्थिति मे द्विवेदी जी ने साहित्य-संसार मे उपस्थित होकर उन सभी समस्याओ का समाधान करने का भार अपने कन्धो पर ले लिया।

उस समय के सामान्य शिक्षित तथा लेखक-वर्ग को अग्रेजी और बगला आदि दूसरी भाषाओ के साहित्य ने अधिक प्रभावित कर रखा था और लोग उन्ही भाषाओ मे लिखने मे ही गौरव समझते थे। उन्हे अपनी भापा मे लिखना-लिखाना अप्रिय तथा अस्वाभाविक-सा लगता था। द्विवेदी जी ने प्रशस्त कार्य यह किया कि ऐसे लेखको को हिन्दी लिखने के लिए प्रेरित किया, उनका उत्साह बढाया और इस प्रकार उर्दू, अग्रेजी, बंगला आदि मे लिखने वाले अनेक लेखको को हिन्दी-साहित्य मे ला बैठाया। इन्ही नवागन्तुको मे से कई लेखको ने हिन्दी-साहित्य-भण्डार को अमूल्य रत्नो से भर दिया है। मुन्शी प्रेमचन्द और महाशय सुदर्शन सरीखे अनेक लेखक उर्दू को सहसा तिलाञ्जलि देकर हिन्दी के ही बन बैठे। द्विवेदी जी के प्रोत्साहन ने उन्हे अच्छा कलाकार बना दिया। राष्ट्र के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त भी द्विवेदी जी की छत्रछाया तले रहकर ही इतने उत्कृष्ट कलाकार बन पाये। इस बात का उन्होने स्वय 'साकेत' मे सकेत किया है—

करते तुलसी भी कैसे मानस नाद।
महावीर का यदि उन्हे मिलता नहीं प्रसाद॥

भाषा-सस्कार के लिए उन्होने अनेक प्रयत्न व उपाय किये। सरस्वती

मे प्रकाशित होने वाले प्रत्येक लेख को वे स्वय शुद्ध कर सजाते सँवारते, और लेखको को भविष्य मे वैसे ही सुसस्कृत रूप मे लिखने के लिए सावधान करते। व्याकरण-सम्बन्धी विविध लेख उन्होने स्वय लिखे और दूसरो से भी लेख तथा पुस्तके लिखवाई। व्याकरण-सम्बन्धी प्रत्येक छोटी-बडी बात को लेकर पर्याप्त चर्चाएँ इस समय चली। विभक्तियो को शब्द मे पृथक् या साथ रखने के सम्बन्ध मे भी विचार हुआ। पण्डित कामताप्रसाद गुरु ने इसी समय अपना प्रसिद्ध प्रामाणिक व्याकरण लिखा था। इस प्रकार द्विवेदी जी ने भाषा का सस्कार किया और कराया। प्रान्तीय पदावली के प्रयोग को, जो भाषा मे बलात् आता जा रहा था, उन्होने सर्वथा समाप्त कर दिया। द्विवेदी जी ने विषयानुकूल व्यग्यात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक शैलियो का भी निर्धारण किया। हिन्दी की गद्य-शैली को उन्नत करने के लिए अग्रेजी-साहित्य की स्पष्ट-भाव-व्यजकता, बगला की सरलता और मधुरता मराठी की गम्भीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया गया।

खडीबोली पद्य के तो वे प्रथम प्रवर्त्तक माने जाते है। इनसे पूर्व पाठक जी के अतिरिक्त अन्य किसी लेखक ने पद्य मे खडीबोली का प्रयोग प्राय नही किया था।

द्विवेदी जी ने साहित्य के वर्ण्य-विषय को भी नवीन रूप मे ढाला। उन्होने प्रेम की प्राचीन परिपाटी का परित्याग कर स्वदेशानुराग आदि की सात्विक प्रवृत्तियो का प्रचार किया। गुप्त जी की 'भारतभारती', रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न', 'पथिक', 'मिलन' आदि काव्य इसी प्रवृत्ति के परिचायक है।

इस प्रकार भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियो से द्विवेदी जी ने साहित्य को नवीन रूप, अभिनव चेतना और स्वच्छता प्रदान की। इनके साथ ही द्विवेदी जी ने स्वय भी बड़े भारी साहित्य का निर्माण किया। सैकडो छोटे-बडे निबन्धो, लेखो, पद्यो के अतिरिक्त इन्होने लगभग ४० ग्रन्थ लिखे अथवा अनूदित किये। कालिदास के 'रघुवश' और 'कुमारसम्भव'

के पद्यात्मक अनुवाद तथा महाभारत का सक्षिप्त गद्यानुवाद इनकी सुप्रसिद्ध रचनाएँ है। इनका अनूदित पद्य भी मौलिक-जैसा मधुर एव उत्कृष्ट काव्य का उदाहरण है। इनकी इतिवृत्तात्मक-कविता का एक नमूना देखिए—

मूल्यवान मंजुल शय्या पर पहले निशा बिताता था,
सुयश और मगल गीतो से प्रात जगाया जाता था।
वही आज तू, कुश-काशो से युक्त भूमि पर सोता है,
श्रुति कर्कश शृगाल-शब्दो से हा हा निद्रा खोता है॥

इनके महाभारत की भाषा-शैली ही को प्राय सभी भावी लेखको ने आदर्श रूप मे स्वीकार किया। इनके गद्य का एक निदर्शन देखिए—

"इस म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन जिमे अब लोग कुरसीमैन कहने लगे है श्रीमान् बूचाशाह है। बाप-दादे की कमाई का लाखो रुपया आपके घर भरा पडा है। पढे-लिखे आप राम का नाम ही है। चेयरमैन सिर्फ इसलिए हुए कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदो से आठ पहर चौसठ घडी घिरे रहे। म्यूनिसिपैलिटी का काम चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मैम्बर बाबू बख्शीराम—आपके साले साहब ने फी रुपया तीन-चार पसेरी का भूसा म्यूनिसिपैलिटी को देने का ठेका लिया है। आपका पिछला बिल दस हजार रुपये का था। पर कूडागाडी के बैलो और भैसो के बदन पर सिवा हड्डी के मास नजर नही आता। सफाई के इन्स्पैक्टर हैं लाला सतगुरुदास, आपकी इन्स्पैक्टरी के जमाने मे हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण मेहतर लोग तीन दफे हडताल कर चुके है।"

इस प्रकार भाषा का सस्कार, खडीबोली मे पद्य का प्रचार, नवीन विषय-शैली का आविष्कार और साहित्य-क्षेत्र मे नवीन कलाकारों का सत्कार कर द्विवेदीजी ने 'आचार्य' पद पर प्रतिष्ठित होने का पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। वे आधुनिक हिन्दी-जगत् के सचमुच पितामह थे।

(२) बालमुकुन्द गुप्त

श्री गुप्त जी उर्दू से हिन्दी-जगत् मे प्रविष्ट हुए। सबसे पहले आपने कलकत्ता से 'बगवासी' का सम्पादन किया। वे 'भारतमित्र' पत्रिका के भी सम्पादक रहे। इनका 'शिवशम्भु का चिट्ठा' हास्य और व्यग्यात्मक शैली मे अनूठी रचना है। इनका हास्य बहुत शिष्ट होता था और व्यग्य बडा चुटीला। इन्होने तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक विषयो पर मार्मिक लेख लिखे। आपके लिखे निबन्धो का संग्रह 'गुप्त-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है, और 'गुप्त-ग्रन्थावली' मे आपकी सभी रचनाओ का सकलन है। इनकी भाषा मे प्रवाह है। ये अपनी व्यग्यमय शैली, मार्मिकता और लाक्षणिकता के कारण चिरस्मरणीय रहेगे। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

"शर्मा जी महाराज बूटी की धुन मे लगे हुए थे। सिलबट्टे मे भग रगडी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारगियाँ छील-छीलकर रस निकाला जाता था। इतने मे देखा कि बादल उमड रहे है। चीले नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर घटा बहार मे बहार।"

(३) श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक खडीबोली के प्रथम सफल कवि माने जाते है। आप प्रकृति के उपासक कवि है। 'काश्मीर-सुषमा' मे प्रकृति आपकी लेखनी पर नृत्य करती-सी मालूम पडती है। इनकी कोमल-कान्त पदावली पढकर मन-मयूर नाच उठता है। 'श्रान्त पथिक', 'ऊजड ग्राम', 'एकान्त-वासी योगी' नाम से आपने गोल्डस्मिथ की रचनाओ का हिन्दी-पद्य मे अनुवाद किया। मौलिक कविताएँ भी लिखी। 'भारत गीत' मे आपके राष्ट्रिय गीत सगृहीत है। हिन्दी-जगत् को इनकी एक अन्य देन है—स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्त्तन। खडीबोली की कविता मे देश-प्रेम, राष्ट्रिय गौरव, प्रकृति-प्रेम आदि नये-नये विषयो को नवीन शैली मे सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय इन्ही को है।

(१)

वन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हो,
बांधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हो।
निन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अज्ञानी हो,
सब प्रकार परतन्त्र पराई प्रभुता के अभिमानी हो॥

(२)

प्रकृति यहाँ एकात बैठि निज रूप सँवारति।
पलपल पलटति भेस छनिक छबि छिनछिन धारति॥
विमल अंबुसर मुकुरन महँ मुख बिब निहारति।
अपनी छबि पै मोहि आप ही तनमन वारति॥
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर।
यहि अमरन को ओक यही कहुँ बसत पुरदर॥

(४) नाथूराम शर्मा शकर

प० नाथूराम शकर का जन्म स० १९१६ मे हरदुआगज (अलीगढ) मे हुआ। इन्होने खडीबोली और ब्रज दोनो मे कविताएँ लिखी। यद्यपि इन कविताओ मे उपदेशात्मकता अधिक मात्रा मे है, पर इनकी शैली मे एक सरस प्रवाह है और पाठको के मन को आकृष्ट करने की अपूर्व शक्ति है, जिससे पाठक कभी ऊवता नही। मौज मे आकर ये कभी-कभी उर्दू में भी रचनाएँ किया करते थे। इन्होने कुछ श्रृङ्गार-पूर्ण कविताएँ भी लिखी है। 'शकर-सर्वस्व' नाम से इनका 'बृहत् काव्यसग्रह' प्रकाशित हो चुका है। इनकी रचना का एक नमूना देखिए—

(१)

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि
श्याम घन मंडल मे दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंग में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।

शंकर कसौटी पर कचन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिए में तीर मारा है।
काली पाटियो के बीच मोहिनी की मांग है कि
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है।।

(२)

बुढ़ापा नातवानी ला रहा है !
जमाना ज़िन्दगी का जा रहा है !
किया क्या खाक ? आगे क्या करेगा ?
अखीरी वक्त दौड़ा आ रहा है।

(५) रामनरेश त्रिपाठी

श्री त्रिपाठी जी का जन्म स० १६४६ मे हुआ। 'मिलन, 'पथिक', 'स्वप्न' इनके ये तीन खण्ड-काव्य हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। ये मर्मस्पर्शी रचनाएँ हैं। आपकी कृतियाँ देश-प्रेम से ओत-प्रोत होती है। आपकी ख्याति 'कविता-कौमुदी' नामक सग्रह से भी है जिसके सात खण्डो मे आपने प्राचीन और आधुनिक हिन्दी कविता के अतिरिक्त उर्दू और बँगला कविताओ का भी सग्रह किया है। इन खण्डो के भूमिका-भाग मे साहित्य का ऐतिहासिक परिचय भी एक महत्त्वपूर्ण अग है। इधर लोकगीतो मे भी आपकी विशेष रुचि है। 'कविता-कौमुदी' का एक भाग लोक-गीतो से सम्बद्ध है। इनकी रचना का एक नमूना लीजिए—

घोर निशीथ, गँभीर तमावृत, शांत दिशा, आकाश,
नीरव तारागण करते थे झिलमिल अल्प प्रकाश।
प्रकृति मौन, सचराचर निद्रित, अति निस्तब्ध समीर,
जागृत वन में लता-विनिर्मित केवल एक कुटीर।।

(६) जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जगन्नाथदास रत्नाकर का जन्म अग्रवाल वैश्य पुरुषोत्तमदास के घर स० १६२३ मे हुआ था। आप दिल्ली के रहने वाले थे। रत्नाकर जी ने फारसी की विशेष शिक्षा पाई थी। भारी-भरकम शरीरधारी रत्नाकर जी

अत्यन्त विनोदी, हँसमुख, मिलनसार और मनमौजी कवि थे। रईसी ठाठ से रहना इन्हे अधिक पसन्द था। ये पहले उर्दू मे कविता किया करते थे और बाद मे हिन्दी मे कविता करने लगे।

रत्नाकर जी व्रजभाषा के कट्टर पक्षपाती थे। व्रजभाषा के आधुनिक उच्च कोटि के कवियो मे आपका नाम अग्रगण्य है। आपकी रचना-शैली मतिराम, पद्माकर, देव और सेनापति की रचना-शैली जैसी है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपने 'पद्माकर' कवि का विशेष अनुसरण किया है।

रत्नाकर जी की रचनाएँ ये हैं—'हिडोला',' 'समालोचनादर्श', 'साहित्य-रत्नाकर', 'हरिश्चन्द्र', 'गगावतरण', 'शृङ्गारलहरी', 'रत्नाष्टक', 'वीराष्टक' और 'उद्धवशतक'। इनमे 'गगावतरण' तथा 'उद्धवशतक' उत्कृष्ट रचनाएँ है।

रत्नाकर जी की सम्पादित रचनाएँ ये है—'हम्मीर हठ' (चन्द्रशेखर वाजपेयी), 'हिततरगिणी' (कृपाराम), 'कठाभरण' (दूलह कवि) और 'बिहारी-सतसई' (बिहारी कवि)। 'बिहारी-सतसई' की अनेक टीकाओ मे आपकी लिखी टीका सर्वश्रेष्ठ एव प्रामाणिक समझी जाती है।

आपका निधन हरिद्वार मे २१ जून, १९३२ को हुआ था।

रचना की एक बानगी देखिए—

बिरह ब्यथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जौ प्रबीन सुकबीन सो।
कहै 'रतनाकर' बुझावन लगे ज्यों कान्ह
ऊधौ को कहन हेत ब्रज जुवतीन सो॥
गहवरि आयो गरो भभरि अचानक त्यों
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीन सो।
नेकु कही बैननि अनेक कही सैननि सों
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सों॥

(७) गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' जी का जन्म सवत् १६४० मे प० अवसेरीलाल के घर हुआ। इनकी प्राथमिक शिक्षा उर्दू मे हुई अग्रिम शिक्षा भी उर्दू मे हुई, अत इनका काव्योन्मेष भी उर्दू मे हुआ। स० १६७१ से 'कृषक-क्रन्दन' लिखकर इन्होने हिन्दी-क्षेत्र मे प्रवेश किया।

'सनेही' जी की भाषा परिनिष्ठित ब्रजभाषा है। उक्तिवैचित्र्य, शब्द-सघटन, रूपचित्रमयी कल्पना 'सनेही' जी की विशेषताएँ हैं। समस्यापूर्ति मे ये निष्णात थे। भारतेन्दु-समय की समस्यापूर्ति-प्रणाली को फिर से चालू करना इनका ही काम था। चिर-समय तक इन्होने 'सुकवि' का सम्पादन भी किया था।

आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं—'प्रेमपच्चीसी', 'कुसुमाजलि' और 'कृषक क्रन्दन'। इनकी रचना का एक निदर्शन लीजिए—

तेरे स्वेद-बुन्द मकरन्द से सुगन्धित हो,
मंजुल गुलाब ही का इत्र बन जाते है।
आते चित्रकार जो बनाने कभी चित्र तेरा,
देख के विचित्र छबि चित्र बन जाते है॥

(८) राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म स० १६२७ मे हुआ। इनके पिता राय वशीधर जी जबलपुर मे वकालत करते थे। 'पूर्ण' जी भी वकालत की शिक्षा समाप्त कर कानपुर मे वकालत करने लगे। ये प्रतापनारायण मिश्र के 'रसिक समाज' के सक्रिय सदस्य थे।

इनका ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था। समस्यापूर्ति करने मे ये निर्द्वन्द्व थे और आशुकवि थे। कहते हैं कि एक बार कचहरी मे आपने कविता-बद्ध बहस की थी। 'पूर्ण' जी गोरखपुर मे हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गये थे।

इनकी कृतियो मे 'मेघदूत' (अनुवाद), 'चन्द्रकला भानुकुमार' (नाटक) के नाम उल्लेखनीय है। इनकी स्फुट कविताओ के विषय हैं—भक्ति,

वेदान्त, देशभक्ति, मातृभाषा, राजभक्ति, प्रकृति-वर्णन इत्यादि। इनके प्रकृति-वर्णन के दो उदाहरण लीजिए—

हिलते थे वृक्षो के पल्लव रुचिर अधीर,
लगती थी आगत सरीर में सुखद समीर।
मानो करके कर सहस्र निज, सेवा आतुर चातुर बाग,
व्यजन क्रिया से मनरंजन कर व्यंजन करता था अनुराग।

× × ×

तरु शाखाएँ फल फूलो का पाकर भार,
झुक-झुक भूमि छुए लेती थी बारम्बार।
मानो उस उपवन के किंकर समझ अतिथि-सेवा की नीति,
रखते थे फलफूल सामने निज पवित्र उपहार सप्रीति।

(६) सत्यनारायण 'कविरत्न'

सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म अलीगढ मे स० १९४१ मे हुआ था। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। अभी ये बालक ही थे कि इनके माता-पिता स्वर्ग सिधार गये। इनका पालन-पोषण इनकी मौसी ने किया। ब्रह्मचारी बाबा रघुवरदास के यहाँ आपकी शिक्षा-व्यवस्था हुई। किसी कारणवश बी० ए० की परीक्षा नही दे सके। कविरत्न पक्के वैष्णव और कृष्ण के अनन्य उपासक थे। इनका रहन-सहन बडा सरल और साधु था। गोष्ठियो मे इनके सवैया-पाठ से श्रोतागण मुग्ध हो जाया करते थे। इनके भाव बडे गभीर और मर्मस्पर्शी होते थे, जिनका प्रभाव श्रोतृगण पर तुरन्त पडता था। ब्रजभाषा का प्राजल और मधुरतम प्रयोग इनकी कविता मे उपलब्ध होता है। जैसे 'रत्नाकर' पद्माकर-शैली के कवि माने जाते हैं, वैसे 'कविरत्न' नन्ददासीय शैली के कवि माने गये हैं। 'भ्रमरदूत' इनका प्रसिद्ध खण्डकाव्य है।

आपकी ख्याति 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' के अनुवाद से अधिक फैली। सस्कृत भाषा मे ये अनूदित नाटक मौलिक नाटको के समान ही लगभग सरस हैं। इनकी स्फुट रचनाएँ 'हृदयतरंग' मे

सगृहीत है ।

इनका निधन सन् १६१८ मे हुआ था ।

इनकी रचना की एक बानगी देखिए—

मृदु मंजु रसाल मनोहर मंजरी मोरपखा सिर पै लहरै ।
अलबेलि नबेलिन बेलिनु में नव जीवन ज्योति छटा छहरै ।।
पिक भृंग सुगुंज सोई मुरली सरसौं सुभ पीत पटा फहरै ।
रसवंत विनोद अनंत भरे बृजराज बसत लिए बिहरै ।।

इन्द्र धनुष अरु इन्द्र वधूटिन की सुचि सोभा ।
को जग जनम्यो मनुज जासु मन निरख न लोभा ।।
पिय पावन पावस लहरि लहलहात चहुँ ओर ।
छाई छबि छिति पै छहरि ताको ओर-न-छोर ।।
—लसै मनमोहिनी ।।

(१०) वियोगी हरि

बुन्देलखण्ड के छत्तरपुर निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण प० बलदेवप्रसाद द्विवेदी के पुत्र प० हरिप्रसाद द्विवेदी ही 'वियोगी हरि' नाम से विख्यात है । इनका जन्म स० १६५३ मे रामनवमी को हुआ । पिता के देहावसान हो जाने पर इनका पालन-पोषण ननिहाल मे हुआ । वही इनकी शिक्षा-व्यवस्था हुई । बचपन मे ही 'विनयपत्रिका' तथा 'श्रीमद्भागवत' के प्रति इनका अनुराग जागृत हुआ । ७ वर्ष की अवस्था मे आपने एक कुडलिया बनाई थी और १८ वर्ष की आयु मे 'प्रेमशतक', 'प्रेम-पथिक', 'प्रेमाजलि' और 'प्रेम-परिषद्'—ये पुस्तके भी रच डाली ।

वियोगी हरि को प्राय तीन रूपो मे स्मरण किया जाता है—कृष्ण-भक्त के रूप मे, राष्ट्रिय नेता के रूप मे और साहित्य-सेवी के रूप मे ।

(१) आप परम कृष्णभक्त है । भक्तो जैसा कोमल हृदय भी आपको मिला है । 'ब्रजमाधुरी-सार' आपकी कृष्णचरित्र-सम्बन्धी रसिकता का परिचायक है ।

(२) आप कुछ समय तक गाधीजी के सेक्रेटरी भी रहे हैं। इस समय भी आप गाधी-निधि के सदस्य है और हरिजन मेवाकार्य मे सतत सलग्न हैं।

(३) आपने अनेकविध साहित्यसेवा की है। वर्षों सम्मेलन-पत्रिका के सम्पादक रहे हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कराची-अधिवेशन मे आप सभापति भी चुने गये थे। आपने अब तक लगभग ४० पुस्तके लिखी हैं। जिनमे से कतिपय ये है—'छद्मयोगिनी', 'कविकीर्तन', 'अनुराग वाटिका', 'वीर हरदौल', 'मेवाड-केसरी' और 'वीर-सतसई'। अन्तिम रचना पर इन्हे १२००) रु० का मगलाप्रसाद पुरस्कार भी मिला है।

इनकी रचना की एक बानगी देखिए—

ब्रजबानी पद माधुरी मधुसानी रसलीन।
विधिरानी गावति अँजौं जासु गुननि लै बीन॥
जापै तन लौं बारियै राग विराग सुहाग।
बड़ें भाग लै पाइयै सो अगाध अनुराग॥
पावसु ही मे धनुष अब सरित तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग नौ रस ही में बीर॥
पराधीन जौ जन, नहि सरग, नरक ता हेतु।
पराधीन जौ जन नहि, सरग नरक ता हेतु॥

(११) देवकीनन्दन खत्री

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यास-लेखको मे श्री खत्री जी की विशेष ख्याति रही है। इनके उपन्यासों मे तिलस्मी और ऐयारी घटनाओ के वैचित्र्य की प्रधानता है। इनका उद्देश्य केवल पाठको का मनोरजन करना ही है। घटनाओ की भूलभुलैयो और चमत्कारो के कारण इनके उपन्यास काफी समय तक जनता को मुग्ध करते रहे। इन्हे पढने के लिए न जाने कितने लोगो को हिन्दी सीखने पर विवश होना पडा। 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता-सन्तति', 'भूतनाथ', 'वीरेन्द्र वीर', 'कुसुम-कुमारी', 'नरेन्द्र-मोहनी', 'काजर की कोठरी' आदि आपके ख्याति-प्राप्त

उपन्यास है। ये सभी उपन्यास घटना-प्रधान है और सभी के कथानक का आधार किसी-न-किसी रूप मे प्रेम ही है। इनमे से 'चन्द्रकान्ता' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। आपकी भाषा मे प्रवाह है और सरसता है, जिससे पाठक कभी ऊबने नही पाता।

देवकीनन्दन के उपन्यास-क्षेत्र मे उतरने का सबसे बडा महत्त्व यह है कि इन्होने हिन्दी के पाठक उत्पन्न किये। यद्यपि इनके उपन्यासो से पाठक को स्वस्थ सामग्री नही मिली, मनोरञ्जन भी उच्चकोटि का नही मिल सका, पर उस युग को देखते हुए इनकी हिन्दी-साहित्य-सेवा किसी भी रूप मे कम नही है।

(१२) किशोरीलाल गोस्वामी

द्विवेदी-युग के मौलिक उपन्यासकारो मे श्री किशोरीलाल गोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनसे पूर्व गोपालराम गहमरी, देवकीनन्दन खत्री आदि के घटना-प्रधान एव काल्पनिक उपन्यास पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे। श्री गोस्वामी जी ने काल्पनिक घटनाओ से ऊपर उठकर सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासो का श्रीगणेश किया। यद्यपि इसमे इन्हे पूर्ण सफलता नही मिली, पर फिर भी उपन्यास-परम्परा को नई दिशा मे मोड देने का श्रेय आपको ही है। कहा जाता है कि इन्होने ६५ उपन्यासो की रचना की थी। इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं—तारा, चपला, तरुणी, तपस्विनी, लीलावती, त्रिवेणी, कुसुमकुमारी, लावण्यमयी, आदर्श सती, लखनऊ की कब्र, मस्तानी, तिलस्मी शीश-महल आदि। इनके लगभग सभी उपन्यासो का कथानक 'नारी' को केन्द्र बनाकर चला है। पर नारी के चित्रण मे इन्हे सफलता नही मिली; क्योकि हलके प्रेम के हिंडोरे पर इन्होने नारी तथा पुरुष को जो पीगे दी हैं—वे वासनापूर्ण होने के कारण समाज के लिए हितकर नही है। इनकी भाषा मे प्रवाह अवश्य है, पर यह भावी उपन्यासकारो के लिए अनुकरणीय नही बन सकी। इसका कारण यह है कि इनके पास भावाभिव्यक्ति के लिए समर्थ शब्द-भण्डार नही है।

(१३) मिश्रबन्धु

द्विवेदी-युग के समालोचको मे मिश्र-बन्धुओ का पर्याप्त समादर है। इन्होने हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर विशेष अनुसधान किया। काल का विभाजन और हिन्दी-कवियो का पूर्ण परिचय आदि यथासम्भव ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर लिखा। 'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' इनकी विख्यात रचनाएँ है। अपने प्रकार की प्रथम रचना होने तथा सामग्री-सकलन की दृष्टि से ये ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। श्री रामचन्द्र शुक्ल जैसे इतिहासकारो ने भी इनकी रचनाओ से वाह्य सामग्री ग्रहण की है।

प्रसाद-युग

(स० १९७५ से आज तक)

प्रसाद-युग का प्रवर्तन सवत् १९७५ के लगभग हुआ। इस युग की सबसे बडी विशेषता है—छायावाद और रहस्यवाद का पद्य-क्षेत्र मे प्रवेश। शैली की दृष्टि से हिन्दी-कविता के लिए यह विषय सर्वथा नवीन है। इस विशेपता के अतिरिक्त भी यह युग अपने पूर्ववर्ती युग से सर्वथा भिन्न है। भाषा, वर्ण्य-विपय तथा निरूपण-शैली की दृष्टि से प्रसाद-युग और द्विवेदी-युग के साहित्य मे पर्याप्त अन्तर है। इन विषयो मे इन दोनो युगो के गुण और अवगुण अपने-अपने है।

भाषा—

द्विवेदी-युग मे भाषा की शुद्धता पर अत्यधिक बल दिया जाता था। भाषा को व्याकरण के सुदृढ एव सुनियमित शासन मे चलने के लिए विवश कर दिया गया था। इस युग मे किसकी मजाल थी कि कोई लिग-व्यत्यय, काल-व्यत्यय, पुरुष या वचन-व्यत्यय कर सके, पर अब इधर व्याकरण-सम्बन्धी नियमो का कठोरता से पालन नही किया जाता। उदाहरणार्थ पन्त आदि छायावादी कवियो ने लिग-प्रयोग के सम्बन्ध मे बड़ी मनमानी से काम लिया है।

द्विवेदी-युग मे निस्सन्देह कुछ बगाली और अँग्रेजी प्रयोग एव शब्द

अनजाने ही भाषा मे घुस आये थे। पर प्रसाद-युग मे आकर यही प्रवृत्ति और भी अधिक बढ गई। उदाहरणार्थ 'गल्प' शब्द स्वय वगला का है जो अब हिन्दी मे तत्सम के समान धडल्ले से चल निकला। 'सभ्रान्त' सस्कृत मे बहुत भ्रम मे पडे हुए व्यक्ति को कहते है, पर वगला मे यह शब्द प्रतिष्ठित परिवार के सदस्य के लिए चल निकला और आज हिन्दी मे भी इसी अर्थ मे इसका प्रयोग हो रहा है। इसी प्रकार 'हवाई किले वनाना' आदि कई मुहावरे अँग्रेजी से रूपान्तरित होकर ज्यो-के-त्यो हिन्दी मे आ गये है।

यह तो हुआ प्रसाद-युग की भाषा-सम्वन्धी त्रुटियो का उल्लेख। अब जरा इसकी विशेषताओ पर भी ध्यान दीजिए। द्विवेदी-युग की भाषा मे काव्योचित सौकुमार्य न था। इसके अभाव मे खडीबोली मृदुल भावनाओ को अभिव्यक्ति प्रदान करने मे अक्षम-सी प्रतीत होती थी। दूसरी ओर प्रेमचन्द आदि अनेक लेखको द्वारा हिन्दी-साहित्य मे उर्दू शब्दो का प्रयोग भी दिनोदिन बढता जा रहा था। विदेशी पदावली का यह अवाध प्रयोग हिन्दी के लिए हितकर न हो सकता था क्योकि हिन्दी की प्रकृति को पहचाने बिना अरबी-फारसी के शब्दो के प्रयोग से उसके स्वरूप मे विकृति उत्पन्न हो सकती थी। इस प्रकार द्विवेदी जी के द्वारा खडीबोली का साहित्यिक रूप व्यवस्थित हो जाने पर भी अभी उसमे बहुत-कुछ करना शेष था। निस्सन्देह भाषा-सस्कार का भी अपना महत्त्व होता है, पर इसके साथ उसमे सौकुमार्य का होना भी आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति प्रसाद-युग मे हुई।

वर्ण्य-विषय—

वर्ण्य-विषय की चर्चा करते समय सर्वप्रथम हम पद्य-क्षेत्र को लेते है। द्विवेदी-युग मे जीवन-वृत्त, उपदेश, वीरता, स्वदेश-प्रेम, सामाजिक-व्यग्य आदि जिन विषयो को लेकर कविता की जाती थी, प्रसाद-युग मे इन्ही विषयो पर भी कविता की गई, पर थोडा-बहुत अभिव्यक्ति-प्रकार मे अवश्य अन्तर आ गया, वर्ण्य-विषय की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर

नही पडा। इन दोनो युगो मे इस दृष्टि से वास्तविक अन्तर एक और है। प्रसाद-युग की एक विशेषता है—द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता के प्रति अरुचि। इस अरुचि का कारण यह है कि अग्रेजी के अनुरूप बगला भाषा मे अब तक भाव-प्रधान रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थी। किन्तु हिन्दी-साहित्य मे अभी तक विषय-प्रधान रचनाओ का ही प्राधान्य था। सवत् १९७० के लगभग जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उनकी प्रसिद्ध रचना 'गीताञ्जलि' पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ, तो भारतीय साहित्य-क्षेत्र मे एक हलचल-सी मच गई। 'गीताञ्जलि' पर उक्त पुरस्कार की प्राप्ति न केवल बगला या हिन्दी के लिए—प्रत्युत समग्र भारतीय साहित्य के लिए—एक बडी युग-परिवर्तक घटना प्रमाणित हुई। कविगण स्थूल को छोड सूक्ष्म की ओर उन्मुख होने लगे। ऐसा ज्ञात होता था कि अब तो ये कलाकार अज्ञात और अनन्त की थाह लेकर ही दम लेगे। अब उस कल्पित अज्ञात प्रियतम के विरह और मिलन के गीत भारतीय साहित्य मे प्रमुख रूप से गाये जाने लगे। हिन्दी भी इस प्रभाव से अछूती न रही। निस्सन्देह स्थूल-परित्याग तथा सूक्ष्म-परिग्रहण की भावना ने कविता के वर्ण्य-विषय को बाह्य धरातल से उठाकर मानसिक धरातल पर अवस्थित कर दिया, पर स्थूल के प्रति विद्रोह की इस भावना से एक अनिष्ट भी हुआ। इसने काव्य के भावपक्ष को इतना सूक्ष्म बना दिया कि उसमे अर्थाभिव्यक्ति लुप्तप्राय होने लगी। शब्दो के अर्थ तो कुछ समझ मे आ सकते थे, पर पूरे पद का क्या भाव बना, यह समझ से परे की बात थी। एक उदाहरण लीजिए—

नैन मुँदेंगे जब, क्या देंगे?—
चिर चिर-प्रिय दर्शन?
शत-सहस्र-जीवन-पुलकित,
प्लुत प्यालाकर्षण?
अमरण-रणमय मृदु-पद-रज?
विद्युद्-घन-चुम्बन?

निर्विरोध, प्रतिहत भी,
अप्रतिहत आलिङ्गन ?

ऐसी कविताओ मे केवल शब्द-सौन्दर्य के सहारे कविता के भावो को खडा करने का प्रयत्न किया जाता है। उसमे अर्थ की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि छायावादी कवियो ने प्रकृति-चित्रण एक नवीन रूप मे प्रस्तुत किया। उन्होने इसे अपनी शृगारिक भावनाओ की अभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया। द्विवेदी-युग शृगार को अश्लील समझकर छोड बैठा था, पर प्रसाद-युग इसे न तो स्पष्टत छोड सका और न इसे स्पष्टत वर्णित करने का साहस ही कर सका। उसने प्रकृति-चित्रण का आश्रय लेकर अपने मन की अनुभूति को प्रकारान्तर से प्रकट कर दिया। निराला जी की प्रसिद्ध कविता 'जूही की कली' इस अभिव्यक्ति-प्रकार का सफल निदर्शन है, जहाँ 'मलयपवन' 'जूही की कली' के 'बन्दो' को उघाड रहा है। इस प्रकार की शैली सम्भवत कुछ रूढिवादियो को रुचिकर प्रतीत न हो, पर यह भी साहित्य का एक अभिन्न अग है ही। प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध मे छायावादी कवियो का एक अन्य दृष्टिकोण है—प्रकृति के साथ मानव का तादात्म्य-सम्बन्ध। इस युग मे आकर प्रकृति के नाना रूपो और व्यापारो को भावुक कलाकार ने अपने ही रग मे रगा हुआ देखा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह सम्पूर्ण जडचेतन प्रकृति उन्ही के समान कभी उस अलक्ष्य, अगोचर, परम प्रियतम के मिलन के आनन्द का अनुभव पाकर सिहरती, पुलकित होती हुई मिलन के गीत गाने लगती है, तो कभी वही प्रकृति उसके विरह मे रोती हुई करुणाश्रु बरसाने लगती है। निस्सन्देह यह अभिव्यक्ति-प्रकार अत्यन्त मनोमोहक एव कलापूर्ण है। छायावाद के अतिरिक्त प्रसाद-युगीन कविता का एक अन्य वर्ण्य-विषय है—श्रमिको एव निर्धनो के प्रति सहानुभूति। पर वस्तुत यह सहानुभूति वास्तविक न होकर कृत्रिम है। रूस के राजनीतिक सिद्धान्तो को लेकर जिस प्रकार की शैली मे श्रमिक एव निर्धन वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट

की जाती है, उसे 'प्रगतिवादी शैली' कहा जाता है। प्रगतिवाद भी इस युग की कविता का एक वर्ण्य-विषय बन चुका है, पर इसके सहानुभूति-पक्ष पर अधिकाश कवियो की आत्मा रमी नही है—'वाद' का निर्वहण करने के लिए भले ही वे इस विषय को भी अपना लेते हो।

इस युग के कवियो ने अपने वैयक्तिक सुख-दु खो या राग-विरागो को भी कविता के रूप मे ढालने का प्रयत्न किया। प्रसाद के 'आँसू', पत की 'ग्रन्थि' तथा बच्चन के गीतो तथा निराला के अनेक पदो मे इन कलाकारो के जीवन की अपनी अनुभूति भी मुखरित हुई है। इन छायावादी कवियो ने समाज से अपना नाता तोड प्रकृति या व्यष्टि से अपना नाता जोड लिया था। दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन भी इस युग के काव्य की अन्यतम विशेषता है। दार्शनिक ग्रन्थियो को सुलझाने का कार्य पुराने कवियो ने कभी अपने हाथो मे नही लिया था। यह भावना के क्षेत्र मे बुद्धि का अनधिकार प्रवेश समझा जाता था। पर प्रसाद-युग के कवियो ने दर्शन की सूक्ष्म तथा उलझी हुई ग्रन्थियो को कविता के मृदुल तन्तुओ मे अनुस्यूत करने का भगीरथ प्रयत्न किया। उसमे उन्हे कई अशो मे सफलता भी मिली, निराला की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता ऐसी ही है।

प्राचीन कथानको के माध्यम से नवयुग की भावनाओ को व्यक्त करने का प्रयत्न भी खूब हुआ। प्रसाद जी की 'कामायनी' मे सर्गादि के युग-पुरुष मनु की कथा के माध्यम से आज की समस्याओ का चित्रण भी किया गया है। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान के द्वारा मानव जिस प्रकार परमुखापेक्षी और आत्मशून्य होता जा रहा है, पश्चिमी यन्त्रवाद की प्रतिष्ठा ने मानव की आध्यात्मिकता को जिस प्रकार कुचल डाला है, जड बुद्धिवाद ने दया, माया, ममता आदि श्रद्धा की सात्विक अनुभूतियो को जिस प्रकार अभिभूत कर दिया है,—इन सबका निरूपण 'कामायनी' मे हुआ है।

निरूपण-शैली—

इस युग के अलकार-विधान मे भी अपूर्व नवीनता लक्षित होती है।

'विशेषण विपर्यय', 'मानवीकरण' आदि अंग्रेजी के नवीन अलंकारों का प्रयोग भी इस युग की एक बड़ी विशेषता है। अमूर्त भावनाओं का मानवीकरण तो भक्तिकाल और रीतिकाल के कलाकारों की रचनाओं में भी मिलता है, किन्तु अलंकार के रूप में इसका प्रयोग इस युग में ही हुआ। प्रसाद जी की रचनाओं में 'मानवीकरण' सर्वाधिक रूप में है।

छन्दोविधान—

इस युग में छन्दोविधान में भी बहुत परिवर्तन हुआ। द्विवेदी-युग के कविगण ने यद्यपि रीतिकाल की अपेक्षा अपने छन्दोविधान को पर्याप्त बदल दिया था, पर वे संस्कृत के वर्णवृत्त और हिन्दी के मात्रिक छन्दों को ही अपनाते रहे। भक्तिकाल व रीतिकाल में दोहा, चौपाई सोरठा, सवैया आदि छन्द ही अधिक प्रचलित रहे। द्विवेदी-युग में इन छन्दों की संख्या विस्तृत हो गई पर इधर प्रसाद-युग में यह छन्दोविधान सर्वथा स्वच्छन्द हो गया। पंत ने कवित्त-छन्द को हिन्दी के लिए सर्वथा अनुपयोगी बताया, तो निराला ने कवित्त-छन्द में ही परिवर्तन कर—उसके किसी पद को कुछ लम्बा और किसी पद को कुछ छोटा बनाकर प्रकारान्तर से कवित्त-छन्द का जोरदार समर्थन किया। इसके अतिरिक्त इस युग के कलाकारों ने शब्दों या पदों की लय के साथ-साथ भावात्मक लय पर भी विशेष बल दिया है। निराला की अधिकतर कविताओं में यह भाव-लय पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध होती है। मुक्तक छन्दों के प्रवर्त्तन तथा प्रचलन का श्रेय भी निराला जी को ही है।

गद्य-साहित्य—

प्रसाद-युग में गद्य-साहित्य की भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई। वास्तव में इस युग को खड़ीबोली का 'स्वर्ण युग' कह सकते हैं। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक, समालोचना आदि गद्य-साहित्य का कोई ऐसा अंग नहीं बचा, जिसमें नित्य-नवीन उत्कृष्टतम रचनाएँ निर्मित न हुई हों। इन काव्याङ्गों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

कथा-साहित्य—द्विवेदी-युग तक विधवा-जीवन, बेमेल विवाह वेश्या-

वृत्ति, किसानो पर जमीदारो के अत्याचार या प्रेम-सम्बन्धी समस्याओ को लेकर ही उपन्यास लिखे जाते रहे थे पर प्रसाद-युग मे एक ओर दृढतर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासो का निर्माण होना आरम्भ हुआ तो दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक तथ्यो का विश्लेषण करने वाले अनेक उपन्यास लिखे जाने लगे। पाप-पुण्य की परिभाषा भी उपन्यासो मे की गई। एक ओर निम्न तथा मध्य वर्ग के परिवारो की दशा का चित्रण किया जाने लगा तो दूसरी ओर साहबी ठाठ-बाट मे रहने वाले लोगो, तथा पूँजिपतियो का जीवन भी सामने आया। साम्यवाद, समाजवाद, गाधीवाद आदि राजनीतिक सिद्धान्तो का प्रचार करने वाले भी बहुत से उपन्यास लिखे गये। कुछ उपन्यासकारो ने उपन्यासो के माध्यम से गूढ दार्शनिक सिद्धान्तो की भी विवेचना की। कुछ उपन्यासो मे प्राचीन भारतीय सस्कृति की महत्ता दिखाने का प्रयत्न किया गया, तो दूसरे उपन्यासो मे समाज पर तीखे व्यग्य-बाण भी छोडे गये। आत्म-चरित्र के रूप मे, पत्रो के रूप मे तथा इतिहास के रूप मे तीनो प्रकार के उपन्यासो की बानगी इस युग मे हमे देखने को मिलती है। राष्ट्रिय आन्दोलन, स्वातन्त्र्य-सग्राम, सत्याग्रह, अछूतोद्धार, शुद्धि-आन्दोलन आदि सभी सामयिक विषयो को लेकर भी बहुत से उपन्यास लिखे गये। उपन्यासो के अनुरूप कहानी के क्षेत्र मे भी पर्याप्त प्रगति हुई। इस युग मे एक-दूसरी से बढकर स्थायी साहित्यिक मूल्य वाली अनेक उत्कृष्टतम कहानियाँ लिखी गई।

अन्य गद्य-ग्रन्थ—कथा-साहित्य के अतिरिक्त सस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि गद्य की अन्य विविध शैलियाँ इस युग मे आविर्भूत हुई। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताञ्जलि' के गद्यानुवाद की देखा-देखी हिन्दी मे गद्य-गीत का भी यथेष्ट प्रचार हुआ।

निबन्ध तथा समालोचना—इस युग मे भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक, तत्त्व-चिन्तनात्मक विविध शैलियो व विषयो पर सैकडो उत्कृष्ट निबन्ध लिखे गये। ये निबन्ध सामयिक पत्र-पत्रिकाओ मे, पुस्तको

के रूप मे तथा ग्रन्थो की भूमिकाओ के रूप मे लिखे जाते रहे। इधर समालोचना यद्यपि हिन्दी गद्य-साहित्य की नवीन विधा है और इसके लिए अत्यधिक शास्त्रीय पृष्ठाधार और सूक्ष्म पर्यवेक्षण की आवश्यकता रहती है, तो भी इस छोटे से समय मे जो समालोचना-ग्रन्थ लिखे गये वे साहित्योत्थान मे पूर्ण सहायक सिद्ध हो रहे है।

नाटक—नाटक की दृष्टि से तो यह युगचरम विकास का युग माना जा सकता है। ऐतिहासिक, सास्कृतिक, समस्यामूलक आदि सभी प्रकार के नाटको का निर्माण इस युग मे हुआ। इन नाटको मे सस्कृत की अपेक्षा पाश्चात्य सिद्धान्तो का ही अधिक अनुसरण किया गया है। प्रसादजी आदि कुछ नाटककारो ने अपने प्रारम्भिक नाटको मे दोनो सिद्धान्तो का समन्वय करने का सफल प्रयत्न किया था, किन्तु आगे चलकर भारतीय सिद्धान्त पिछडते गये। प्रसादयुग के नाटक-साहित्य पर 'इब्सन' तथा 'बर्नाड शा' का प्रभाव स्पष्ट रूप मे लक्षित होता है। इस युग के प्रारम्भिक नाटको मे सस्कृत नाटको के समान सकलनत्रय की ओर ध्यान नही दिया जाता था। पर इधर नवीनतम नाटको मे अभिनय को प्रधानता दी जाने लगी है और यही कारण है कि इन नाटको मे स्थान-सकलन को अधिकाधिक अपनाया जाने लगा, ताकि नाटको के प्रबन्धको को बार-बार स्थान या दृश्य बदलने का झझट न उठाना पडे। प्रसाद-युग के प्रारम्भिक नाटको मे आकार-प्रकार और घटना-विस्तार का भी विशेष ध्यान नही रक्खा जाता था। बीसियो पात्र, सैकडो घटनाएँ और अनेक वर्षो का वृत्तान्त एक ही नाटक मे ठूँस देने का प्रयत्न किया जाता था। उदाहरणार्थ स्वय प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' और 'अजात शत्रु' आदि नाटको के कथानको मे पूरे चार नाटको के कथानक सिमटे हुए है। किन्तु इस युग के परवर्ती नाटक आकार, प्रकार और घटना-विस्तार मे बहुत छोटे लिखे जाने लगे। वस्तुत पुराने नाटक साहित्यिक अधिक थे, उनमे अभिनेय तत्त्वो की ओर यथोचित ध्यान नही दिया जाता था, किन्तु बाद के नाटको का मुख्य लक्ष्य अभिनय हो गया। अनायास अभिनय ही नाटक का सर्वोत्कृष्ट

वैशिष्ट्य है, यही मान कर आगे चलकर नाटक लिखे जाने लगे।

एकांकी नाटक व गीति-नाट्य—साहित्य की यह विधा हिन्दी के लिए सर्वथा नवीन थी। इसका प्रचलन एक प्रकार से प्रसाद-युग मे ही हुआ, फिर भी साहित्य का यह अग भी देखते-ही-देखते समृद्ध होने लगा। एकाकी नाटक के लिए बडे नाटक की अपेक्षा अधिक कौशल की अपेक्षा रहती है। उसमे एक ही अक मे सारी बात कह देनी होती है। हम आगे यथास्थान देखेगे कि इस युग के अन्तिम वर्षो मे ही अनेक सुन्दर एकाकी नाटक लिखे गये जिनके पचीसो सग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। 'गीति-नाट्य', 'भाव नाट्य' आदि की रचना भी इस युग मे होने लगी है।

जीवन-चरित्र—इस युग मे कुछ प्रौढ जीवन-चरित्र तो लिखे ही गये। इनके अतिरिक्त आत्म-चरित्रो का भी उपक्रम हुआ है। अभी तक गाधी व पडित नेहरू आदि के अनूदित आत्म-चरित्र ही हिन्दीवालो को मिल पाये थे, पर इस युग मे कुछ विशिष्ट आत्मचरित्र हिन्दी मे भी लिखे गये।

इस प्रकार हम देखते है कि गद्य, पद्य, नाटक, एकाकी उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि सभी दृष्टियो से प्रसाद-युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य के लिए ऐसा गौरवशाली सिद्ध हुआ कि उसे हम नि सकोच रूप से खडीबोली का 'स्वर्णयुग' कह सकते हैं।

१. गद्य-साहित्य

पिछले तीनो कालो मे अधिकाशत पद्य का निर्माण हुआ और आधुनिक काल मे अधिकाशत गद्य का निर्माण हो रहा है और इसी आधार पर इस काल को गद्य-काल भी कहा गया है। अत सर्वप्रथम गद्य-साहित्य के विभिन्न अगो का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

नाटक

उपक्रम—

हिन्दी-नाटक का प्रारम्भ कब से माना जाय—इस प्रश्न का सर्व-

सम्मत उत्तर देना कठिन है। एक मत के अनुसार इसकी कड़ियाँ अपभ्रंश-साहित्य मे जोडी जा सकती है, क्योकि अपभ्रंश-भाषा मे 'जीवमन करण सकल्प कथा', 'मयरण पराजय चरिउ' और 'मयनजुज्झ' नामक ग्रन्थो की उपलब्धि हुई है—पर इन तीनो ग्रन्थो को नाटक कहना कहाँ तक समुचित है—इसका उत्तर अभी निर्णयापेक्ष है। इधर हिन्दी के भक्तिकाल मे प्राप्य हृदयराम-कृत 'हनुमन्नाटक' तथा प्राणचन्द-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटको से हिन्दी-नाटक-साहित्य का प्रारम्भ मानने मे कठिनाई यह है कि ये रचनाएँ नाम से नाटक अवश्य है—पर ये नाटकीय परिभाषाओ पर खरे नही उतरते, आगे चलकर रीतिकालीन विश्वनाथसिंह-प्रणीत 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक उपलब्ध होता है, पर इसमे 'अभिनेयता' का गुण तो किञ्चित् मात्रा मे है, पर 'साहित्यिकता' रत्ती-भर भी नही है। फिर भी इसका महत्त्व इतना अवश्य है, कि यह प्रथम हिन्दी-नाटक है। इसके बाद बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुप' नाटक, तथा राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' नाटक उपलब्ध है, पर इसमे से प्रथम अपूर्ण है, और दूसरा अनुवाद है, अत इन दो रचनाओ को भी प्रथम स्थान नही दिया जा सकता। अत आधुनिक गवेषणाओ के अनुसार हिन्दी की मौलिक नाटक-परम्परा को 'आनन्द-रघुनन्दन' मे मानना समुचित है।

प्रसाद-पूर्व नाटक—

पहले लिख आये है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके साथियो ने नाटक लिखकर हिन्दी-साहित्य की पर्याप्त पूर्ति कर दी, पर इनसे आगे आने वाली पीढी को यथावत् दिशा-निर्देश नही मिल सका। फलत नाटको के निर्माण की गति मन्द पड गई। द्वितीय-युग के लेखको ने अनुवाद की ओर अपना ध्यान अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रित किया। सीताराम तथा सत्यनारायण कविरत्न ने सस्कृत नाटको का अनुवाद किया और रूपनारायण पाण्डेय ने बगला नाटको का। बाबू रामचन्द्र वर्मा ने मराठी के कुछ नाटको के अनुवाद प्रस्तुत किये तथा पुरोहित गोपीनाथ और मथुराप्रसाद चौधरी ने अग्रेजी नाटको के। इस युग के अनेक नाटककारो ने मौलिक

नाटक भी लिखे, पर इस युग की प्रवृत्ति नाटक-निर्माण की अपेक्षा उपन्यास-निर्माण की ओर ही अधिक रही। इस युग के मौलिक नाटककारो के नाम ये हैं—किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिह उपाध्याय, ज्वालाप्रसाद मिश्र, राय देवीप्रसाद पूर्ण, प० बदरीनाथ भट्ट, मिश्रबन्धु तथा बलदेव-प्रसाद मिश्र। इन नाटककारो मे से राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक साहित्यिक दृष्टि से उत्तम रचना है।

प्रसाद युग के नाटक—

जयशकर प्रसाद के साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण करते ही नाटको मे एक प्रकार की क्रान्ति-सी आ गई है। अनुवाद-युग के बाद जिस मौलिक साहित्य की कल्पना की जाती है, उसने प्रसाद-युग मे सत्य का रूप धारण कर लिया है। इस युग के विख्यात कलाकार हैं—

जयशकर प्रसाद, प० गोविन्दवल्लभ पन्त, बेचन शर्मा उग्र, उदयशकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, जगन्नाथ-प्रसाद मिलिन्द, पृथ्वीनाथ शर्मा, सुदर्शन आदि।

प्रसाद-युग की नाटकीय विशेषताओ को परखने के लिए भारतेन्दु-युगीन नाटको को भी सामने रखकर कतिपय विशिष्ट बिन्दुओ के आधार पर विचार करना समुचित होगा—

(क) नाटकीय विधान—प्रसादयुग से पूर्ववर्ती नाटको मे नाटकीय विधान की समरसता नही है। उनमे कही प्राचीन भरतमुनि-प्रणीत नियमो का पालन किया गया है, कही एकमात्र पश्चिमी नाट्यविधान का पालन हुआ है और कही दोनो नाट्यविधान साथ-साथ चलते हैं। अनुवाद-नाटको की बात छोड दीजिए। मौलिक नाटको मे 'मगलाचरण', 'सूत्रधार नटी-सवाद', 'भरत वाक्य', 'विदूषक' आदि तो हैं, पर अको को दृश्यो मे विभाजित नही किया गया। जयशकर प्रसाद ने इस दिशा में नाटककारो का नेतृत्व किया है। भारतीय नाट्य-विधान को धीरे-धीरे स्थगित कर उन्होने नवीन नाट्य-विधान को सर्वात्मना अपना लिया है,

और इस दिशा मे अन्य नाटककारो का पथ-प्रदर्शन किया है।

(ख) **रंगमंचीयता**—नाटक रगमच की वस्तु है। उसकी प्रधान विशेषता है—उसका रगमच के लिए उपयुक्त होना। भारतेन्दु ने पारसी कपनियो द्वारा भारतीय रगमच की दुर्गति देखी थी, हनुमान को ड्राइवर बना देना, राम-कृष्ण को पैण्ट पहना देना—ये उन कपनियो के साधारण कारनामे है। भारतेन्दु का लक्ष्य रगमच का उद्धार करना भी था। अत उन्होने इस दिशा मे पर्याप्त प्रयास किया। परिणामत उनके तथा उनके सहयोगियो के नाटक रगमच पर प्राय ठीक उतरते थे। पर प्रसाद-युग मे आकर यह प्रवृत्ति प्राय. हट-सी गई है। गोविन्दवल्लभ पत और हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक निस्सन्देह रगमचोपयोगी हैं, पर ऐसी धारणा सब नाटककारो के लिए नही बनाई जा सकती। स्वय प्रसाद के नाटको के विषय मे सभी आलोचको की यही राय है कि उनके नाटक ज्यो-के-त्यो रगमच पर नही उतर सकते, उनमे यथायोग्य काट-छाँट करनी ही पडेगी। प्रसादयुग के विशेषत प्रसाद के नाटक 'रगमच' के पीछे नही चलते, अत इनके सफल अभिनय के लिए रगमचीय विधानो मे यथेष्ट परिवर्तन करना अनिवार्य है।

(ग) **गीत**—भारतीय नाटको मे गीति-तत्त्व का समावेश प्रारम्भ से ही स्वीकृत रहा है। भरत ने नाटक के प्रणयन मे जिन तीन तत्त्वो–गीत, नृत्य और सवाद–के समन्वय की स्वीकृति दी है, उनमे प्रथम स्थान गीत का है। वस्तुत इसका समावेश मनोविज्ञान के आधार पर आवश्यक है भी। किसी भी प्रकार के भावावेश की अभिव्यक्ति का सहज एव अनायास साधन 'गीत' है। पाश्चात्य पुरातन नाटको मे भी इस तत्त्व की उपेक्षा नही की गई।

भारतेन्दु-युगीन नाटको में गीतो की अधिकता है और उनका प्रयोग अस्वाभाविकता की कोटि तक पहुँच गया है। राजा-रानी, मत्री, पडित, नौकर, किसान, चमार—सब-के-सब पात्र गीत गाते नजर आते हैं। द्विवेदी-युग मे भी इस त्रुटि को दूर करने की ओर नाटककारो का ध्यान नही गया। पर प्रसाद-युग मे आकर गीतो का प्रयोग नियन्त्रित कर दिया

गया है, यहाँ तक कि पृथ्वीनाथ शर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने गीतो का बहिष्कार-सा कर दिया है, मानो यह पूर्वकालीन गीताधिक्य की प्रतिक्रिया हो रही है। गीत सीमित हो, योग्य पात्रो द्वारा गाये गये हो, कथावस्तु को अग्रसर करने मे सहायक हो और जनता की भावना का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करते हो, इन सभी दृष्टियो से हरिकृष्ण प्रेमी के गीत सर्वोत्तम है। प्रसाद के नाटको मे गीतो का प्रयोग निस्सन्देह यथावसर है, पर उनमे काव्यत्व इतना अधिक उभर आया है कि वे नाटक जैसे अपेक्षाकृत सरल काव्याङ्ग मे खप नही पाये। शेष अधिकतर नाटककारो के गीत आपत्ति-रहित है।

(घ) **भाषा**—प्रसाद-पूर्व नाटको की भाषा चमत्कारपूर्ण है। वस्तुत तब तक व्याकरणसम्मत भाषा का विकास भी नही हो पाया था। इसके अतिरिक्त भाषा को पात्रानुरूप बनाने का विचार भी भाषा-विकृति का एक अन्य कारण था। यह विधान निस्सन्देह एक गुण है, पर इसका कठोरता से पालन भाषा-सौन्दर्य मे बाधक भी है। इधर प्रसाद-युगीन नाटको की भाषा परिष्कृत, सक्षम एव प्रौढ है। प्रसाद की भाषा अधिक सस्कृतनिष्ठ बन गई है, इसे एक त्रुटि भी कह सकते है, पर हरिकृष्ण-प्रेमी, मिलिन्द, गोविन्दवल्लभ पत की भाषा मधुर, प्रवाहमयी और सुगम-सरल है। मिश्र की भाषा सालकार है।

निष्कर्ष यह कि—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर लक्ष्मीनारायण मिश्र तक—नाटको की अविच्छिन्न परम्परा मे वर्ण्य-विषय एव कला की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास होता चला गया है।

एकाकी नाटक—

आधुनिक युग मे उपन्यास के स्थान पर कहानी के प्रचार पा जाने का जो कारण है, वही कारण नाटक के स्थान पर एकाकी के प्रचार पा जाने का भी है। वह कारण है—इस सघर्ष के युग मे समय का अभाव। 'एकाकी नाटक' अपनी नवीनतम परिभाषा मे भारतीय रूपक-परम्परा की देन न होकर पाश्चात्य एकाकी-लेखन-कला की देन है। पश्चिम मे

इसका आरम्भ 'कर्टेन–रेजर' (यवनिका-उत्थापक) से हुआ। ये छोटे प्रकार के नाटक 'बडे' नाटक के प्रारम्भ मे पूर्व उन दर्शको को दिखाये जाते थे, जो समय से पूर्व नाट्यशाला मे आ जाते थे। धीरे-धीरे यही कला स्वतन्त्र होती गई और नार्वे के प्रसिद्ध विद्वान् इब्सन के नाटक-क्षेत्र मे पदार्पण करने के पश्चात् उत्तरोत्तर नव्य विधानो से सयुक्त और विकसित होती गई। भारत मे भी इसका यथेष्ट प्रचार पिछले दो दशको से होना प्रारम्भ हुआ और आज यह काव्याग सख्या, प्रचार एव मनोरञ्जन की दृष्टि से भी नाटक की अपेक्षा अधिक उन्नतिशील है। इस उन्नति का प्रधान कारण रेडियो द्वारा एकाकी-प्रसार है, जिसके अधीन नियत समय मे प्रसार-कार्य समाप्त कर देना होता है। उदयशकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण 'प्रेमी', सेठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, विष्णु प्रभाकर—ये सभी एकाकीकार आज रेडियो–एकाकियो का सर्जन कर रहे है, फिर वही एकाकी यथोचित काट-छॉट के उपरान्त साहित्यिक रूप मे प्रकाशित कर दिये जाते है। इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि ये स्वतन्त्र एकाकी लिखते ही नही। सम्भवत विष्णु प्रभाकर को छोडकर सब ने रेडियो-परम्परा से पूर्व ही स्वतन्त्र एकाकियो का भी सर्जन किया था, और आज भी कर रहे है।

प्रसाद-युग के प्रतिनिधि नाटककारो का परिचय इस प्रकार है—

(१) जयशकर प्रसाद

जीवन—प्रसाद जी का जन्म सवत् १९४६ मे काशी के एक ऐश्वर्यशाली महादानी वैश्य-वश मे हुआ था, और मृत्यु सवत् १९९३ मे हुई। आपके पितामह शिवरत्न साहू बनारस के परोपकारी दानियो मे गिने जाते थे। प्रसाद जी के पिता का नाम श्री देवीप्रसाद था।

साहित्य-सेवा का प्रारम्भ—प्रसाद जी के हिन्दी-साहित्य मे आने से पूर्व पुस्तक-प्रकाशन बाल्यावस्था मे ही था। अच्छे साहित्य की न तो मॉग ही थी और न अच्छे प्रकाशक ही थे। मासिक पत्र-पत्रिकाओ मे केवल 'सरस्वती' जिसका सम्पादन प० महावीरप्रसाद करते थे, एक

साहित्यिक पत्र था। प० महावीरप्रसाद जी मे प्रसाद जी का मतैक्य न था। ऐसी दशा मे उनके आदेशानुसार उनके भाँजे अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसी पत्र से प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। प्रसाद जी की रचनाओ से हिन्दी-ससार भली भाँति परिचित होने लगा। किन्तु उन्होने अपनी हिन्दी-सेवा के लिए पुरस्कार कभी नही लिया। लिया भी तो नागरी-प्रचारिणी सभा को दान कर दिया।

उन्नीस वर्ष की आयु मे ही आपकी गम्भीर ऐतिहासिक गवेषणाओ तथा छायावादी रचनाओ मे प्रवृत्ति दिखाई दी। क्रमश आपने हिन्दी-साहित्य की कई रूपो मे श्रीवृद्धि की। सर्वप्रथम आपने हिन्दी-साहित्य के काव्य-क्षेत्र को परिष्कृत कर सुरुचि की ओर प्रवृत्त किया और वास्तविक सत्य-मार्ग पर चलाया। प्राचीन काव्यकार या तो शृङ्गार से सर्वथा अछूते रहते या ऐसे शृङ्गार मे निमग्न होते कि पढते ही घृणा उत्पन्न हो जाय। प्रसाद जी ने सात्विक प्रेम का परिचय कराते हुए कर्त्तव्यपालन का उपदेश दिया।

रचनाएँ—प्रसाद जी ने भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और छायावाद-युग—इन तीनो युगो से मेल खाने वाली रचनाएँ लिखी थी। इस प्रकार इनकी रचनाओ को कालक्रम की दृष्टि से इन तीन विभागो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्वकाल, (२) मध्यकाल, (३) उत्तरकाल।

'विशाख', 'राज्यश्री', 'अजात शत्रु', 'झरना', 'प्रतिध्वनि', 'छाया', 'प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व' और 'चित्राधार' इनकी पूर्वकाल की रचनाएँ है।

'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कामना', 'आकाशदीप', 'ककाल', 'एक घूँट', इनकी मध्यकाल की रचनाएँ है और 'आँधी', 'तितली', 'ध्रुव-स्वामिनी', 'इन्द्रजाल', 'लहर', 'कामायनी', 'काव्य और कला' तथा अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' अन्तिमकाल की रचनाएँ हैं।

इनसे प्रसाद की कृतियो के परिमाण का आभास मिल जाता है।

नाटककार के रूप में—

प्रसाद जी जिस प्रकार काव्य-क्षेत्र मे एक विशेष प्रवृत्ति को लेकर आये उसी प्रकार मौलिक नाटको के प्रणयन मे भी आप हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकार और पथ-प्रदर्शक माने जाते है। प्राचीन युग की गवेषणा—विशेषकर बौद्ध युग के इतिहास के अनुसन्धान-कार्य से तो आप का स्थान हिन्दी-साहित्य मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्रसादजी के नाटक-क्षेत्र मे आते ही उसका कायाकल्प हो गया। हिन्दी-नाटको मे पूर्ण साहित्यिक स्वरूप का प्रस्फुटन सर्वप्रथम इन्ही के नाटको मे दिखाई दिया। इन्होने अपने नाटको द्वारा अपने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव और सभ्यता के चित्र प्रस्तुत किये। इनके नाटको के कथानक महाभारत के उत्तरार्द्ध काल से लेकर सम्राट् हर्षवर्द्धन के शासनकाल तक के लिये गये है, क्योकि यही काल भारतीय सभ्यता के गौरव का काल था। प्रसाद जी के प्रयत्न और प्रभाव से नाटको के बाह्याकार और अवयवो के विन्यास मे वैचित्र्य आया। मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण को आधार बनाकर इन्होने अपने पात्रो का अकन किया। इनकी नाट्य-कला मे भारतीय और यूरोपीय दोनो पद्धतियो का सुखद समन्वय मिलता है। किन्तु इन्होने यूरोपीय वैचित्र्यवाद का पूर्ण रूप से अनुकरण न करके भारतीय रसविधान और शील-वैचित्र्य का सामजस्य प्रस्तुत किया।

प्रसाद जी के नाटको मे सास्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, दार्शनिक चिन्तन, स्वाभाविक चरित्र-कल्पना, राष्ट्रियता आदि ऐसी अनेक बाते हैं जो उन्हे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार के पद पर ला बिठाती हैं। उनके नाटको का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **प्रायश्चित्त**—इस नाटक मे पृथ्वीराज और जयचन्द के पारस्परिक विद्वेष की कथा को कल्पना के पुट से नवीन शैली मे उपस्थित किया गया है।

(२) **कल्याणी-परिणय**—इसमे चन्द्रगुप्त मौर्य और सैल्यूकस के युद्ध के समय की घटना अकित की गई है । एक ओर गीतो का समावेश तथा दूसरी ओर नान्दी, सूत्रधार आदि का प्रयोग इसे नवीन और प्राचीन शैलियो का समन्वित रूप प्रदान करता है । कल्याणी-परिणय ही आगे चलकर 'चन्द्रगुप्त' नामक प्रख्यात नाटक के रूप मे परिणत हो गया ।

(३) **करुणालय**—यह एक गीतिनाट्य है, जो अतुकान्त मात्रिक छन्दो मे लिखा गया है । इसमे हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र, रोहित, शुन शेप अजीगर्त आदि पौराणिक चरित्रो का अकन है । कथानक मूलत 'ऐत्तरेय ब्राह्मण' के शुन शेप आख्यान से लिया गया है, पर साथ ही नाटककार ने पौराणिक गाथा के आधार पर इसमे यथेष्ट परिवर्तन भी कर दिया है । उपर्युक्त चारो नाटको मे प्रसाद जी की कला का आरम्भिक रूप ही है । आगे चलकर इस कला का प्रौढ एव परिमार्जित रूप—'विशाख', 'जनमेजय का नागयज्ञ' 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' आदि सभी नाटको मे मिलता है ।

(४) **विशाख**—इसमे 'राजतरगिणी' के आधार पर काश्मीर-नरेश नरदेव के समय की घटना वर्णित है ।

(५) **जनमेजय का नाग-यज्ञ**—यह नाटक कलियुग के आरम्भकाल की पौराणिक कथा पर आधारित है । इसमे आर्य और नाग जाति के सघर्ष की कथा है । नाटक मे कलात्मकता गौण और चरित्र-चित्रण प्रधान है ।

(६) **अजात शत्रु**—इस नाटक मे मगध-सम्राट् बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु को केन्द्र मानकर महात्मा बुद्ध के समय का राजनीतिक चित्र खीचा गया है ।

(७) **चन्द्रगुप्त**—मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त इस नाटक का नायक है । इसमे तत्कालीन इतिहास का सुन्दरतम चित्र अकिन हो गया है । 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भूमिका ऐतिहासिक अनुसन्धान से परिपूर्ण है । लेखक ने दृढतर प्रमाणो से यह सिद्ध कर दिया कि सिकन्दर नन्द की विशाल सेना का सामना न कर सकने के कारण व्यास नदी से वापिस लौट गया ।

वह वीर मालव-जाति से युद्ध में पराजित और घायल भी हो गया था।

(८) **स्कन्दगुप्त**—इस नाटक मे गुप्तवशीय प्रतापी सम्राट् स्कन्द-गुप्त के समय का इतिहास है। स्कन्दगुप्त ने हूण-आक्रमणकारियो को भारत से निकालने के कितने प्रयत्न किये, इसके चित्रण के साथ-साथ आन्तरिक सघर्षो को भी नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(९) **ध्रुव-स्वामिनी**—पुनर्विवाह एवं नारी के व्यक्तित्व की समस्या को लेकर लिखा गया यह नाटक गुप्तवश के अस्तमन-समय का चित्र उपस्थित करता है। इस नाटक की अभिनेयता के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रसाद जी नवीनतम शैली के अनुरूप सफल अभिनेय नाटकों की सृष्टि करने मे समर्थ थे।

(१०) **राज्यश्री**—इस नाटक मे सम्राट् हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री को मुख्य पात्र मानकर हर्ष के समय का इतिहास अकित किया गया है।

'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त आदि नाटको मे जो राष्ट्रियता का स्वरूप है वह भारतीय आधुनिक राष्ट्रिय आन्दोलन से कई रूप मे समानता रखता है। फिर भी ऐतिहासिक नाटको मे सामयिक समस्याओ को पूर्ण अभिव्यक्ति नही मिल सकती है। इनके अतिरिक्त प्रसाद जी ने 'कामना' और 'एक घूँट' नाम के दो रूपक-नाटको की भी सृष्टि की। 'कामना' का मूल विषय भारतीय प्राचीन आदर्शों की विजय दिखाना है और 'एक घूट' का मूल विषय सात्विक प्रेम का प्रदर्शन करना है।

नाटककार प्रसाद ने अपनी प्रतिभा द्वारा इस दिशा मे प्रत्येक दृष्टि से अपने समकालीन तथा भावी नाटककारो का समुचित पथ-प्रदर्शन किया है।

(२) हरिकृष्ण प्रेमी

इनका जन्म सवत् १९६५ मे गुना (ग्वालियर) मे हुआ। आपका कार्य-क्षेत्र अधिकतर पंजाब रहा। अनेक वर्षो तक लाहौर मे रह कर

साहित्य-साधना करने के पश्चात् भारत-विभाजन होने पर आप इन्दौर आ गये किन्तु पजाब ने आपको फिर बुला लिया और वही आप आल-इण्डिया रेडियो स्टेशन, जालन्धर मे कार्य करने लगे ।

प्रेमी जी सफल नाटककार होने के साथ-साथ उच्च कोटि के कवि भी है। ऐतिहासिक नाटक-लेखको मे आपका स्थान बहुत ऊँचा है। आप के नाटको की सूची इस प्रकार है—

'रक्षाबन्धन', 'बन्धन', 'मित्र', 'स्वप्न-भग', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'विषपान' आदि।

एकांकी-संग्रह—'बादलो के पार तथा 'भाव प्राचीन' ।

प्रेमी जी के नाटको की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे रंगमच के सर्वथा उपयुक्त है। उनके ऐतिहासिक नाटको की कथावस्तु मुगल-काल से ली गई हैं। आप एक भावुक कवि और कलापूर्ण नाटककार हैं। आपका काव्य नाना धाराओ मे प्रवाहित हुआ है। उससे दीन-हीन मानवता के चीत्कार के अतिरिक्त राष्ट्र-प्रेम, छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद के गीत गाये गये हैं। आप अभाव और पीडा के आश्रय मे पलकर बडे हुए हैं, इससे आपकी कृतियो मे निर्मम वेदना का करुण भाव बडा मर्म-स्पर्शी बन पडा है। काव्य की भाँति आपके नाटको मे भी भावुकता, सरसता और सरलता की श्रेयस्कर मात्रा रहती है ।

इन के नाटको मे आत्मगौरव, देश-प्रेम और मान-मर्यादा की भावनाओ को चित्रित किया गया है। भाषा अत्यन्त रोचक और ओजस्वी है। उसमे भावो और दृश्यो के सजीव चित्र की पूरी-पूरी क्षमता रहती है। इनके कुछ नाटको का सक्षिप्त परिचय लीजिए—

(१) **रक्षाबन्धन**—इस नाटक मे दिखाया गया है कि मेवाड़ के स्वर्गीय महाराणा सग्रामसिह की महारानी कर्मवती ने हुमायूँ को पत्र लिखा कि गुजरात के सुलतान ने मेवाड के विरुद्ध आक्रमण कर दिया है, अत. मै तुम्हे यह राखी भेज रही हूँ, तुम मेरी सहायता करो। हुमायूँ सहायता के लिए चल पडता है पर समय पर नही पहुँच पाता और रानी अपनी

सैकडो राजपूत वीरागनाओ के साथ जौहर की पवित्र अग्नि मे जलकर भस्म हो जाती है ।

(२) **आहुति**—इसमे रणथम्भौर के महाराणा की शरणागत-वत्सलता दिखाई गई है । वे सम्राट् अलाउद्दीन के विरुद्ध रण ठानकर अपने प्राणो की आहुति दे देते है, किन्तु शरणागत महिमाशाह को उसके हाथो मे नही सौपते ।

(३) **छाया**—इस नाटक मे दिखाया गया है कि एक सफल एव प्रख्यात साहित्यकार का पूँजीपति प्रकाशक किस प्रकार शोषण करते है ।

(४) **बन्धन**—इसमे पूँजीपति तथा श्रमिको के सघर्ष का चित्रण किया गया है ।

(५) **स्वर्ण-विहान**—यह नाटक सामयिक राष्ट्रिय आन्दोलन की भावनाओ को बल देने के लिए लिखा गया है । इसमे हिसा पर अहिसा की विजय दिखाई गई है । गाधीजी के सत्य, प्रेम, अहिसा का इसमे नाटकीय रूप मे प्रतिपादन हुआ है ।

(६) **शपथ**—यह प्रेमी जी का सस्कृति-प्रधान ऐतिहासिक नाटक है । नाटक की कहानी बडी लम्बी है, इसका नायक विष्णुवर्धन सच्चा देश-भक्त क्षत्रिय वीर है । वह जनता तथा राष्ट्र के हित को सर्वोपरि समझता है ।

(७) **कीर्तिस्तम्भ**—इसमे लेखक ने महाराणा कुम्भा के ज्येष्ठ पुत्र सूरजमल के हृदय मे मेवाड के राजमुकुट को प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र और युद्ध का, तथा महाराणा रायमल के तीनो पुत्रो—सग्रामसिह, पृथ्वीराज और जयमल मे युवराज-पद पाने की प्रतिस्पर्धा का वर्णन किया है । नाटककार ने इसमे भीषण गृह-कलह का बडा प्रभावशाली यथार्थ चित्रण किया है ।

(८) **स्वप्न-भंग**—इस नाटक का मुख्य उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता ही है । औरगज़ेब के बडे भाई दारा ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का महान् स्वप्न देखा, पर उसका यह स्वग्न भग हो गया ।

(९) **शिवासाधना**—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है यह महाराजा शिवाजी की जीवन-घटनाओ पर आधारित नाटक है। इसमे हिन्दू-मुस्लिम एकता और राष्ट्रिय भावना का चित्रण उत्तम रूप मे प्रतिपादित हुआ है।

(१०) **प्रतिशोध**—इसमे बुन्देलखण्ड के वीर चम्पतराय व उनके पुत्र छत्रसाल की जीवन-घटनाओ का वर्णन है।

(११) **मित्र**—इस नाटक मे जैसलमेर के राजा और अलाउद्दीन के युद्धो का वर्णन किया गया है।

(१२) **विषपान**—इसमे मेवाड की सुन्दर राजकुमारी कृष्णा के आत्म-बलिदान की कथा वर्णित है।

प्रेमी जी के सभी एकाकी-नाटक प्राय इन्ही विषयो को लेकर लिखे गये हैं। जैसे कि 'मानमन्दिर' मे अपनी आन पर मर-मिटने वाले राजपूतो की कथा है। 'पश्चात्ताप' मे अछूतोद्धार सम्बन्धी सामयिक समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

प्रेमी जी के नाटको तथा एकाकी-नाटको की उपर्युक्त सूची तथा उसकी कथावस्तु से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि प्रेमी जी के अधिकतर नाटक ऐतिहासिक और विशेषत मुगलकाल से सम्बद्ध हैं। उनके नाटको मे साथ-साथ सामयिक समस्याओ का भी सुन्दर सामजस्य हुआ है।

(३) उदयशकर भट्ट

आपका जन्म उत्तर प्रदेश मे हुआ। जन्म सवत् १९५५ है। वर्षो तक आप लाहौर मे शिक्षा-क्षेत्र मे कार्य करते रहे। तत्पश्चात् आप आकाशवाणी केन्द्र देहली व नागपुर से सम्बद्ध रहे। आजकल आप आकाशवाणी-केन्द्र जयपुर मे है। आप एक सफल नाटककार है।

इनकी कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) **नाटक**—'दाहर', 'मत्स्यगन्धा', 'सगर विजय', 'अम्बा', 'कमला', 'अन्तहीन 'अन्त', 'विश्वामित्र', 'विक्रमादित्य', 'मुक्तिपथ', 'राधा', 'नया समाज', 'शक विजय', 'क्रान्तिकारी' आदि।

(ख) **एकांकी-संग्रह** (१) **समस्या का अन्त**—इसमे 'समस्या का अन्त', 'गिरती दीवारे', पिशाचो का नाच', 'बीमार का इलाज', 'आत्म-दान', 'जीवन वापसी', 'मन्दिर के द्वार', 'दो अतिथि'—ये नौ एकाकी सकलित हैं।

(२) **धूमशिखा**—इसमे 'धूमशिखा', 'विस्फोट', 'नया नाटक', 'नये मेहमान', 'अन्धकार' तथा 'अघटित'—ये छ एकाकी हैं।

(३) **कालिदास**—इसमे 'विक्रमोर्वशी', 'मेघदूत' और 'कालिदास' इन तीन ध्वनि-रूपको का सग्रह है। ये तीनो रेडियो-नाटक है। इनके अतिरिक्त भट्टजी का एक अन्य एकाकी सग्रह 'पर्दे के पीछे' है, जिसमे आठ सामाजिक एकाकी सकलित है।

इनके कुछ नाटको का परिचय लीजिए—

(४) **दाहर**—इसमे सिन्ध के महाराज दाहर पर मुहम्मद बिनकासिम के आक्रमण की कथा है।

(५) **अम्बा**—यह महाभारत पर आधारित नाटक है। काशीराज की कन्या अम्बा के प्रेम को तिरस्कृत करने के परिणामस्वरूप भीष्म को जो फल भोगना पडा उसका इस नाटक मे चित्रण किया गया है। अम्बा उस नारी का प्रतिनिधित्व करती है जो पुरुष की दासता की बेडियो को तोडकर अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार स्थापित करना चाहती है।

(६) **सगर-विजय**—इस पौराणिक नाटक मे सगर तथा उसकी विमाता का चरित्र अकित किया गया है। गृहकलह तथा षड्यन्त्र इस नाटक के कथानक की एक विशेषता है।

(७) **मुक्तिपथ**—राजकुमार सिद्धार्थ की घटना पर आधारित नाटक है।

(८) **मत्स्यगन्धा**, (९) **विश्वामित्र** और (१०) **राधा**—ये तीनो गीति-नाट्य है। 'मत्स्यगन्धा' मे भीष्म पितामह के पिता महाराज शान्तनु और सत्यवती के यौवन की विलास-लीलाएँ हैं। 'विश्वामित्र' मे विश्वामित्र और मेनका की प्रसिद्ध कथा है। नारी की वास्तविक शक्ति का

परिचय देने के लिए मेनका विश्वामित्र का तपोभग करती है। 'राधा' एक सुन्दर गीति-नाट्य है। इसमे प्रेम और मोह का सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

(११) **कमला**—यह एक सामाजिक नाटक है। बुड्ढा देवनारायण शिक्षित युवती कमला से विवाह करता है। इस प्रकार यहाँ भी नारी-समस्या ही प्रमुख है।

(१२) **शक-विजय**—यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमे शको द्वारा विजय, विजय का वर्णन है। अवन्तीराज गन्धर्वसेन ने आचार्य कालक की बहन को अपने अन्त पुर मे डाल लिया। जब किसी भी उपाय से उसने उसे मुक्त नही किया तो कालक ने शको को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। पहले तो शक विजयी हुए, कुछ समय उपरान्त वे भारतीय वीरो से पराजित हो गए।

(१३) **क्रान्तिकारी**—इस नाटक में भट्टजी ने सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद आदि क्रान्तिकारियो की जीवन-घटनाओ के आधार पर राष्ट्रिय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का सजीव चित्र अकित किया हैं।

नाटककार भट्ट के सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि उनके अधिकाश नाटक पौराणिक कथानको पर आधारित है, और अधिकाश एकाकी सामाजिक समस्याओ पर। पौराणिक कथानको पर आधारित नाटको मे भी इन्होने वर्तमान समस्याओ पर किसी-न-किसी रूप मे अवश्य सकेत किया है। उनके एकाकी समाज की दम्भपूर्ण व्यवस्था पर गहरा और व्यग्य-पूर्ण प्रहार करते हैं। भट्ट जी के नाटको की भाषा सरस और सर्वजन-सुबोध है। अधिकतर सवाद मनोरञ्जक और सशक्त है। भट्ट जी पुराने नाटककार है। इनकी रचनाओ ने नये नाटककारो का पथप्रदर्शन किया है।

(४) सेठ गोविन्ददास

सेठ जी का जन्म जबलपुर (मध्यप्रदेश) मे सवत् १९५३ मे एक

सम्भ्रान्त-परिवार मे हुआ था। आप कर्मठ देशभक्त एव हिन्दी-सेवी हैं। आजकल भारतीय ससद् के सदस्य के रूप मे हिन्दी को समुचित आदर दिलाने और उसके जयघोष के लिए सदा तत्पर रहते है। सेठ जी ने सौ से अधिक नाटको तथा एकाकी-नाटको का निर्माण किया है। इनमे से कुछेक के नाम ये है—

१ नाटक—

(क) **ऐतिहासिक**—'विकास', 'शशिगुप्त', 'हर्ष', 'कुलीनता', 'शेरशाह,' 'विश्वासघात' आदि।

(ख) **समस्यात्मक**—'बडा पापी कौन ?', 'त्याग या ग्रहण', 'हिसा या अहिसा', 'प्रेम या पाप', 'गरीबी या अमीरी', 'सेवापथ', 'महत्त्व किसे ?' आदि।

(ग) **जीवनात्मक**—'रहीम', 'भारतेन्दु', 'महात्मा' आदि।

(घ) **पौराणिक**—'कर्त्तव्य', 'कर्ण', 'स्नेह या स्वर्ग'।

(ङ) **सामाजिक**—'विश्व प्रेम', 'प्रकाश', 'नवरस', 'सिद्धान्त और स्वातन्त्र्य'।

२. एकांकी नाटक—

(क) **सामाजिक और समस्यात्मक**—'स्पर्द्धा', 'मानव-मन', 'हगर-स्ट्राइक', 'धोखेबाज़', 'अधिकार-लिप्सा' आदि।

(ख) **प्रहसन**—'भविष्यवाणी', 'विटेमिन' आदि।

(ग) **एकपात्र नाटक**—'शाप और वर', 'षट्दर्शन' आदि।

उक्त सूची से स्पष्ट है कि सेठ जी की गति नाटक की लगभग सभी प्रचलित विधाओ मे है और उनकी रचनाओ का वर्ण्य-विषय भी विविधता-पूर्ण है। उनकी कुछेक रचनाओ का परिचय लीजिए—

(१) **हर्ष**—इस नाटक का कथानक सम्राट् हर्षवर्धन से सम्बद्ध है।

(२) **शशिगुप्त**—यह नाटक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन-काल

से सम्बद्ध है। इसमे चाणक्य का चरित्र भी खूब विकसित हुआ है। इसमे यह दिखाया गया है कि पोरस और सिकन्दर के युद्ध मे पोरस नही प्रत्युत सिकन्दर ही पराजित हुआ था।

(३) **कुलीनता**—यह समस्या-प्रधान ऐतिहासिक नाटक है। मध्ययुग की सामाजिक झलक दिखाते हुए इसमे अछूतो की समस्या पर भी प्रकाश डाला गया है। नाटक का नायक यदुराय नीच कुलोत्पन्न होने के कारण कुलीन लोगो से अपमानित होता है।

(४) **सेवा-पथ**—इस नाटक मे सेवा-पथ की कठिनाइओ का चरित्र-चित्रण है। नाटक का नायक दीनानाथ एक निर्धन युवक है जो सेवा व त्याग के सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप देता है।

(५) **सिद्धान्त और स्वातन्त्र्य**—यह सेठजी का सबसे पहला समस्या-नाटक है। इस नाटक का नायक सेठ चतुर्भुजदास, जो कि एक बडा धनी जमीदार है, एक वात्सल्यपूर्ण पिता और पितामह के रूप मे चित्रित किया गया है। उसके जीवन का एकमात्र सिद्धान्त यही था कि उसका पुत्र और पौत्र सुखी रहे।

(६) **स्नेह या स्वर्ग**—यह सेठ जी का एक उत्कृष्ट गीति-नाटक है। इसका मूल विषय होमर के 'इलियड' से लिया गया है, परन्तु नाटककार ने इसमे पूर्णतया भारतीय रग भर दिया है। नाटक का कथानक प्रेम तथा उसके प्रति नारी-हृदय की प्रतिक्रियाओ की शाश्वत समस्याओ पर आधारित है।

(७) **नवरस**—यह प्रतीकवादी नाटक है। युद्ध और शान्ति की समस्या का कलापूर्ण एव रोचक शैली मे विवेचन हुआ है। इस मे काव्यशास्त्रीय नौ रसो को मूर्त्त रूप मे उपस्थित किया गया है। उदाहरणार्थ, वीरसिह वीर रस का प्रतीक है, रुद्रसेन रौद्र रस का और भीम भयानक रस का। इसी प्रकार प्रेमलता शृगार रस की प्रतिनिधि है, लीला 'हास्य रस' की और शान्ता तथा करुणा क्रमश 'शान्त और करुण' रसो के। इनके मानवीकरण द्वारा लेखक ने युद्ध और शान्ति की

समस्या पर कलापूर्ण एव रोचक शैली से प्रकाश डाला है।

इस प्रकार बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न सेठ जी के नाटको मे मानव-जीवन की अनेक घटनावलियो को विभिन्न रूप-रगो और विधाओ मे सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है। सेठ जी ने स्वदेश-विदेश के नाटको का अच्छा मन्थन किया है, इस कारण उनको नये प्रयोग करने मे पर्याप्त रुचि है और वे इन प्रयोगो मे सफल भी हुए हैं। सेठ जी की भाषा सरस और विषयानुसारिणी है, तथा सर्वजन-सुबोध है। सेठ जी के नाटक सामान्य जनता के लिए है।

(५) रामकुमार वर्मा

आपका जन्म सवत् १९६२ मे मध्यप्रदेश मे हुआ। आप प्रयाग-विश्व-विद्यालय मे हिन्दी-अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। हिन्दी-नाटक-कारो, विशेषत एकाकी-नाटककारो मे आपका नाम भी आदर के साथ उल्लेखनीय है। इनके नाटको की सूची इस प्रकार है—

(१) **नाटक**—'सत्य का स्वप्न' और 'शिवाजी'।

(२) एकाकी नाटक तथा सग्रह |

'आठ एकाकी नाटक', 'इन्द्र-धनुष', 'रजत-रश्मि', 'रेशमी टाई', 'सरस एकाकी नाटक-सग्रह', 'सप्तकिरण', 'चार ऐतिहासिक एकाकी', 'कौमुदी महोत्सव', 'ध्रुवतारिका', ऋतुराज', 'पृथ्वीराज की आँखे'। कुछ सग्रहो मे सकलित एकाकियो के नाम ये हैं—

(१) **चार ऐतिहासिक एकांकी** मे 'राजरानी सीता', 'औरगजेब की आखिरी रात', 'समुद्रगुप्त पराक्रमाक' और 'सम्राट् विक्रमादित्य' ये चार एकाकी सकलित हैं। 'राजरानी सीता' मे अशोक वाटिका मे सीता की दशा का चित्रण किया गया है। 'औरगजेब की आखिरी रात' मे नवासी वर्ष के बूढे औरगजेब की अन्तिम दीन दशा का मार्मिक चित्रण है। अन्तिम क्षणो मे उसके हृदय मे भी मानवता की भावना जागृत हो उठती है। उसे अपने जन्मभर के कृत्यो पर पश्चात्ताप हो रहा है।

(२) **ऋतुराज** मे 'कादम्ब या विष', 'स्वर्ण श्री', 'भरत का भाग्य', 'ज्यो की त्यो धर दीनि चदरिया' और स्वागत ऋतुराज—ये पाँच एकाकी सग्रहीत हैं।

(३) **रजतरश्मि** मे 'प्रतिशोध', 'तैमूर की हार', 'दुर्गावती', 'औरगजेब की आखिरी रात','कलंक रेखा'—ये पाँच एकाकी सकलित है।

इस सूची से स्पष्ट है कि वर्मा जी प्रमुखत एकाकी-लेखक हैं। उनके कुछ एकाकी नाटको का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(४) **परीक्षा** एक सुन्दर सामाजिक एकाकी है। शिक्षित युवती रत्ना अपने पचास-वर्षीय वृद्ध पति को भी हृदय से प्रेम करती है। और समय आने पर उसका बुढापा वह स्वय ग्रहण करने के लिए उद्यत हो जाती है। इस प्रकार 'परीक्षा' मे आदर्श भारतीय नारी को सर्वथा उत्तीर्ण होते दिखाया गया है।

(५) **समुद्रगुप्त-पराक्रमांक** मे समुद्रगुप्त के भाण्डागार से दो रत्न चोरी हो जाने का सुन्दर ढग से वर्णन किया गया है।

(६) **सम्राट् विक्रमादित्य** मे शको के शत्रु विक्रमादित्य के शासनकाल की घटना का वर्णन है।

(७) **कौमुदी-महोत्सव** नाटक का कथानक चन्द्रगुप्त और चाणक्य के चरित्रविकास के आधार पर निर्मित है। लेखक का विश्वास है कि उसने इतिहास के इन दोनो प्रसिद्ध पात्रो का चरित्र स्वाभाविक ढग से चित्रित किया है।

(८) **ध्रुव तारिका** का कथानक मारवाड के महाराज जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिह की जीवन-घटना पर आधरित है। अकबर की पौत्री का अजीतसिह से प्यार हो जाता है, पर वीर सेनापति दुर्गादास के समझाने से इनका प्रेम भाई-बहन के प्रेम मे परिवर्तित हो जाता है।

(९) **कादम्ब या विष** मे सम्राट् कुमारगुप्त की रानी अनन्त देवी के षड्यन्त्रो का वर्णन है।

(१०) **स्वर्णश्री** मे अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का वध शुग

सेनापति पुष्यमित्र द्वारा दिखाया गया है।

(११) **भरत के भाग्य** मे भरत का भ्रातृ-प्रेम दिखाया गया है। 'ज्यो की त्यो धर दीनी चदरिया' एकाकी कबीर के जीवनवृत्त पर आधारित है।

(१२) **स्वागत है ऋतुराज** मे हिन्दी के चारो कालो के प्रमुख कवियो द्वारा ऋतुराज वसन्त को श्रद्धाजलि भेट करते हुए अनुरोध किया गया है कि वह समस्त विश्व के अणु-अणु को आनन्द और उल्लास से भर दे।

उक्त एकाकियो को यदि उनकी रचना के काल-क्रमानुसार देखे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कथानक की दृष्टि से वर्मा जी की प्रवृत्ति सामाजिक रोमास से हटकर उत्तरोत्तर ऐतिहासिकता की ओर विशेष होती जा रही है। वर्मा जी के एकाकी कई गुणो के कारण बडे महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम तो वे रगमच के लिए सर्वथा उपयोगी है, उनका अभिनय अनायास हो सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि लेखक अभिनय-कला और उसके निर्देशन से पूर्णत अभिज्ञ है। वे अपने नाटको मे सकलनत्रय—स्थान, काल और कार्य की एकता का यथासम्भव ध्यान रखते है। उनमे पात्र भी परिमित होते है। इनके नाटको मे औत्सुक्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वर्मा जी आदर्शवादी नाटककार हैं। वे एकाकी के माध्यम से समाज को उज्ज्वल सन्देश देना चाहते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्मा जी पहले एकाकीकार है, जिन्होने अपनी रचनाओ मे विदेशी शिल्प-विधान (टैकनीक) का निर्वाह किया है और उसमे सफल भी हुए है।

(६) लक्ष्मीनारायण मिश्र

मिश्र जी हिन्दी के प्रमुख नाटककारो मे से हैं। आपने कविता के साथ साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया किन्तु बाद मे जॉर्ज बर्नार्डशा और इब्सन के नाटको से प्रभावित होकर आपने नाटक-क्षेत्र को अपना लिया।

आपकी पहली नाटकीय रचनाएँ बडे नाटको के रूप मे उपलब्ध हुई है। आकाशवाणी-केन्द्र से सम्बद्ध हो जाने के पश्चात् आप एकाकी की ओर प्रवृत्त हुए।

आपकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

नाटक—'सन्यासी,' 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'आधी रात', 'गरुडध्वज',' नारद की कथा', 'वत्सराज', 'दशाश्वमेध', 'वितस्ता की लहरें', 'कवि भारतेन्दु', 'चक्रव्यूह'।

एकांकी—'अशोक वन', 'प्रलय के पख पर', 'कावेरी मे कमल', 'मनु' आदि।

मिश्र जी प्रमुखत समस्या-मूलक नाटको के लेखक है और उन समस्याओ में भी आप विवाह तथा काम सम्बन्धी समस्याओ पर ही अधिकतर लिखते रहे है। इधर 'वत्सराज' 'दशाश्वमेध', 'वितस्ता की लहरें' आदि नाटको के द्वारा आपने यह सिद्ध कर दिया है कि केवल समस्या-प्रधान नाटको मे ही नही वरन् प्रसाद जी के समान उच्चकोटि के ऐतिहासिक नाटक-लेखन की क्षमता भी आप मे विद्यमान है। इनके कतिपय नाटकों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **संन्यासी**—यह मिश्र जी का पहला नाटक है। इसमे इन्होने पात्रो द्वारा इस निष्कर्ष पर बल दिया है कि भावुकता की अपेक्षा बुद्धि एवं विवेक से प्रत्येक समस्या का हल ढूँढना चाहिए।

(२) **राक्षस का मन्दिर**—यह नाटक नारी-समस्या-प्रधान है। इसमे समाज के झूठे आडम्बर और अभिमान-भरे जीवन पर कुठाराघात किया गया है।

(३) **मुक्ति का रहस्य**—इसमे विवाह जैसी पवित्र सस्था के विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ उठाई गई है। आशा उमाशकर के घर मे रहती है और उससे प्रेम करती है, वह उसे पाने के लिए उसकी चिर-रोगी पत्नी को डॉक्टर से मिलकर मरवा देती है, किन्तु बाद मे वह उसी डॉक्टर के प्रति आकर्षित हो जाती है और अन्त मे उसी से विवाह कर लेती है।

उमाशकर भावावेश मे आकर सब धन-दौलत छोड एकान्त मे रहने लगता है, और इसी त्याग मे वह मुक्ति का रहस्य ढूँढता है।

(४) **राजयोग और** (५) **सिन्दूर की होली**—ये दोनो नाटक भी नारी-समस्या पर आधारित है। इन नाटको के प्रमुख स्त्रीपात्र साहसी, प्रगल्भ और निर्भीक हैं। पर उनके काम तथा प्रेम के व्यावहारिक दृष्टि-कोण से रूढिवादी हिन्दू सहमत नही हो सकता। उदाहरणार्थ 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा बाल-विधवा है। वह भारतीय दृष्टि से अपने वैधव्य धर्म का कुछ भी महत्त्व नही समझती और अपने प्रेमी से स्पष्ट कह देती है कि "मै तुम्हे अपना दूल्हा तो नही बना सकती पर प्रेमी अवश्य बना लूँगी।"

(६) **वत्सराज**—यह मिश्र जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है, इसके नायक उदयन एक बडे वीर कलाप्रिय महाराज हैं, जिन्होने अपनी वीणावादन की कला से अवन्ती के महाराज की पुत्री वासवदत्ता का हृदय हर लिया था। इसके प्रथम दो अको का कथानक भास के प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' पर आधारित है। परन्तु तीसरा अक सर्वथा मौलिक है और यही इस नाटक का प्राण है।

(७) **दशाश्वमेध**—यह भी मिश्र जी का ऐतिहासिक नाटक है। इसमे कुशाण साम्राज्य के पतनकाल का दृश्य अकित किया गया है। भारशिव नाग ने कनिष्क द्वितीय के समय कुशाण-शक्ति को भारत से, विशेषत मथुरा से, भगाने मे बडा भाग लिया था। भारशिव नाग के वीरसेन की वीरता का उल्लेख इस नाटक मे विशेष रूप से किया गया है। कुशाण राजकुमारी कौमुदी नागवीर वीरसेन पर मोहित हो जाती है और उसी से विवाह कर लेती है। अन्य नाटको मे भी 'सैक्स' की समस्या को नही भूले।

(८) **कवि भारतेन्दु**—जैसा कि इसके नाम से विदित होता है यह भारतेन्दु जी के जीवनवृत्त पर आधारित नाटक है।

(९) **चक्रव्यूह**—यह मिश्र जी का पौराणिक नाटक है। महाभारत

के युद्ध मे चक्रव्यूह मे फँसकर अभिमन्यु के मर जाने का वर्णन है।

मिश्र जी के ऐतिहासिक नाटको की भाषा तद् तद् युग के अनुरूप सस्कृतनिष्ठ है परन्तु विशेषता यह है कि प्रसाद जी की भाषा के समान क्लिष्ट नही है। यद्यपि इनके नाटको मे घटनाओ की अल्पता विशेष रूप से लक्षित होती है, पर इनके मनमोहक सवादो का पाठको पर ऐसा प्रभाव पडता है, कि घटनाओ की अल्पता की ओर पाठको का ध्यान ही नही जाता।

एकांकी—समस्या-नाटको के लब्धप्रतिष्ठ लेखक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपनी प्रतिभा को एकाकी-लेखन की ओर भी प्रवृत्त किया। इनके तीन सुन्दर एकाकी-सग्रह निकल चुके है —'अशोक वन', 'प्रलय के पख पर' और 'कावेरी मे कमल'।

'अशोक वन' मे गौतम बुद्ध के समकालीन वत्सराज उदयन के काल तथा जीवन की कतिपय घटनाओ का वर्णन है।

'प्रलय के पख पर' मे गृहस्थ-जीवन की सामान्य समस्याओ का चित्रण किया गया है।

''कावेरी मे कमल'' मे मिश्र जी के तीन प्रौढ एकाकी सम्मिलित हैं।

(७) उपेंद्रनाथ अश्क

इनका जन्म सवत् १९६७ मे जालन्धर मे हुआ। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। नाटक, एकाकी-नाटक एव उपन्यासो के अतिरिक्त इन्होने कविता, कहानी, सस्मरण आदि सभी कुछ लिखा है। इनके नाटको की सूची इस प्रकार है—

नाटक—'अलग-अलग रास्ते', 'अजो दीदी', 'कैद और उडान', 'जय-पराजय' 'पैतरे, 'छठा बेटा,' 'स्वर्ग की झलक'।

एकांकी—'आदि मार्ग,' 'पक्का 'गाना,' 'प्रतिनिधि एकाकी', 'परदा उठाओ परदा गिराओ' 'चरवाहे', 'तूफान से पहले', 'देवताओ की छाया'मे'।

(१) **'जय पराजय'** अश्क जी का प्रथम नाटक है। यह मेवाड

के इतिहास से सम्बद्ध है। नाटक के नायक चण्ड का चरित्र जय और पराजय के बीच निरन्तर सघर्ष का एक सुन्दर उदाहरण है। मडोवर-नरेश महाराणा लाखा के पुत्र चण्ड के साथ अपनी बेटी हसा की सगाई के लिये नारियल भेजते है, पर हँसी-हँसी मे उस नारियल की चर्चा महाराणा अपने लिए कर बैठते है, फलत चण्ड हसा का विवाह लाखा से करवा देता है और स्वय अजन्मा ब्रह्मचारी रहकर अन्त मे मेवाड भी छोड जाता है। चण्ड की इस त्याग-भावना तथा देशभक्ति का इस नाटक मे बडा ही सुन्दर चित्रण किया गया है।

(२) **स्वर्ग की झलक**—यह एक सामाजिक समस्या-प्रधान नाटक है। जहा एक ओर अशिक्षित नारी समाज के लिए अभिशाप है वहाँ दूसरी ओर उच्च शिक्षा-प्राप्त फैशनेबुल युवतिया भी समाज को पतन की ओर ले जा रही है।

(३) **छठा बेटा**—इस नाटक मे उन पुत्रो का चित्रण किया गया है जो वृद्ध पिता की सेवा नही करते, और उधर पिता उस पुत्र पर आशा लगाये बैठा है, जो उसे शायद फिर कभी न मिल सके। नाटक अत्यन्त रोचक है, और नाटकीय विशेषताओ से पूर्ण है।

(४) **पैतरे**—यह एक मनोरजक नाटक है जिसे लेखक ने अपने वैयक्तिक जीवन की घटना के आधार पर लिखा है। कही मकान न मिलने के कारण कादिर साहब रशीद भाई की दुकान मे डेरा डाल देते है। रशीद भाई उससे तग आकर शाहबाज के यहाँ चले जाते है। बेचारा शाहबाज रशीद भाई को अपना मकान सौपकर स्वय मकान के बाहर सीढियो के पास जाकर सो जाता है। जहाँ उसे सोता हुआ देखकर पडोसी का नौकर पहले तो हैरान हो जाता है और फिर उसी के पास अपने प्रति-दिन के स्थान पर बिस्तर लगाकर सो जाता है। इसके साथ-साथ अश्क जी ने बडे विनोदपूर्ण ढग से फिल्मी दुनियाँ की हास्यमयी झलक भी प्रस्तुत की है जिसमे बहुत कुछ यथार्थ और वास्तविकता है। इस जगत् मे स्वार्थ का अधिकार है, कोई किसी का मित्र नही, भाई नही।

इस जगत् मे पैतरेबाजी बदल कर ही मानव अपनी उन्नति कर सकता है। उसे अपनी आत्मा का हनन करना पडता है, अपने चरित्र से हाथ धोना पडता है। इस प्रकार इस जगत् मे प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले तीव्र प्रकाश के पीछे घोर अन्धकार है।

(५) **अलग-अलग रास्ते**—उसमे विवाह-समस्या को बडे ही अच्छे ढग से सुलझाया गया है। यह उच्चकोटि का सामाजिक नाटक है।

एकांकी नाटक—

(६) **देवताओ की छाया में**—अश्क जी ने बहुत सुन्दर एकाकी नाटक भी लिखे है। इस नाम के सग्रह मे सात एकाकी हैं, जिनमे 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' बडे ही रोचक एव प्रसिद्ध है। 'छठा बेटा' भी इसी मे सम्मिलित है। 'लक्ष्मी का स्वागत' लेखक के अपने जीवन से सम्बद्ध है। इसमे दिखाया गया है कि समाज मे नारी का कोई मूल्य नही। घर मे पहली पत्नी मरी पडी है कि लोग अपनी-अपनी लडकियो के साथ उसी व्यक्ति की सगाई की बाते करने लगते है। इस प्रकार समाज के इस हृदयहीन वर्ग का इस नाटक मे बडा सुन्दर चित्र अकित किया गया है।

(७) **अधिकार का रक्षक**—इस नाटक मे दिखाया गया है कि बडे आदमियो के कथन मे और व्यवहार मे कितना अन्तर होता है। मिस्टर सेठ अछूतो के, स्त्रियो के, विद्यार्थियो के, नौकरो के अधिकारो के रक्षक बने फिरते है, पर घर मे इन सब पर अत्याचार करते हैं।

अश्क जी के अधिकाश नाटक तथा एकाकी अभिनय की दृष्टि से सफल है, तथा अत्यन्त लोकप्रिय है।

(८) विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर का जन्म सवत् १९६९ मे मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) मे हुआ। आजकल विष्णु जी देहली मे रहते है। आप प्रमुख रूप से गद्य-लेखक हैं। कहानी, उपन्यास, नाटक-लेखन को ही आपने अपने

जीवन का ध्येय बनाया हुआ है। नई पीढी के साधना-रत कलाकारो मे आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्राय इनके नाटको के कथानको की सामग्री प्रतिदिन के जीवन से जुटाई जाती है। इसीलिए इनके नाटको को पढते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो पाठक अपना और अपने परिवार का ही चित्र देख रहा है।

नाटक—'समाधि', 'चन्द्रहार' तथा 'गोदान' का नाट्य-रूपान्तर।

एकांकी—'क्या वह दोषी था', 'इनसान' तथा अन्य एकाकी।

(१) **चन्द्रहार**—यह प्रेमचन्द जी के उपन्यास गबन का एक सुन्दर रूपान्तर है। विष्णु जी ने उपन्यास को नाटक का रूप देते हुए अत्यन्त सूक्ष्मदर्शिता से काम लिया है। मूल उपन्यास, कथावस्तु, पात्र और सवाद आदि को सुरक्षित रखते हुए उन्होने अनावश्यक घटना-विस्तार को बडी सावधानी से छाँट दिया है।

(२) **गोदान का नाट्य-रूपान्तर**—इसमे भी उक्त कला-कौशल से काम लिया गया है।

विष्णु जी के एकाकी तो बहुत ही सुन्दर और प्रभावशाली है। लेखक को इनके द्वारा मानसिक सघर्ष को व्यक्त करने मे बडी सफलता मिली है।

(३) **संस्कार और भावना**—इसमे पुरानी रूढियो के जर्जरित होने व मानवीय भावनाओ के विकास की कथा कही गई है। अतुल का भाई अविनाश अन्तर्जातीय विवाह कर लेता है, अत उसकी पुराने विचारो वाली माँ उन्हे अलग कर देती है और उसका मुँह भी देखना पसन्द नही करती। कुछ दिनो बाद अविनाश की बहू की बीमारी की सूचना पाकर उसका हृदय पसीज जाता है और वह अविनाश को वापस अपने घर बुला लाती है।

(४) **विभाजन**—इसमे दिखाया गया है कि सम्पत्ति का बँटवारा भाई-भाई के प्रेमबन्धन को छिन्न-भिन्न कर देता है, पर देवर-भाभी के हृदय मे जो पवित्र स्नेह की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है वाणी के

व्यग्य-वाण उसका कुछ नही बिगाड सकते। यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्था ने गृह-कलह को जन्म दिया है, पर प्राचीन भारत की सम्मिलित कुटुम्ब की भावना इस कलह को निर्मूल कर सकती है—यह इस नाटक का उद्देश्य है।

आल इण्डिया रेडियो मे कार्य करते हुए आपने कई रेडियो-रूपक भी लिखे। जिनमे से 'मुरब्बी' का कथानक ग्रामजीवन से सम्बद्ध है। इस रेडियो-रूपक मे दिखाया गया है कि मुरब्बी गाँव का एक सहृदय और स्वाभिमानी दुकानदार है। सुशीलता, सहानुभूति तथा मधुर वचन उसकी दुकानदारी के प्रमुख अग हैं। आज की विकृत सभ्यता मे पला मुरब्बी का पुत्र देवी उसके स्वाभिमान की उपेक्षा करता है और उसका पौत्र राधे तो मुरब्बी के मित्र मुनव्वर पर मुकदमा करने को तैयार है, क्योकि उसने कुछ उधार लिये हुए रुपये नही लौटाये। इसी मुनव्वर ने किसी समय मुरब्बी की सहायता की थी। भला गाँव का एक सरल-हृदय व्यक्ति अपने ही निकटसम्बन्धी द्वारा अपने मित्र को जेल भिजवाते हुए कैसे देख सकता है, उसके हृदय की इसी उधेड-बुन का चित्र इस एकाकी मे अकित किया गया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विष्णु के नाटक घरेलू जीवन से लिये गये हैं और उनमे विष मे से अमृत निकाल लेने की कोशिश की गई है। आज हमारा सामाजिक और पारिवारिक जीवन अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा है। कही भाई-भाई मे, कही बाप-बेटे मे, कही पति-पत्नी मे छोटे-छोटे कारणो से सघर्ष होते रहते हैं। उस सघर्ष की कठिनता को मगल और मोद की मधुरता मे परिवर्तित करने के लिए इस कलाकार को सदा सचेष्ट और प्रयत्नशील देखकर पाठक का मन-मयूर नाच उठता है। यथार्थ का चित्रण करते हुए भी विष्णु जी की लेखनी पाठक को आदर्श सन्देश दे जाती है, उसके हृदय पर भारतीयता की स्थायी छाप छोड जाती है।

कहानी तथा उपन्यास

(क) कहानी

उपक्रम—

हिन्दी मे आधुनिक कहानी-कला का विकास सस्कृत आख्यान-परम्परा से मानना समुचित नही है। निस्सदेह सस्कृत मे कहानी-साहित्य का अभाव नही है, यहाँ तक कि वैदिक भाषा मे—वैदिक सूक्तो, ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा उपनिषद्-ग्रन्थो मे—भी कहानियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, तथा आगे चलकर सस्कृत-भाषा मे 'बृहत्कथा-सरित्सागर', 'पचतन्त्र', 'हितोपदेश' आदि के रूप मे कहानियो का अस्तित्व है, पर हिन्दी-कहानियो की शृखला सस्कृत-कहानी-साहित्य से जोडना युक्ति-सगत नही है, क्योकि न तो सस्कृत-कहानी की परिभाषा हिन्दी-कहानी पर पूरी तरह से घटती है और न सस्कृत से हिन्दी-कहानी तक—इस मध्यवर्ती काल मे—इन्हे जोडने वाली कोई कहानी उपलब्ध है।

वस्तुत हिन्दी मे आधुनिक कहानियो का जन्म बँगला-कहानियो के अनुकरण पर हुआ है, जो स्वय अग्रेजी कहानी-कला पर निर्मित हुई है। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-कहानी भी शिल्प-विधान की दृष्टि से परम्परागत रूप से अग्रेजी-कला की अनुगामिनी है। इसी विधान के आधार पर निर्मित 'इन्दुमती' को, जिसका प्रकाशन सन् १९०० (सवत् १९५७) मे 'सरस्वती'-पत्रिका मे हुआ था, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रथम मौलिक आधुनिक हिन्दी-कहानी स्वीकार किया है। इससे पूर्व भी यद्यपि मौलिक कहानियाँ निर्मित हो चुकी थी पर वे आधुनिक कला की कसौटी पर पूर्ण नही उतरती। उनके नाम है—'रानी केतकी की कहानी' (इशा अल्ला खॉ), 'राजा भोज का सपना' (राजा शिवप्रसाद), तथा 'सब मिट्टी हो गया' (माधव मिश्र)। इनके अतिरिक्त अम्बिकादत्त व्यास-रचित 'आश्चर्य-वृत्तान्त' उपन्यास-कोटि मे भले ही आ जाय, पर वह आधुनिक कहानी (शॉर्ट स्टोरी) नही है। अत भारतेन्दु से पूर्व तथा

पूरे भारतेन्दु-युग मे आधुनिक कहानी-निर्माण का अभाव ही समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह कि 'इन्दुमती' के प्रकाशन से पूर्व जो भी कहानियाँ उपलब्ध है, वे आधुनिक कहानियो की तुलना मे निम्न-कोटि की है। उनके निम्नलिखित दोष स्वत स्पष्ट हैं—

(क) वे कहानियाँ आकार मे भारी-भरकम हैं, पर आधुनिक कहानियाँ ऐसी नही है।

(ख) उन कहानियो मे वस्तुवर्णन भी बडा बोझल है, आधुनिक कहानियाँ इस दोष से सर्वथा मुक्त है।

(ग) उन कहानियो मे अतिमानवीय चरित्र है, जो कि इन कहानियो मे नही है।

(घ) उन कहानियो का सम्बन्ध समाज से नही है, पर आधुनिक कहानियाँ समाज की पूरी गतिविधि को आत्मसात् किये है।

प्रसाद-युग तथा प्रसाद-युगोत्तरकालीन कहानीकार—

'इन्दुमती' के प्रकाशन-काल अर्थात् सन् १९०० के उपरान्त जिन कहानीकारो ने साहित्य-सेवा की है, उन्हे इस युग के लगभग ५ दशको मे विभक्त कर सकते हैं—

प्रथम दशक मे ये कहानीकार उदित हुए—माधव मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी, भगवानदास, गिरिजादत्त वाजपेयी, बगमहिला, छबीलेलाल गोस्वामी, गिरिजाकुमार घोष।

दूसरे दशक के कहानीकार ये हैं—जयशकर प्रसाद, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकाप्रसादसिह, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, प० चन्द्रधर गुलेरी, प्रेमचन्द, रायकृष्णदास, चडीप्रसाद 'हृदयेश' और सुदर्शन।

तीसरे दशक के कहानीकार ये हैं—वृन्दावनलाल वर्मा, मोहनलाल नेहरू, रघुपतिसहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, बेचन शर्मा 'उग्र', विनोद-शंकर व्यास, राजेश्वरप्रसादसिह, जनार्दन झा 'द्विज', वाचस्पति पाठक,

दुर्गादास भास्कर, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, ऋषभचरण जैन, पृथ्वीनाथ शर्मा और इलाचन्द्र जोशी।

चौथे दशक के कहानीकार ये हैं—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रा-नन्दन पत, मोहनलाल महतो, श्रीराम शर्मा, श्रीनाथसिह, सद्गुरुशरण अवस्थी, सत्यजीवन वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, 'अज्ञेय', धर्मवीर, प्रभाकर माचवे, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और यशपाल।

सन् १९४० के उपरान्त तक अनेक नवीन कहानी-लेखक उदित हुए। इन सब का नामाकन कठिन है। इनमे से कतिपय प्रसिद्ध कहानीकार ये हैं—देवेन्द्र सत्यार्थी, अमृतराय, रागेय राघव, विष्णु प्रभाकर अचल, लक्ष्मीनारायण सुधाशु, ख्वाजा अहमद अब्बास, अख्तर हुसैन रायपुरी, रामवृक्ष बेनीपुरी, जयनाथ नलिन, राहुल साँकृत्यायन, मोहनसिह सेगर, योगीश्वर गुलेरी आदि।

इनके अतिरिक्त महिला-कहानी-लेखिकाओ मे शिवरानी देवी, सुभद्रा-कुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मलिक, होमवती देवी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि के नाम विशेषत उल्लेख-नीय हैं।

प्रसाद-युग मे जितने सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक हैं, वे सब-के-सब बीसवी शती के दूसरे दशक मे उदय हो गये थे। मुशी प्रेमचन्द सन् १९१६ मे धनपतराय से 'प्रेमचन्द' नाम बदलकर उर्दू से हिन्दी मे आये थे। सन् १९१७ मे सुदर्शन भी उर्दू से हिन्दी मे आये थे। प्रसाद स्वय सन् १९११ मे 'ग्राम्या' लिखकर कहानी-क्षेत्र मे उतर चुके थे। कहने का साराश यह है कि द्विवेदी-युग मे जिन कहानीकारो का आगमन हुआ था, उनकी कला का पूर्ण विकास प्रसाद-युग मे हुआ।

विशिष्टताएँ—

इस युग मे १०० से ऊपर कहानी-लेखक साहित्य-क्षेत्र मे आये, जिनमे ४० के लगभग कहानीकार उच्च आसन पर आसीन किये जा

सकते हैं। अब विभिन्न दृष्टियों से इस युग की कहानी-कला का समीक्षात्मक परिचय लीजिए—

(क) **शिल्प-विधान**—आज की कहानी शिल्प-विधान की दृष्टि से उत्तरोत्तर दृढ बनती जा रही है। आदि, मध्य और अन्त का सघटन, समुचित वातावरण के अनुकूल पात्रो का चारित्रिक उत्थान-पतन, भावो का क्रमिक उन्मेष, सतुलित वार्तालाप—ये आज की कहानी की टैकनिकल विशेषताएँ हैं।

(ख) **सुधारवाद**—भारतेन्दु-युग के नाटको मे समाज के कुत्सित पक्ष के प्रति जो विद्रोह प्रकट किया गया था, उसने प्रसाद-युग मे आकर कहानी मे अपना स्थान बनाया। सुधारवाद उपदेशकीय ढग का न होकर व्यग्यात्मक ढग का है। कही-कही कुत्साओ का केवल उद्घाटन-मात्र हुआ है और कही-कही उन पर करारी चोट भी की गई है। सुधार-वाद की धुन मे इनमे अधिकाशत कहानीपन भी नष्ट नही हुआ। इन कहानियो मे बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, नारी, अस्पृश्यता, नवीन जीवन के प्रति आग्रह—आदि अनेक पहलुओ का परोक्ष रूप से उन्मेष हुआ है—और सचमुच परोक्ष उन्मेष ही कहानी-कला का प्रमुख गुण है।

(ग) **यथार्थ जीवन**—आज की कहानियो के पात्र हमारे लिए अज-नबी पात्र नही हैं। हमारे पास-पडोस अथवा गॉव के निवासी, रोज के देखे-भाले, हाड-मॉस के पुतले, दु ख-सुख मे उलझे हुए पात्र ही इन कहानियो मे दीख पडते हैं, दैवी या अतिमानवी चरित्र के कारण वे हमसे दूर नही है। वे हमारे निकट हैं और हम उनके निकट।

(घ) **यथार्थवाद आदर्शवाद**—इस युग के थोडे कलाकार ऐसे भी निकल आयेगे, जो 'आदर्शवाद' पर आस्था रखते है, अन्यथा 'यथार्थवाद' पर निष्ठा रखने वाले कहानीकारो की सख्या निस्सदेह बहुत है। आज की ठोस आर्थिक आवश्यकताएँ हमे 'आदर्श' से बहुत दूर तथा 'यथार्थ' के बहुत निकट लाती हैं। मानव की यह लाचारी मानो प्रत्येक कहानी पर अंकित है, जिसे समालोचक 'यथार्थवाद' कहते है। हॉ, प्रेमचन्द जैसे

प्रख्यात कलाकार भी है, जिनकी कहानियो मे आदर्शवाद और यथार्थवाद का अद्भुत मिश्रण है, जिसे हम 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहते है ।

(ङ) **भाषा**—इन नई कहानियो मे से अधिकाश की भाषा सजीव, सशक्त तथा सम्बद्ध है । थोडे शब्दो मे बहुत-कुछ कह देने की कला इसमे है । वाक्य-विन्यास सयत है ।

इन कलाकारो मे कुछ तो निश्चित ही प्रगतिवादी कलाकार है, अन्य कलाकार प्रगतिवाद के समर्थन मे दो-चार कहानियाँ भेट कर चुके हैं । छायावाद का क्षेत्र केवल कविता रहा है, पर प्रगतिवाद कविता के अतिरिक्त निबन्ध, आलोचना और उपन्यास-कहानी मे भी अपना प्रभाव जमाये हुए है । यशपाल प्रगतिवादी कहानीकारो के प्रतिनिधि है ।

प्रसाद-युग तथा प्रसाद-युगोत्तरवर्ती कहानीकारो का परिचय आगे यथास्थान दिया जा रहा है ।

(ख) उपन्यास

परिभाषा—

जिस रचना मे युग की समस्या का और उसके समाधान के उपायो मे व्यक्तिगत मत का प्रकाशन कथानक के माध्यम से किया जाय, उसे 'उपन्यास' कहते हैं । इस परिभाषा मे दो बाते बिल्कुल स्पष्ट हैं—(१) रचना मे युगसमस्या और उसका समाधान हो, (२) वह समाधान व्यक्तिगत मान्यताओ पर आधारित हो । जिन पर ये दोनो बातें चरितार्थ नही होती, वे उपन्यास नही हैं, लम्बे कथानक अवश्य है । अत 'रानी केतकी की कहानी', 'राजा भोज का सपना', 'आश्चर्य-वृत्तान्त' आदि उपन्यास नही है । 'प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान', 'माधवानल कामकन्दला', 'बैताल-पच्चीसी', 'सिहासन-बत्तीसी', 'गोराबादल' आदि रचनाएँ धार्मिक कथानक है, इतिहास है, अथवा मनोरजक गद्य है; उपन्यास नही हैं । उपन्यास के लिए कथानक के अतिरिक्त उपर्युक्त दो अन्य तत्त्व आवश्यक हैं ।

हिन्दी का प्रथम उपन्यास—

इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित तीन उपन्यासो को प्रस्तुत किया जाता है—

(१) भारतेन्दु-कृत 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' जो 'हरिश्चन्द्र-मेगजीन' मे छपा था, (२) श्रीनिवास-कृत 'परीक्षा-गुरु', (३) श्रद्धाराम फिल्लौरी-कृत 'भाग्यवती'। इनमे से 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' हिन्दी का मौलिक उपन्यास नही है। यह एक मराठी-उपन्यास का रूपान्तर है। 'परीक्षा-गुरु' (निर्माण-काल स० १९५७ को) आचार्य शुक्ल ने अग्रेजी ढग का पहला मौलिक उपन्यास माना है। श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती' उपन्यास स० १९४३ मे लिखा गया था। इस प्रकार कालक्रम के अनुसार हिन्दी-उपन्यासो मे 'भाग्यवती' को ही सर्वप्रथम उपन्यास मान सकते है। इसके बाद हिन्दी-उपन्यासो की परम्परा आरम्भ हो जाती है।

पूर्व-प्रसाद-युग—हिन्दी मे आरम्भ से ही उपन्यासो की दो धाराएँ चली, एक धारा मौलिक उपन्यासो की है और दूसरी धारा अनूदित उपन्यासो की। यहाँ हम केवल प्रथम धारा की चर्चा कर रहे है। 'भाग्यवती' और 'परीक्षा-गुरु' के उपरान्त इन उपन्यासो के नाम उल्लेखनीय है—बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान', किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'हृदयहारिणी', 'लवगलता' आदि, देवीप्रसाद शर्मा-कृत 'विधवा-विपत्ति', हनुमन्तसिह-कृत 'चन्द्रकला'; गोपालराम गहमरी-कृत 'अघोरपथी', लज्जाराम शर्मा-कृत 'धूर्त रसिकलाल', कार्तिकप्रसाद खत्री-कृत 'दीनानाथ', देवकीनन्दन-खत्री कृत 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' आदि तथा अयोध्यासिह उपाध्याय-कृत 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'।

इन उपन्यासो तथा उपन्यासकारो मे 'देवकीनन्दन खत्री' तथा उनकी रचना 'चन्द्रकान्ता' की विशेष चर्चा की जाती है। इसके तीन कारण हैं—(१) इनके उपन्यासो की भाषा इतनी सरल है कि मामूली पढा-लिखा आदमी भी इसे आसानी से पढ सकता है। (२) इनमे रोमास,

तिलिस्म, ऐय्यारी, रोचक घटनाओ का बडा सुन्दर समन्वय है। (३) इसका कथानक एकदम तटस्थ भाव से लिखा गया है। उस पर सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक (सुधारवादी) विचारधारा का कोई प्रभाव नही।

प्रसाद-युग—प्रसाद-युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचन्द है, वही हिन्दी उपन्यासकारो के पथ-प्रदर्शक है। उन्होने 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'कायाकल्प', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'सेवासदन', 'गोदान', 'मगलसूत्र' (अपूर्ण)—१० उपन्यास लिखे है। प्रेमचन्द के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रसाद-युगीन उपन्यासकारो तथा उनके उपन्यासो के नाम उल्लेखनीय हैं—

जयशकर प्रसाद—'ककाल', 'तितली', 'इरावती'।

वृन्दावन सहाय—'सौन्दर्योपासक'।

अवधनारायण—'विमाता'।

शिवपूजन सहाय—'देहाती दुनिया'।

चतुरसेन शास्त्री—'हृदय की परख', 'व्यभिचार', 'अमर अभिलाषा,' 'आत्मदाह', 'नीलमती', 'वैशाली की नगरवधू'।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'—'माँ', 'भिखारिणी'।

बेचन शर्मा 'उग्र'—'दिल्ली का दलाल', 'चन्द हसीनो के खतूत', 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी', 'घन्टा', 'सरकार तुम्हारी आँखो मे'।

चडीप्रसाद हृदयेश—'मनोरमा', 'मगल प्रभात'।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव—'बिदा'।

राधिकारमण प्रसादसिह—'तरग', 'रामरहीम', 'पुरुष और नारी'।

मन्नन द्विवेदी—'रामलाल', 'कल्याणी'।

जी० पी० श्रीवास्तव—'गगा जमुनी', 'दिलजले की आह'।

वृन्दावनलाल वर्मा—'गढकुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कुण्डली-चक्र', 'महारानी लक्ष्मी बाई', 'मृगनयनी'।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी—'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी',

'प्रेमविवाह', 'पतिता की साधना', 'दो बहिने', 'निमन्त्रण' ।

जैनेन्द्रकुमार—'परख', सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत' ।

इलाचन्द्र जोशी—'लज्जा', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सन्यासी', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ' ।

गोविन्दवल्लभ पत—'प्रतिभा', 'मदारी', 'प्रगति की राह' ।

सूर्यकान्त निराला—'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती', 'कुल्लीर भाट', 'चोटी की पकड' ।

प्रसाद-युगोत्तरयुगीन—

यशपाल—'देशद्रोही', 'दिव्या', 'मनुष्य के रूप', 'दादा कामरेड' ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—'गिरती दीवारे', 'गरम राख', 'बडी-बडी आँखे' ।

रांगेय राघव—'मुर्दो का टीला', 'प्रतिदान', 'चीवर', 'अधेरे के जुगनू', 'राणा की पत्नी' 'घरौदे', 'विषादमठ', 'काका', 'हुजूर', 'अधूरा किला' आदि ।

पृथ्वीनाथ शर्मा—'विद्रूप' ।

राहुल—'सिंह सेनापति' ।

श्रीनाथसिंह—'जागरण', 'उलझन', 'प्रभावती', 'प्रजामण्डल' ।

अज्ञेय—'शेखर एक जीवनी' ।

गुरुदत्त—'स्वाधीनता के पथ पर', 'पथिक', 'उन्मुक्त प्रेम', 'विकृत छाया', 'भावुकता का मूल्य', 'बहती रेता', 'मायाजाल', 'वाममार्ग', 'विलोमगति', 'मानव' ।

प्रसाद-युग के तथा प्रसाद-युगोत्तरयुग के उपन्यासो के बीच मध्यवर्ती विभाजक-रेखा अंकित करना कठिन है । मु शी प्रेमचन्द जिस सामाजिक सुधार-आन्दोलनो को लेकर उपन्यास लिखने लगे थे, प्रगतिवादी उपन्यास-लेखको ने उस समाजसुधारवाद मे मार्क्सवादी विचारधारा का मिश्रण करके उसे नया मोड दे दिया, बस यही प्रसाद-युगोत्तर उपन्यासकारो की विशेषता है । राष्ट्रिय चेतना की जागृति दोनो पक्षो मे विद्यमान है ।

अत इस युग की दो सीमाओ की तुलना के लिए आधार बहुत कम रह जाता है। हाँ, पूर्व-प्रसादयुग के उपन्यासो तथा प्रसादयुग एव प्रसाद-युगोत्तरवर्ती उपन्यासो की परस्पर तुलना निम्नोक्त आधारभूत तत्त्वो पर की जा सकती है—

(क) **समस्या**—भारतेन्दु-युगीन तथा प्रसाद-युगीन राजनीतिक एव सामाजिक समस्याओ की विभिन्नता के कारण इन युगो मे निर्मित उपन्यासो के कथानको की मूलभूत समस्याओ मे भी अन्तर है। भारतेन्दु-युग मे अशिक्षा, स्त्री-परतन्त्रता, रूढिवाद, विधवा, आडम्बरवाद, मिथ्यावाद, आलस्य आदि समस्याएँ थी पर आज की प्रमुख समस्याएँ वैसी नही हैं, रोटी-अधिकार, वर्ग-सघर्ष, आर्थिक सकट, राजनीति, धर्मनिरपेक्षता, मार्क्सवाद तथा अन्यान्य समस्याएँ हैं जो पहले युग से भिन्न है। भारतेन्दु-युग मे अपने समय की समस्याओ को लेकर लिखनेवालो मे किशोरीलाल गोस्वामी का नाम विशेषत उल्लेख्य है और आज की समस्याओ को लेकर लिखने वालो मे यशपाल का। इसके अतिरिक्त अपने समय की समस्याओ को इतिहास के पृष्ठो मे खोजने का यत्न उधर किशोरीलाल गोस्वामी ने किया तो इधर वही प्रयत्न वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री तथा रागेय राघव ने किया है।

भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग के मध्यवर्ती युग मे चन्द्रकान्ता-सतति, भूतनाथ आदि उपन्यास तटस्थ भाव से लिखे गए, न तो युग की छाप उन पर है और न ही युग को इन उपन्यासो ने कुछ दिया है। अत इन रचनाओ को वास्तविक 'उपन्यास' मानने मे सकोच होता है।

(ख) **राष्ट्रियता**—सन् १८५७ के बाद देश मे राष्ट्रियता के भाव पूर्णत जगने प्रारम्भ हो गए। काग्रेस के जन्म से पहले 'राष्ट्रियता' की परिभाषा अस्पष्ट थी और उसका रूप धुधला था। पर काग्रेस-जन्म के साथ 'राष्ट्रियता' की परिभाषा स्पष्ट होती गई—उसकी रूपरेखा गोखले-युग मे स्पष्ट, तिलक-युग मे स्पष्टतर और गाँधी-युग मे स्पष्टतम होती गई। भारतेन्दु-युग तथा उसके बाद के उपन्यासो मे जातीयता और देशभक्ति की भावना तो है, पर

जिस राष्ट्रियता का उन्मेष १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के बाद हुआ था, इन उपन्यासो मे उसके दर्शन नही होते। आगे चल कर सन् १९१६ मे मुन्शी प्रेमचन्द उपन्यास-क्षेत्र मे आये और सन् १९१९-२० मे गाधी जी काग्रेस मे। गाधी जी के व्यक्तित्व एव सिद्धान्तो की प्रसिद्धि के साथ-साथ राष्ट्रियता भी पनपने लगी थी। महात्मा जी ग्राम्य जनता की राष्ट्रियता को सच्ची राष्ट्रियता मानते थे। यही स्वर प्रेमचन्द, प्रसाद तथा अन्य उपन्यासकारो की रचनाओ मे भी गूँजा। उनका ध्यान ग्रामो की ओर गया और राष्ट्रियता की भावना उपन्यासो मे ओत-प्रोत होने लगी।

प्रसादोत्तर-युग मे इस राष्ट्रियता ने समाजवादी क्षेत्र मे पदार्पण किया और आर्थिक लडाई लडने वाले सैनिको (मजदूरो) मे क्षमता भरने वाले, उनकी कुण्ठाओ को विनष्ट करने वाले उपन्यास लिखे जाने लगे।

अत भारतेन्दु-युग को जातीयता, प्रसादयुग की राष्ट्रियता और प्रसादोत्तर-युग की जनवादिता—ये राष्ट्रियता के अलग-अलग पहलू है जो उपन्यासो के काथानको को परस्पर शृ खलाबद्ध रखे हुए हैं।

(ग) **प्रेम**—भारतेन्दु-युग के उपन्यासो मे 'प्रेम' का वातावरण है। यद्यपि इस युग के उपन्यास-लेखको ने जातीय समस्याओ से आँख नही मूँदी, उसका यथोचित समाधान भी खोजने का यत्न किया है, पर 'प्रेम' की धारा भी कही अविच्छिन्न नही होने पाई। देवकीनन्दन खत्री तथा अन्य उपन्यासो ने अपने समय की समस्याओ से हटकर अपने-आपको तिलिस्म और ऐयारी के चक्कर मे फाँस लिया है, पर प्रेम को इन लेखको ने भी नही छोडा। इधर आगे चलकर मु शी प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उनके समकालीन इतर उपन्यासकारो ने इस प्रेम-परम्परा को विशृखल नहीं होने दिया। इनके उपन्यासो मे सम्भव और यथार्थ प्रेम का चित्रण हुआ है। प्रगतिवादी उपन्यासकारो ने 'प्रेम' के रूढिगत प्रयोगो को छोडकर, मानसिक अतृप्त भावनाओ की स्थानपूर्ति उन्मुक्त यौनवासनाओ से करनी चाही है अत प्रगतिवादी 'प्रेम' समाज की शिष्टता, धर्म की

मर्यादा, लौकिक व्यवहारो का औचित्य—सबका अतिक्रमण करता जा रहा है।

प्रसाद-युग से पूर्व 'प्रेम' का रूढिमूलक ढग मे निरूपण हुआ है (अर्थात् नायक नायिका का प्रथमत मिलन, बाद मे वियोग, खल नायको द्वारा उपस्थित-बाधा, उन बाधाओ पर विजय-प्राप्ति और विवाह), पर इधर प्रसाद-युग मे इसका आधार सम्भव एव यथार्थ घटनाएँ है। प्रसाद-युग के बाद उसमे फ्रायडवादी सिद्धान्तो का प्रयोग किया जाने लगा है। निष्कर्ष यह कि 'प्रेम' तीन पीढियो के उपन्यासो मे अविच्छिन्न है, पर उसके रूप भिन्न-भिन्न है।

(घ) **शिल्प-विधान**—प्रसाद-युग से पूर्व उपन्यासो का शिल्प-विधान प्रौढ नही है। वस्तु-वर्णन, नखशिख, ऋतु-वर्णन, उपदेश, अनावश्यक वार्तालाप आदि से वे भरे पडे है। जो कथानक १०० पृष्ठो मे लिखा जा सकता है, उसके लिए ४०० अथवा ५०० पृष्ठो मे लिखना तो मामूली बात थी। चरित्रो मे विकास की कोई गु जायश नही है। सामन्तवादी प्रवृत्तियो का बाहुल्य है। चटपटी घटनाओ तथा आश्चर्यजनक वातावरण से सभी उपन्यास रग-बिरगे से दीख पडते है। अधिक नही तो कुछ-कुछ प्रसादकालीन उपन्यास भी भारतेन्दु-युग के उपन्यासो की गतिविधि अपनाये हुए है। पर प्रसादोत्तर-कालीन उपन्यासो का रूप अत्यन्त प्रौढ और कसावट-पूर्ण है। भरती की बाते बिल्कुल नही है। व्यर्थ की भूमिकाओ से पृष्ठ काले नही किये गये। घटनाक्रम मनोविज्ञान पर आधारित है। चरित्रो मे उत्थान-पतन निरन्तर जारी है पात्र अपने निर्माण मे स्वय यत्नशील हैं उन्हे दैवी पात्रो का वरदान प्राप्त नही है।

(ङ) **भाषा**—प्रसाद-युग से पूर्व उपन्यासो की भाषा शिथिल है। पात्रानुरूप भाषा रखने के प्रयोग से भाषा 'बदरग'-सी हो गई। ऐसा लगता है 'भाषा' लेखको के वश मे नही है, बल्कि लेखक भाषा के वश मे हो गये हैं। शब्दो के प्रयोग भी अतिरजित है। इधर प्रेमचन्द के

आगमन से हिन्दी ने उर्दू का ढर्रा अपना लिया। सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री आदि उपन्यासकार प्रेमचन्द जैसी भाषा लिखते रहे है। प्रसादोत्तर उपन्यासो मे भाषा का मधुर, साधु और प्रवाहपूर्ण प्रयोग हुआ है। इनमे व्यक्तिगत विशेषताओ के होते हुए भी एक मूलगत समानता है। पर आगे चलकर प्रगतिवादियो ने भाषा के नए-नए प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया है कि इनकी भाषा लेखक के अनुरूप है। जनवादी विषयो के लिए भाषा भी तो जनवादी ही अपेक्षित थी।

प्रसाद-युग तथा उत्तरवर्ती प्रतिनिधि उपन्यासो एव कहानीकारो का परिचय लीजिए—

(१) प्रेमचन्द

जीवन—प्रेमचन्द जी का जन्म सम्वत् १९३७ मे बनारस से चार मील की दूरी पर स्थित लमही नामक गाँव मे हुआ था। उनका वास्तविक नाम धनपतराय श्रीवास्तव था। उनके पिता श्री अजायबराय डाकखाने मे कर्मचारी थे। उनकी माता का नाम आनन्दी देवी था। प्रेमचन्द जी की मृत्यु सवत् १९९३ मे हुई।

जब प्रेमचन्द जी की आयु पाँच वर्ष की हुई तो उस समय कायस्थो मे प्रचलित प्रथा के अनुसार उन्हे उर्दू-फारसी पढने के लिए मौलवी साहिब के पास भेजा गया। प्रेमचन्द जी के पिता की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वे अपने परिवार का निर्वाह भी कठिनता से चला पाते थे। प्रेमचन्द का परिवार एक संयुक्त परिवार था जिसमे किसी बात का भेदभाव नही था। जब प्रेमचन्द जी आठ वर्ष के हुए तो आनन्दी देवी बीमार पड गईं। छः मास तक रोग-शय्या पर पडी रहकर उनका परलोक-वास हो गया। कुछ दिन पश्चात् अजायबराय ने दूसरी शादी कर ली। सौतेली मा अपने साथ अपने भाई विजय-बहादुर को भी ले आईं। उनकी सौतेली मा का प्रेमचन्द के साथ खाने-पीने आदि का व्यवहार उचित नही रहा। इसी कारण प्रेमचन्द का मन घर मे कम लगता, अधिकाश समय वे एक तम्बाकू वाले की दूकान पर बिताते। यही से

प्रेमचन्द जी का झुकाव लिखने की ओर हुआ। उस तम्बाकू वाले के लडके के साथ 'तिलस्म होशरुबा' पढा करते। 'तिलस्म होशरुबा' फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् फैजी का लिखा एक अद्भुत ग्रन्थ है, जिसमे तिलिस्मी घटनाओ का वर्णन है। प्रेमचन्द कभी कुछ लिखते तो उसे फाड डालते थे। पर उनमे यह इच्छा बलवती होती जा रही थी कि वे भी ऐसा ही कुछ लिखे।

१५ वर्ष की अवस्था मे ही उनका एक कुरूप और गॅवार स्त्री के साथ विवाह कर दिया गया। यह रूढिगत अनमेल विवाह प्रेमचन्द जी के लिए झझट ही था। परिणामत यह सम्बन्ध पूर्ण रूप मे असफल होने के कारण उनकी पत्नी उन्हे छोडकर अपने मायके चली गई। कुछ दिन पश्चात् उन्होने अपना दूसरा विवाह शिवरानी देवी नाम की एक बाल-विधवा से कर लिया। इधर इसी बीच उनके पिता की मृत्यु हो गई और सारी गृहस्थी का भार उन पर आ पडा। इन दिनो वे काशी के क्वीन्स-कालेजियेट स्कूल मे पढते थे। दरिद्रता की अवस्था मे ज्यो-त्यो करके उन्होने स० १९६७ मे द्वितीय श्रेणी मे मेट्रिक-परीक्षा पास की। द्वितीय श्रेणी मे उत्तीर्ण होने के कारण उन्हे कालिज मे भरती नही किया गया। सौभाग्य से या दुर्भाग्य से उन्हे उसी स्कूल मे १८) रु० मासिक वेतन पर अध्यापक का स्थान मिल गया। अध्यापन के साथ-साथ उन्होने बी० ए० की तैयारी भी जारी रखी। अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल से १५ वर्ष मे वे अध्यापक से डिप्टी-इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूलज के पद पर पहुँच गए।

श्रीमती शिवरानी देवी के साथ शादी होने से पहले ही प्रेमचन्दजी ने उर्दू मे कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया था। उनकी कहानियाँ उर्दू के सर्वश्रेष्ठ पत्र 'जमाना' मे प्रकाशित होती थी। उनकी प्रारम्भिक कृतियो ने जनता मे उनका नाम चमकाना आरम्भ कर दिया था। स० १९७१ मे उन्होने उर्दू को छोडकर हिन्दी-जगत् मे प्रवेश किया। इस समय वे डिप्टी-इन्स्पैक्ट्री को त्याग चुके थे, क्योकि उनके साहित्य से सरकार की अप्रसन्नता बढ रही थी। यहाँ तक कि उनका उर्दू-कहानियो

का सग्रह 'सोजेवतन' जब्त कर लिया गया था।

रचनाएँ—

प्रेमचन्द जी ने सब मिलाकर कुल दस उपन्यास लिखे। ग्यारहवाँ 'मगलसूत्र' वे अधूरा ही छोड गए। उनके उपन्यासो का लेखन-क्रम इस प्रकार है—

१ प्रेमा या प्रतिज्ञा (स० १९६२), २ वरदान, (इसी के लगभग,) ३ सेवा सदन (स० १९७३), ४ प्रेमाश्रम (स० १९७९), ५ निर्मला (स० १९८०), ६ रगभूमि (स० १९८२), ७ काया-कल्प (स० १९८५), ८ गबन (स० १९८८), ९ कर्मभूमि (स० १९८९), १०. गोदान (स० १९९३), ११ मगलसूत्र (अपूर्ण)।

इन उपन्यासो के अतिरिक्त उन्होने अनेक कहानियाँ लिखी। इस क्षेत्र मे उन्हे सर्वाधिक प्रेरणा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियो से मिली। उनकी कहानियो के अनेक सग्रह प्रकाशित हुए। अब उनकी लगभग सारी कहानियाँ 'मानसरोवर' (८ भाग) मे सकलित की गई है। इनके अतिरिक्त इनकी कुछ कहानियाँ 'कफन' नाम से भी सगृहीत है।

उपन्यास—

(१) **प्रेमा या प्रतिज्ञा** के सम्बन्ध मे ऐसा मालूम होता है कि वह पहले उर्दू मे 'हम खुर्मा व हम सवाब' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का आधार प्रेम की त्रिभुज-मूलक कथा है। प्रेमा से अमृतराय और दाननाथ दोनो ही प्रेम करते है और इसी कारण अनेक समस्याएँ खडी हो जाती हैं। इस उपन्यास मे प्रेमचन्द जी ने कुछ समस्याएँ उपस्थित की है। उनमे अबला असहाया स्त्री की समस्या तथा स्त्रियो की आर्थिक पराधीनता की समस्या प्रमुख है जिनके निराकरण के बिना समाज का सर्वतोमुखी कल्याण असम्भव है।

(२) **वरदान**—इस उपन्यास की सामाजिक पृष्ठभूमि मध्यमवर्ग की है। इसमे केवल अनमेल विवाह की समस्या को लिया गया है। अनमेल विवाह से किस प्रकार कई व्यक्तियो का जीवन खराब हो जाता है यही

इस उपन्यास मे चित्रित किया गया है ।

इस उपन्यास मे रचना-सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ आ गई है। उदाहरण के लिए माधवी को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह एक कष्ट-कल्पना प्रतीत होती है। प्रताप विरजन की आँखो मे चाहे कुछ हो, ऐसा गुणी व्यक्ति नही बन पडा कि प्रत्येक स्त्री उस पर रीझ जाय। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद मे ट्राम का प्रसग भी कथाकार की त्रुटि है।

(३) **सेवासदन**—यह प्रेमचन्द जी का प्रथम महत्त्वपूर्ण उपन्यास है जिसने हिन्दी के कथा-जगत् मे एक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। सेवा-सदन की विशेषता यह है कि यह किसी प्रेमकथा को लेकर नही लिखा गया। इसमे समाज की एक भारी समस्या—वेश्या-समस्या—की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया गया है। सुमन के चरित्र से प्रेमचन्दजी ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वेश्याएँ भी मौलिक रूप से हमारे समाज की कुलवधुएँ तथा कन्याएँ है परन्तु परिस्थितियो की चपेट से वेश्या बनने को विवश हो जाती है। प्रधान कारण समाज की वह प्रथा ही है जिसके अन्तर्गत मन्दिर के अन्दर वेश्या का भजन पुरानी पद्धति के अनुसार स्वीकृत माना जाता है। सचमुच वेश्याओ की इतनी कद्र हो कि बडे-बडे सभ्रान्त तथा धार्मिक व्यक्ति उनके सामने बैठने मे अपना अहोभाग्य समझे, इन सब बातो का अन्य साधारण स्तर की स्त्रियो पर प्रभाव पडना स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त लेखक ने उपन्यास के आरम्भ मे ही पुलिस-विभाग की पोल खोलकर रख दी है। इस विभाग मे ईमानदार आदमी के लिए कोई स्थान ही नही है। इस उपन्यास की दूसरी मुख्य समस्या है—दहेज-प्रथा। इसकी बुराइयो पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इसी प्रथा के कारण कृष्णचन्द को बुढापे मे आकर घूस लेने के अपराध मे जेल की हवा खानी पडती है।

महन्तो के दुराचार के सम्बन्ध मे तथा समाज-सुधारको के बाह्या-डम्बर के सम्बन्ध मे भी प्रेमचन्द जी ने समाज को इस उपन्यास द्वारा

स्पष्ट चेतावनी दी है।

(४) **प्रेमाश्रम**—इस उपन्यास मे अनेक विषयो का समावेश है। पुलिस की बदमाशी, सरकारी कर्मचारियो की कार्यवाहियाँ, जमीदारी-प्रथा का दुष्परिणाम आदि दिखाते हुए प्रेमचन्द जी ने इस उपन्यास मे किसान-जागरण का आभास दिया है। वस्तुत इन उपन्यासो द्वारा प्रेमचन्द जी ने हिन्दी-साहित्य को एक नया मार्ग प्रदर्शित किया है। इस उपन्यास की कहानी भी प्रेम-कहानी न होकर सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि पर गाधीवाद को लेकर चलती है।

(५) **निर्मला**—यह उपन्यास दहेज-प्रथा तथा अनमेल-विवाह की बुराइयो को खोलकर सामने रखता है। विवाह मे दहेज न दे सकने के कारण ही निर्मला का विवाह अपने बाप की उम्र के व्यक्ति बाबू तोता-राम से होता है। बडे-बडे बच्चो के होते हुए जो लोग शादी कर लेते हैं उनकी क्या दशा हो सकती है, यह इस उपन्यास का मुख्य विषय है।

(६) **रंगभूमि**—इस उपन्यास मे सम-सामयिक समाज का स्पष्ट चित्र अकित किया गया है। यह उपन्यास उस समय लिखा गया, जब भारत मे गाधी जी का असहयोग-आन्दोलन चल रहा था। अत इसमे उसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'सूरदास' का सम्पूर्ण चरित्र महात्मा गाधी से मेल खाता है। वह अहिसा और सत्य मे विश्वास करता है। यहाँ तक कि उसी की धुन मे अपने प्राणो की बलि भी दे देता है। मिलो के विरोध मे सूरदास के वक्तव्य गाधी जी के विचारो से भिन्न नही हैं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासो मे यह उपन्यास आकार मे सबसे बडा है और सचमुच यह सम-सामयिक समाज की रगभूमि है।

(७) **कायाकल्प**—रगभूमि के पश्चात् लिखा गया यह उपन्यास एक विचित्र कथानक प्रस्तुत करता है। इसमे जन्म-जन्मान्तरो के प्रेम-प्रसग को लाकर जन्मान्तरवाद को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। स्वभावत पात्रो का चरित्र भी विचित्रता लिये हुए है। 'चक्रधर' रगभूमि के 'विनय' की भाँति किसानो की सहायता करता है, किन्तु जेल से छूटने

के पश्चात् जब मोटर की बेगार करने से एक किसान इन्कार करता है तो वह उसे बुरी तरह पीटता है। चक्रधर की अहिसा रगभूमि के सूरदास से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार इस उपन्यास के प्राय प्रत्येक पात्र के चरित्र मे परिवर्तन आ जाता है, जो उपन्यास की उत्कृष्टता के लिए घातक सिद्ध होता है। फिर भी, इस उपन्यास मे गॉवो का चित्रण पर्याप्त सुन्दर बन पडा है।

(८) **गबन**—इस उपन्यास मे प्रेमचन्द जी ने शहर के रहने वाले मध्यमवर्ग का चित्र उपस्थित किया है कि वे किस प्रकार अपने से अधिक हैसियत के प्रदर्शन मे अपने-आपको नष्ट कर रहे है। धन न होने पर भी धनी समझे जाने की भावना, इसी भावना के ही कारण स्त्री का और नवयुवक का अलकारो के प्रति मोह, बाह्याडम्बर, गबन आदि—यह सब इस उपन्यास का प्रतिपाद्य विषय है।

(९) **कर्मभूमि**—यह उपन्यास सामाजिक एव राजनीतिक पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया है। इसमे अनेक समस्याएँ एक ही साथ उठाई गई है, जैसे जमीदार-किसान, अछूतोद्धार तथा मन्दिर-प्रवेश, म्यूनिसिपैलिटी और सस्ते मकानो की समस्याएँ आदि। साथ ही, निर्धनता का पति-पत्नी तथा पिता और पुत्र के सम्बन्ध पर क्या प्रभाव पडता है, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसके कथानक मे पृष्ठभूमि के रूप मे अमरकान्त और सकीना की प्रेम-कहानी भी प्रस्तुत की गई है। इस उपन्यास मे अछूतो की समस्या के ग्रामीण और शहरी दोनो रूप दिखाये गए हैं।

(१०) **गोदान**—यह उपन्यास प्रेमचन्द का सर्वोच्च कोटि का है और अन्तिम उपन्यास है। इस उपन्यास का नायक होरी एक साधारण किसान है। उसमे पुरानी पीढी के किसानो के सभी गुण-दोष विद्यमान है। होरी के चरित्र मे प्रेमचन्द जी ने भारतीय किसान-समाज की आन्त-रिक अवस्था का दिग्दर्शन कराया है। सभी आलोचक इस सम्बन्ध मे एकमत है कि गोदान मे प्रेमचन्द जी अपनी पुरानी लीक छोडकर एक

नई लीक पर चले है। पुरानी लीक के उपन्यासो का अन्त किसी-न-किसी प्रकार के आश्रम या सेवा-मण्डल के निर्माण मे समाप्त होता था, जिससे प्रस्तुत समस्याओ का न तो निराकरण ही होता था और न समाधान। एक प्रकार से उन्हे दबा दिया जाता था, परन्तु गोदान मे प्रेमचन्द ऐसा कोई बना-बनाया समाधान प्रस्तुत नही करते, बल्कि यथार्थ अवस्था को पाठको के सम्मुख रखकर छुट्टी ले लेते है।

गोदान मे एकसाथ दो कथाएँ चलती हैं। एक ग्रामीण वातावरण को लेकर चलती है और दूसरी नागरिक वातावरण को लेकर। दोनो कथाओ को यद्यपि लेखक ने सुन्दर ढग से एक सूत्र मे पिरोने का प्रयत्न किया है, पर उनका यह प्रयास सफल नही कहा जा सकता। क्योकि, दोनो कथाएँ थोडे से परिश्रम से ही पृथक्-पृथक् भी की जा सकती है। फिर भी, गोदान हिन्दी-साहित्य की अमर निधि है।

कहानियाँ—

उपन्यास-क्षेत्र के सम्राट् प्रेमचन्द जी कहानीकार भी उच्च-कोटि के थे। यह कहना अनुचित न होगा कि प्रेमचन्द जी के उपन्यासो मे कोई-न-कोई त्रुटि निकाली जा सकती है, किन्तु उनकी अधिकाश कहानियाँ पूर्ण रूप से सफल और आदर्श है।

प्रेमचन्द ने कुल मिलाकर २५० के लगभग कहानियाँ लिखी है, जिनमे जीवन के लगभग सभी पहलुओ पर प्रकाश डाला गया है। उनकी कहानियो का कथानक-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। प्राय लोग कहानी से तात्पर्य प्रेम-कहानी से लेते हैं, पर हिन्दी-साहित्य मे प्रेमचन्द ही सर्वप्रथम एक ऐसे कलाकार अवतरित हुए है, जिनकी अधिकतर कहानियो के सम्बन्ध मे यह धारणा सत्य नही उतरती। 'मोटेराम शर्मा' और 'सत्याग्रह' इनकी हास्य-प्रधान कहानियाँ हैं। 'अमावस्या की रात्रि', 'बलिदान' और 'सवा सेर गेहूँ' मे समाज मे प्रचलित अत्याचारो का वर्णन है। 'रामलीला' नाम की कहानी मे दिखलाया गया है कि किस प्रकार रामलीला की आड मे आवारा लडको तथा वेश्याओ की आव-

भगत की जाती है। 'सभ्यता का रहस्य' मे 'समरथ को नहि दोष गुसाईं' चरितार्थ किया गया है। वस्तुत प्रेमचन्द जी की समस्त कहानियो का परिचय देने के लिए तथा उनका पृथक्-पृथक् वर्गीकरण करने के लिए विस्तृत स्थान की आवश्यकता है। अत यहाँ पर हम मुख्य एव प्रसिद्ध कहानियो की नामावली देते है—

'विश्वास', 'बासी भात मे खुदा का साझा', 'उद्धार', 'निर्वासन', 'मोटर की छीटे', 'डिग्री के रुपये', 'तेतर', 'आत्माराम', 'दण्ड', 'दुर्गा का मन्दिर', 'पच परमेश्वर', 'बडे घर की बेटी', 'एक आँच की कसर', 'शतरज के खिलाडी', 'हिसा परमोधर्म', 'धोखा', 'शखनाद', 'विचित्र-होली', 'सत्याग्रह', 'मुक्तिमार्ग', 'अमावस्या की रात्रि', 'कौशल', 'राजा हरदौल', 'विनोद', 'लाछन', 'क्षमा', 'मन्त्र', 'रियासत का दीवान', 'कफन' आदि।

भाषा-शैली—उपन्यास और कहानी दोनो क्षेत्रो मे इन्होने विभिन्न भाषाओ के कथा-साहित्य का टेकनीक की दृष्टि से अध्ययन करके स्वय अपना मार्ग बनाया और उसे चरम विकास तक पहुँचा दिया। प्रेमचन्द जी की भाषा एव शैली के सम्बन्ध मे विशेष बात ध्यान देने की यह है कि उनकी भाषा बोलचाल की सरल भाषा है जिसमे उर्दू की छाप के कारण अधिक प्रवाह और सुन्दरता आ गई है। बीच-बीच मे मुहावरो के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी सजीव, सशक्त और आकर्षक बना दिया है।

उन्होने अपनी प्रारम्भिक रचनाओ मे रतनलाल सरशार का कुछ अनुकरण किया। परन्तु ज्यो-ज्यो वे लिखते गए, उनकी शैली निखरती गई और 'गोदान' मे पहुचकर उन्होने एक नितान्त नई शैली को जन्म दिया।

इस प्रकार यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द जी ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य तथा कहानी-साहित्य मे एक ऐसी क्रान्ति उपस्थित की कि आज वे न केवल आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य के पथ-प्रदर्शक एवं हिन्दी-जगत् के अनुपम रत्न माने जाते है, बल्कि इनकी तुलना विदेशी

कथाकारो के साथ भी नि सकोच की जा सकनी है।

(२) जयशकर प्रसाद

प्रसाद जी के नाटक-साहित्य का परिचय पहले दिया जा चुका है। यहाँ उनके उपन्यासकार तथा कहानीकार के रूप पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है। प्रसाद जी जितने महान् कवि थे उतने महान् गद्य-लेखक भी थे। आपके तीनो उपन्यास 'ककाल', 'तितली' और 'इरावती' हिन्दी-उपन्यास-साहित्य मे अपना विशेष स्थान रखते हैं।

उपन्यास—

(१) **ककाल**—इसमे समाज के दैनिक जीवन के ऐसे सैकडो चित्र सफलतापूर्वक अकित किये गये है, जिनके द्वारा समाज के ठेकेदारो की पोले खोलकर उन्हे वास्तविक रूप मे जनता के समक्ष उपस्थित कर दिया गया है। समाज के गलिताङ्गो को चुनौती देने वाले इस यथार्थवादी, उपन्यास मे प्रसाद जी यथार्थवादी कलाकार के रूप मे उपस्थित हुए हैं। इनमे दो कथाएँ समानान्तर रूप से चलती है और दोनो को बडी सतर्कता से एक सूत्र मे गूँथ दिया गया है।

(२) **तितली**—इसमे ग्रामीणो की दुर्दशा का चित्र अकित करते हुए इस दुर्दशा से मुक्ति पाने के उपायो पर भी प्रकाश डाला गया है। 'ककाल' की अपेक्षा इसका कथानक सुगठित है और इसमे घटनाओ का विस्तार भी अधिक नही है। इसमे दो कथानक समानान्तर रूप मे और एक सूत्र मे आबद्ध होकर चल रहे है। इसमे प्रासङ्गिक कथानक का भी अभाव है। इस उपन्यास से प्रसाद जी की उच्चकोटि की सर्जन-शक्ति का परिचय प्राप्त होता है।

(३) **इरावती**—यह प्रसाद जी का तीसरा और अन्तिम अपूर्ण उपन्यास है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है जो कि शु ग-वश से सम्बन्ध रखती है। वास्तव मे भारतीय इतिहास मे शुंगराज्य-काल का समय बडा महत्त्वपूर्ण है। पुष्यमित्र और अग्निमित्र आदि सम्राटो ने आर्य-सस्कृति के सरक्षण मे महत्त्वपूर्ण योग दिया था। प्रसाद जी की

आर्य-सस्कृति के प्रति अटल आस्था थी। तदनुसार उन्होने पुष्यमित्र की कथा लिखनी आरम्भ कर दी पर वह पूर्ण न हो सकी। पुष्यमित्र ने पतनोन्मुख बौद्धधर्म के विरुद्ध वैदिक धर्म का झण्डा फिर से लहराकर भारत-राष्ट्र के निर्माण मे बहुत बडा योग दिया था। भारतीय सस्कृति मे भगवान् शिव की उपासना का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। शिव की उपासना मे 'आनन्दवाद' का प्राधान्य है। इरावती का प्रेमी आनन्द भिक्षुक भी इसी आनन्दवाद का उपासक है। अत स्पष्ट है कि प्रसाद जी इरावती उपन्यास के द्वारा शैवो के आनन्दवाद को फिर से प्रचारित करना चाहते हैं। इस उपन्यास से प्रतीत होता है कि लेखक ऐतिहासिक वातावरण, कथानक और भाव-चित्रण की ओर ही अधिक झुका हुआ है। चरित्रो के विकास और विश्लेषण की ओर उसने यथोचित ध्यान नही दिया। अधूरा होने पर भी इस उपन्यास मे पाठक को ऐतिहासिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि की पूरी-पूरी झलक मिल जाती है। प्रसाद जी उन उपन्यासकारो मे से थे, जिन्होने अपनी रचनाओ के द्वारा हिन्दी-उपन्यास-जगत् को ऐय्यारी और तिलिस्मी-उपन्यासो के जञ्जाल से मुक्त कर उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनके सभी पात्र सजीव और स्पष्टवक्ता है। वे अपने पाप-पुण्यो को छिपाकर नही रख सकते।

कहानियाँ—प्रसाद जी का कहानी-साहित्य भी उपन्यासो के समान ही उत्कृष्ट है। उन्होने सवत् १९६८ से कहानी लिखना आरम्भ कर दिया था। आपकी सर्वप्रथम कहानी 'ग्राम' स० १९६८ के 'इन्दु' मे प्रकाशित हुई थी। प्रसाद जी की कुछ प्रारम्भिक कहानियाँ 'चित्राधार' मे सग्रहीत है। इसके अतिरिक्त 'छाया' (स० १९६९), 'प्रतिध्वनि' (स० १९८३), 'आकाशदीप' (स० १९८६), 'आँधी' (स० १९८८) और 'इन्द्रजाल' (स०१९९०) ये पाँच कहानी-सग्रह है। इन कहानियो को ऐतिहासिक और सामाजिक दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' मे अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ एकत्रित हैं।

प्रसाद जी नाटककार, उपन्यासकार तथा कहानीकार होने के अति-

रिक्त निबन्धकार भी थे। 'चित्राधार' तथा 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' इनके निबन्ध-सग्रह हैं। इसके अतिरिक्त इन्होने अपने ग्रन्थो की भूमिका के रूप मे भी गवेषणात्मक एव विवेचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत किये है। निस्सन्देह उन-जैसा बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न लेखक इस युग मे नही है।

(३) विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

जीवन—आपका जन्म सवत् १९४८ मे हुआ और मृत्यु सवत् २००४ मे अम्बाला छावनी मे हुई। कानपुर के रईस प० इन्द्रसेन के यहाँ गोद लिये जाने के कारण आप आर्थिक चिन्ताओ से मुक्त रहे। आपने मैट्रिक पास करके स्कूल छोड दिया और घर पर ही हिन्दी-सस्कृत का अध्ययन किया। प्रेमचन्द जी की भाँति इन्होने भी पहले उर्दू मे लिखना प्रारम्भ किया था, पर थोडे ही दिनो बाद हिन्दी के क्षेत्र मे आ गये। तब से लेकर आप जन्मभर हिन्दी की सेवा करते रहे। आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के प्रसाद से आपकी प्रतिभा चमक उठी। पहले-पहल आप बगला के अनुवाद प्रस्तुत करते रहे। बाद मे आपने हिन्दी को एक के बाद कई ग्रन्थ-रत्न दिये, जिनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

रचनाएँ—

कहानियाँ—गल्पमन्दिर, कल्लोल, चित्रशाला (तीन भाग) मणि-म ाला, पेरिस की नर्तकी आदि।

उपन्यास—माँ, विहारिणी और सघर्ष।

इनके अतिरिक्त इन्होने ३-४ नाटक और ३-४ जीवन-चरित्र भी लिखे थे।

कौशिक जी प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढाने वाले कलाकार है। उनके 'माँ' उपन्यास मे यह दिखलाया गया है कि मनुष्य का भावी जीवन माँ की योग्यता पर निर्भर रहता है, साथ ही सुलोचना और सावित्री के चरित्रो की तुलना करके कौशिक जी ने प्रेमचन्द के समान ही अपने उपन्यासो का लक्ष्य आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ठहराया है। आपकी "ताई" कहानी

का हिन्दी-साहित्य मे विशेष सम्मान हुआ है। इसमे दिखाया गया है कि कठोर से कठोर हृदयवाली ऐसी स्त्रियाँ भी जो नि सन्तान होने के कारण कभी किसी बच्चे से प्रेम नही करती सहसा किसी दुर्घटना मे फँसे किसी बच्चे को देखकर पसीज जाती है। 'मनुष्यता का दण्ड' नामक कहानी भी बडी सुन्दर है।

कौशिक जी पहले घटना-प्रधान कहानियाँ लिखते रहे, परन्तु बाद मे इन्होने चरित्र-प्रधान कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कर दी। इनकी कहानियो के कथोपकथन सुबोध और सरल होते हैं। इनमे वे देश-कालानुसार प्रचलित विदेशी शब्दो का प्रयोग भी यत्र-तत्र कर देते है। इनकी भाषा सरल और मुहावरेदार होती है। तत्सम शब्दो का प्रयोग वे अधिकता से करते हैं।

(४) चतुरसेन शास्त्री

जीवन—आपका जन्म जिला बुलन्दशहर मे सवत् १९४८ मे हुआ। आप दिल्ली के प्रसिद्ध वैद्य है और रस-चिकित्सा मे भी आपने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। आपके सैकडो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है, जो विविध विषयो से सम्बद्ध हैं। उनमे से प्रसिद्ध उपन्यासो और कहानी-सग्रहो के नाम ये है—

रचनाएँ—

(क) **उपन्यास**—आत्मदाह, अपराजिता, आलमगीर, अदल-बदल, आकाश की छाया मे, खवास का ब्याह, दो किनारे, धर्मराज, नरमेध, नीलमणि, पूर्णाहुति, मन्दिर की नर्तकी, रक्त की प्यास, वय रक्षाम (दो भाग) बहते आसू हृदय की प्यास, हृदय की परख, सोमनाथ, वैशाली की नगरवधू, गोली आदि।

(ख) **कहानी-संग्रह**—कैदी, गदर के पत्र, राजपूत बच्चे, रजकण, अक्षत आदि।

उपन्यास और कहानी-लेखन-कला पर शास्त्री जी का अपूर्व अधिकार है। प्रतिभा मानो इनकी वशवर्तिनी चेरी है, ये उसे अपनी इच्छानुसार

जैसे चाहे नचाते रहते है। कहानीकार चतुरसेन और उपन्यासकार चतुरसेन मे भी बडा अन्तर है। उनकी कहानियाँ इनके उपन्यास की अपेक्षा अत्यधिक सयत और सुसस्कृत होती है। उनसे कुछ-न-कुछ प्रेरणा भी प्राप्त होती है। कम-से-कम यथार्थ के नाम पर दुराचार और वासनाओ का वैसा बीभत्स नग्न नृत्य चतुरसेन जी की कहानियो मे देखने को कम मिलेगा जैसाकि उनके उपन्यासो मे है।

यद्यपि वस्तु-विन्यास और चरित्रचित्रण की दृष्टि से इनके उपन्यास भी प्रेमचन्द जी के उपन्यासो के समान सफल है, पर इनके उपन्यासो मे अस्वाभाविकता और अश्लीलता की भरमार के कारण ये समाज के लिए मगलजनक नही हो सके। उदाहरणार्थ इनके 'अमर अभिलाषा' और 'आत्मदाह' आदि उपन्यासो मे एक के बाद एक घृणित प्रसग हैं। निस्सन्देह 'अमर अभिलाषा' स्त्रियो के उत्थान के लिए लिखा गया है, फिर भी कुछेक स्थल ऐसे है, जो सर्वथा अरुचिकर तो हैं ही, साथ ही समाज के लिए अहितकर भी हैं। वस्तुत. यह सब-कुछ यथार्थवाद के नाम पर किया गया है जोकि अनुचित है।

'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास मे कोई भी पात्र ऐसा नही जो जारज न हो। वर्णसकरता और कामुकता का इस प्रकार का प्रचार समाज के लिए हितकर नही है। लेखक मे प्रतिभा, मौलिकता, भावुकता, लेखन-क्षमता, अनुभव आदि सब कुछ है पर इनका उपयोग सात्विक शुद्ध रूप मे करना नितान्त अपेक्षित है। यदि इस लौह-लेखनी के धनी सशक्त कलाकार की कलम से कहानियो के समान उपन्यास भी चरित्र-निर्माण मे सहायक सिद्ध होते तो इनका नाम निश्चित ही प्रेमचन्द के समान अमर हो जाता।

(५) वृन्दावनलाल वर्मा

जीवन—आपका जन्म मऊ रानीपुर ग्राम, जिला झाँसी के एक प्रतिष्ठित कुल मे हुआ। बाल्यकाल मे ही आपको कहानी सुनने का बडा

शौक था और इसी रुचि के परिणाम-स्वरूप आप पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे ही कहानी लिखने लग पडे। पन्द्रह से अठारह वर्ष तक की अवस्था मे आपने एक उपन्यास और नौ नाटक लिख डाले थे। तब से लेकर अब तक आप उपन्यास, कहानी, नाटक आदि लिखते चले आ रहे है। इनमे से इनकी ख्याति उपन्यासकार के रूप मे सर्वाधिक है। पहले आप वकालत करते रहे पर सन् १९४२ के आन्दोलन के दिनो से वकालत को लात मारकर तन-मन से साहित्य-सेवा मे जुट गये। झाँसी मे मयूर-प्रकाशन सस्था के द्वारा साहित्य-प्रसार का कार्य कर रहे है। वर्मा जी अनेक भाषाओ के ज्ञाता हैं। इतिहास, मनोविज्ञान, पुरातत्त्व, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, सगीतकला आदि मे आप पर्याप्त रुचि रखते हैं।

रचनाएँ--

(क) **उपन्यास**—'अमरबेल', 'अहिल्याबाई', 'अचल मेरा कोई', 'कचनार', 'कभी-न-कभी', 'कुण्डलीचक्र', 'कोतवाल की करामात', 'गढ-कुण्डार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'प्रत्यागत', 'प्रेम की भेंट', 'मुसाहिब जू', 'मृगनयनी', 'लगन', 'विराटा की पद्मिनी', 'सगम', 'सोना' आदि।

(ख) **कहानी-संग्रह**—'हारसिगार', 'कलाकार का दण्ड', 'दबे पाँव', 'शरणागत' आदि।

(ग) **नाटक**—'कनेर', 'काश्मीर का काँटा', 'केवट', 'खिलौने की खोज', 'जहाँदार शाह', 'झाँसी की रानी', 'नीलकण्ठ', 'पीले हाथ', 'पूर्व की ओर', 'फूलो की बोली', 'बाँस की फाँस', 'बीरबल', 'मगल-सूत्र', 'राखी की लाज', 'लो भाई पचो लो', 'हस-मयूर' आदि।

'मृगनयनी' उपन्यास पर सरकारी और गैर सरकारी चार विभिन्न सस्थाओ से आपको ५१०० रु० पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे उत्कृष्ट उपन्यास गढ-कुण्डार है। इस उपन्यास मे मध्यकालीन बुन्देलखण्ड की सास्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति तथा वातावरण की सजीव रूप मे अवतारणा हुई है। इसके प्रमुख पात्र, घटना-व्यापार तथा वातावरण आदि सभी

कुछ इतिहास पर आधारित है। कुछ घटनाएँ कल्पित भी है पर उनके कारण इतिहास मे बाधा उत्पन्न नही होती।

वर्मा जी सहृदय और भावुक कलाकार हैं। उनमे कल्पना-विधान की अपूर्व क्षमता है। वे कथा के मार्मिक सूत्रो को पहचानकर ऐसा हृदय-हारी मनोरम चित्र आँखो के सामने अकित कर देते है कि पाठक उसे देखते-देखते तन्मय हो जाता है।

'झाँसी की रानी' उपन्यास झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के जीवन-वृत्त के आधार पर लिखा गया है। लेखक ने बडे परिश्रम से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री को सफलतापूर्वक उपन्यास का रूप दिया है। इस उपन्यास के निर्माण मे लेखक ने ऐतिहासिक लेखो के अतिरिक्त प्रत्यक्षदर्शी बडे-बूढो से मिल-मिलकर भी वास्तविक तथ्यो को सकलित करने मे बडा भारी प्रयास किया।

'विराटा की पद्मिनी' को हम अर्ध-ऐतिहासिक उपन्यास कह सकते है, क्योकि इसकी कथावस्तु का आधार अधिकाशत जनश्रुति ही है। इसकी अधिकतर घटनाएँ और पात्र-कल्पित है। पर फिर भी कुल मिलाकर यह एक उत्कृष्ट उपन्यास है। वातावरण की सजीवता, रोमान्स आदि—सभी दृष्टियो से विराटा की पद्मिनी भी एक सुन्दर कृति कही जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते है कि वर्मा जी साहित्य-साधना मे सतत सलग्न है। आपने हिन्दी-गद्य-साहित्य को उपन्यास, कहानी, नाटक आदि सभी कुछ दिये है और बहुत उत्कृष्ट रूप मे दिये हैं।

(६) भगवतीप्रसाद वाजपेयी

जीवन—आपका जन्म मंगलपुर ग्राम, जिला कानपुर उत्तर प्रदेश मे सवत् १६५६ मे हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव मे ही हुई। परिवार की आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण आप स्कूल मे मिडिल से अधिक न पढ सके। सस्कृत मे आपकी विशेष रुचि थी इसलिए घर पर रहकर ही आप हिन्दी-सस्कृत का विशेष अध्ययन करते रहे। पण्डित बाँके बिहारीलाल चतुर्वेदी के आश्रय ने आपको अपनी लक्ष्य-प्राप्ति

मे बहुत बडा योग दिया ।

रचनाएँ—आपकी पहली कहानी 'यमुना' स० १९७९ मे प्रकाशित हुई । तब से लेकर आप निरन्तर उपन्यास और कहानियाँ लिख रहे है । इनकी रचनाओ के नाम ये हैं—

(क) कहानी संग्रह—'मधुपर्क', 'दीपमालिका', 'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'मेरे सपने', 'ज्वार भाटा', 'कला की दृष्टि', 'उपहार', अगारे' आदि ।

(ख) उपन्यास—'उतार चढाव', 'चलते-चलते', 'खाली बोतल', 'गुप्त धन', 'दो बहने', 'पतिता की साधना', 'निर्यातन', 'प्रेम पथ', 'विश्वास का बल', 'यथार्थ से आगे', 'हिलोर', 'मीठी चुटकी', 'त्यागमयी', 'प्रेम विवाह', 'निमन्त्रण' आदि ।

जैसाकि इन नामो से स्पष्ट है, वाजपेयी जी अपने साहित्य के माध्यम से समाज को कुछ सन्देश देना चाहते है । आपकी कला मे भी प्रेमचन्द के समान आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के प्रत्यक्ष दर्शन होते है । जैसे कि 'दो बहने' उपन्यास मे वाजपेयी जी ने आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के दोषो को चित्रित किया है, एक व्यक्ति की दो प्रेमिकाएँ होने से किस प्रकार मानसिक विकार बढते जाते है यह इसमे भली भाँति दिखाया गया है । 'निमन्त्रण' मे भारतीय सस्कृति और पाश्चात्य सभ्यता का सघर्ष-मय चित्रण है । उपन्यास की प्रधान पात्री 'मिस मालती' है जिसका चरित्र घटनाओ के जाल और पात्रो की भीड-भाड के कारण विशेष स्पष्ट नही हो पाया । आपकी कहानियो मे कथानक तो नाम-मात्र का ही रहता है, घटनाओ एव प्रसगो का सकेतो के रूप मे उल्लेख कर आप मनोविज्ञान के आधार पर पात्रो के गुण-दोषो को व्यक्त करते हैं । आप-की कहानियो मे मुक्तक काव्य का-सा आनन्द रहता है । आपकी भाषा सुललित, अलकृत और भावानुसारिणी है ।

(७) इलाचन्द्र जोशी

जीवन—जोशी जी का जन्म अलमोडे मे स० १९५९ मे हुआ । आप बहुत दिनो तक आकाशवाणी के इन्दौर केन्द्र से सम्बद्ध रहे । इसके बाद

आप ऑल इण्डिया रेडियो, देहली मे कार्य करते रहे। आप हिन्दी के उत्कृष्ट उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक हैं।

रचनाएँ—आपकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है, जिनमे से निम्नलिखित अत्यन्त प्रसिद्ध है—

उपन्यास—'खण्डहर की आत्मा', 'जिप्सी', 'जहाज का पछी', 'निर्वासित', 'प्रेत और छाया', 'पर्दे की रानी', 'मुक्ति-पथ', 'लज्जा', 'सन्यासी', 'सुबह के भूले' आदि।

कहानी-संग्रह—'उपनिषदो की कथाएँ', 'खण्डहर की आत्माएँ', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'धूपलता', महापुरुषो की प्रेम-कथाएँ', 'होली और दीवाली' आदि।

आलोचना व निबन्ध—'विवेचना', 'विश्लेषण', 'साहित्य सर्जना', 'शरत्चन्द्र' व्यक्तित्व और कलाकार'।

फ्रायड, जु ग, एडलर आदि पाश्चात्य विचारको से जो मानसिक विश्लेषण की प्रवृत्ति हमारे यहाँ आई, उस प्रवृत्ति को लेकर जो कलाकार आगे बढे, उनमे इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिक तथ्यो का पर्याप्त मात्रा मे विश्लेषण हुआ है। 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास की भूमिका मे जोशी जी ने स्वय अपने ऊपर इस प्रभाव को स्वीकार किया है। 'सन्यासी' उपन्यास ने उन्हे हिन्दी-ससार मे खूब चमकाया। इस उपन्यास का नायक दो सुन्दरियो से प्रेम करता है। किन्तु अपनी ही कमजोरियो के कारण न तो वह स्वय प्रसन्न रह पाता है, और न अपनी प्रेयसियो को प्रसन्न कर पाता है। इसीलिए विवश होकर अन्त मे वह संन्यासी बन जाता है। साधारण जीवन से लेकर मनुष्य के सन्यासी बनने तक मानव के हृदय की भावनाओ को कसकर परखने का लेखक को इस उपन्यास मे पूरा-पूरा अवसर मिला, इसलिए उसने इसका यथेष्ठ लाभ उठाया है। यही विश्लेषण 'परदे की रानी' मे और भी अधिक स्पष्ट रूप मे हुआ है। यह उपन्यास भी अत्यन्त रोचक है। कथोपकथन, वातावरण

आदि सभी-कुछ बडे प्रभावशाली और हृदयग्राही है।

जोशी जी का 'मुक्ति-पथ' सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा जा सकता है। इसमे लेखक अपने अन्य उपन्यासो के समान फ्रायड से बहुत अधिक प्रभावित नही दिखाई देता। उपन्यास सामयिक और स्वस्थ दृष्टिकोण को लेकर लिखा गया है। उपन्यास का नायक 'राजीव' एक आदर्श कर्मठ महापुरुष है। वह पहले क्रान्तिकारी रह चुका था। उसका चरित्र गगाजल के समान पवित्र और निर्मल है। वह विधवा सुनन्दा को उसके सम्बन्धी के यहाँ से भगा लाता है, पर इसके साथ किसी प्रकार का कोई वासनात्मक सम्पर्क नही रखता, प्रत्युत सुनन्दा के सहयोग से वह एक ऐसे वातावरण और सस्था का निर्माण करता है, जहाँ पर सभी लोग स्वावलम्बन के द्वारा समाज को उन्नत बनाने के लिए जुटे हुए है। सुनन्दा और राजीव हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के दो अनुपम नायक-नायिका है। भाषा, विषय, शैली, चरित्र-चित्रण आदि सभी दृष्टियो से यह उपन्यास बडा सुन्दर है। फिर भी उत्तरार्ध मे, जहाँ लेखक कलाकार का रूप छोडकर उपदेशक का रूप धारण कर लेता है, वहाँ उपन्यास का प्रवाह सर्वथा मन्द पड जाता है। यदि उस उपदेशाश को छोड दिया जाय, तो 'मुक्ति-पथ' निस्सदेह हिन्दी के उत्कृष्टतम उपन्यासो मे स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है।

जोशी जी के 'खण्डहर की आत्मा', 'जहाज का पछी', 'निर्वासित', 'प्रेत और छाया', 'सुबह के भूले' आदि अन्य उपन्यास भी अपनी-अपनी विशेषताएँ रखते है।

'निर्वासित' मे एक खन्ना-परिवार की कथा है, जिसमे माता तथा चार पुत्रियाँ है। तृतीय पुत्री नीलिमा मुख्य पात्री है। भावुक किन्तु दुर्बल-हृदय कवि महीप मुख्य पात्र है। यह क्रम से सभी लडकियो से प्रेम करता है, पर सफल किसी मे नही हो पाता।

'पर्दे की रानी' की मुख्य पात्री निरजना वेश्या-पुत्री है, जिसकी हत्या उसके पिता ने कर दी थी। उसी के हृदय के पर्दे को हटाने का सारे

उपन्यास मे प्रयत्न किया गया है ।

'जिप्सी' जोशी जी का सबसे बडा उपन्यास है। इसकी नायिका मनिया तिब्बती पिता तथा हिन्दू-विधवा की पुत्री है ।

'सुबह के भूले'—इसमे बम्बई के जीवन की एक झलक है ।

इस प्रकार हम देखते है कि जोशी जी अपने उपन्यासो मे मानव की दुर्बलता का ही अधिकतर चित्र अकित करते है। इनके सभी नायक सुन्दरियो को चाहते हुए भी उन्हे प्राप्त नही कर पाते। हॉ, 'मुक्ति-पथ' इसका अपवाद है। इसका नायक चिर-परिचिता सुनन्दा को भी ग्रहण नही करता। यो भी वह स्त्रियो से दूर ही भागता है। 'मुक्ति-पथ' मे लेखक ने जो दिशा बदली है, उससे उनके उच्च स्तर पर अग्रसर होने का सकेत मिलता है।

(८) भगवतीचरण वर्मा

वर्मा जी का जन्म सवत् १९६० मे उत्तर प्रदेश मे उन्नाव जिले के शफीपुर गॉव मे हुआ। आपके पिता कानपुर के प्रसिद्ध वकील थे। आपने पिताजी की प्रेरणा से बी० ए०, एल-एल० बी० परीक्षा पास की, पर आप वकालत के धन्धे मे नही पडे। बचपन से ही आपकी रुचि साहित्य की ओर थी। चौदह वर्ष की अवस्था से ही आपकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने लग पडी थी। आपकी निम्न रचनाएँ प्रसिद्ध है— 'चित्रलेखा', 'टेढे-मेढे रास्ते', 'तीन वर्ष', 'पतन', 'आखिरी दाव' आदि उपन्यास ।

'इन्स्टालमेण्ट', 'दो बॉके', 'उतार-चढाव', 'बुझता दीपक', 'रुपया तुम्हे खा गया' आदि कहानियाँ तथा 'वासवदत्ता' आदि नाटक। इनके अतिरिक्त आपने दर्जनो एकाकी नाटक भी लिखे हैं।

उक्त सूची से ज्ञात होता है कि वर्मा जी एक भावुक कवि ही नही, प्रत्युत सफल गद्य-लेखक भी है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, एकाकी, आलोचना आदि सभी कुछ लिखकर आपने स्पष्ट सिद्ध कर दिया कि आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। इधर आप पत्रकारिता मे भी उतने

ही दक्ष एव सफल है ।

वर्मा जी जीवन के सत्य को जैसा देखते हैं वैसा ही उसे व्यजित कर देते है । अत आपको यथार्थवादी कलाकार कहा जाता है । आपके व्यग्य बडे तीव्र और मर्मस्पर्शी होते है । आपकी कहानियो और एकाकियो मे मनोवैज्ञानिक आधार पर समाज की वस्तुस्थिति पर तीखा व्यग्य रहता है ।

आपके 'चित्रलेखा' उपन्यास की हिन्दी-जगत् मे खूब धूम रही । इसमे दिखाया है कि पाप और पुण्य की वास्तविक जड मनुष्य की अपनी भावनाओ मे ही निहित है । उपन्यास के चित्रण सजीव और हृदयग्राही हैं ।

'टेढे-मेढे रास्ते' उपन्यास मे विभिन्न राजनीतिक मार्गो का वर्णन करते हुए दिखाया गया है कि सभी का लक्ष्य एक ही है । इनके 'तीन वर्ष' उपन्यास का कथानक प्रेम-प्रधान है । एक व्यक्ति के जीवन मे भाग्य का कितना सबल हाथ रहता है, इसी आधार पर इसका कथानक निर्मित है ।

वर्मा जी की निर्भीक लेखनी मे अद्भुत शक्ति है । उनकी भाषा पात्रो के अनुकूल और सजीव है । इनकी 'दो बाके' नामक प्रसिद्ध कहानी इस कथन का प्रबल प्रमाण है ।

(६) जैनेन्द्रकुमार

जीवन—जैनेन्द्र जी का जन्म स० १९६२ मे कौडियागज, अलीगढ मे हुआ । जब ये चार मास के थे तभी इनके पिता स्वर्ग सिधार गए, अत इनका लालन-पालन इनकी माता ने ही किया । मैट्रिक पास कर ये हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी मे पढने गये, पर सत्याग्रह-आन्दोलन के दिनो मे कालेज छोड जेल चले गए । इसके बाद इन्होने साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया । हिन्दी के उच्च कोटि के उपन्यासकारो व कहानीकारो मे आपकी गणना की जाती है । अब तक आपके अनेक उपन्यास, कहानी-सग्रह तथा निबन्ध-सग्रह प्रकाशित हो चुके है । आपकी निम्नोक्त रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

कहानी-संग्रह—'एक रात', 'पाजेब', 'जयसधि', 'दो चिडियाँ', 'नीलम देश की राजकन्या', 'ध्रुव यात्रा' तथा 'फाँसी ।

उपन्यास—'परख', 'सुनीता', 'तपोभूमि', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'जयवर्धन', 'दशार्क' तथा 'ग्रनाम स्वामी'।

निबन्ध-संग्रह—'पूर्वोदय', 'प्रस्तुत प्रश्न' व 'काम, प्रेम और परिवार' आदि।

आपने टाल्स्टाय के नाटक 'दी पॉवर ग्राव डार्कनेस' का 'पाप और प्रकाश' नाम से अनुवाद भी किया है।

जैनेन्द्र जी के उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्राधान्य है। कुछ आलोचको का कथन है कि उनमे कथा है ही नही—विज्ञान ही विज्ञान है, और उपन्यास का लक्ष्य ज्ञान-विज्ञान का विश्लेषण नही प्रत्युत कहानी कहना है। इसके विपरीत जैनेन्द्र जी कहते हैं—"कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नही है।" कुछ भी हो, जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासो के माध्यम से नारी के हृदय की—विभिन्न परिस्थितियो मे पडी हुई नारी के मनोभावो की—व्याख्या का बीडा उठाया है और प्राय सर्वत्र यह दिखाने का प्रयास किया है कि अहकार, हृदय और अन्त मे सर्वस्व के उत्सर्ग मे ही समस्या का समाधान है। वे नारी को इधर-उधर अनेक विषम परिस्थितियो मे डालकर और ऐसी दशा मे डालकर जहाँ वह पतन के कगार पर जा पहुँची हो, सहसा बचा लेते हैं और अन्त मे त्याग मे समस्या का समाधान ढूँढ निकालते हैं। इनके कुछेक उपन्यासो का सामान्य परिचय लीजिए—

(१) **परख**—इस उपन्यास मे कट्टो नामक एक ग्रामीण नटखट युवति विधवा का चित्र अकित किया गया है, जिसे समाज ने बरबस विधवा ठहरा दिया है, पर जिसका हृदय अपने-आपको विधवा मानने को प्रस्तुत नही। फलत वह अपने को एक मास्टर के चरणो मे समर्पित कर देती है, पर मास्टर जब उसे ग्रहण करने मे असमर्थता प्रकट करता है तो वह उसे सहर्ष दूसरी स्त्री से विवाह की स्वीकृति दे देती है। यही त्याग ही नारी को ऊँचा उठा देता है। उधर बिहारी के हृदय मे कट्टो के प्रति सच्ची प्रीति है और उसके परिणामस्वरूप कट्टो और बिहारी का शारीरिक

नही तो आत्मिक मिलन हो ही जाता है।

(२) **सुनीता**—श्रीकान्त का मित्र हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी दल मे सम्मिलित होकर मारा-मारा फिरता था। श्रीकान्त ने उसे उस जीवन से निकालकर घर-गृहस्थी बनाने के विचार से अपने घर आश्रय दिया। हरिप्रसन्न घर मे रहते-रहते उसकी पत्नी सुनीता को पढाने लगा। सुनीता और हरिप्रसन्न का पारस्परिक प्रेम भी हो गया, पर अन्त मे वह उसे छोडकर भाग गया। इस उपन्यास मे भी नैतिकता की छाप सब पात्रो पर लगी हुई है।

(३) **तपोभूमि**—इस उपन्यास का पूर्वार्ध जैनेन्द्र जी ने तथा उत्तरार्ध ऋषभचरण जैन ने लिखा है। नवीन और शशि बालमित्र थे, उनका विवाह भी आपस मे होने वाला था, पर नवीन को अपने मित्र सतीश की बहन धारिणी का उद्धार करने की धुन सवार हो गई, जो एक बार दुराचरण की शिकार बनकर प्रयाग मे वेश्या-जीवन व्यतीत करने लगी थी। बेचारी शशि नवीन के लिए सदा तडपती-मरती रही और उसी को पति मानकर उसने अपनी सब भावनाओ का उत्सर्ग कर दिया। अन्त मे सतीश द्वारा ही नवीन की हत्या हो जाती है। इस उपन्यास मे शशि की करुण-मूर्ति दर्शनीय है।

(४) **सुखदा**—एक सम्पन्न परिवार की लडकी सुखदा का विवाह साधारण वेतन पाने वाले व्यक्ति से हो गया। सुखदा अपने पूर्वानुभूत स्वातन्त्र्य की भावना की तृप्ति के लिए क्रान्तिकारी दल के हरीश और लाल नामक दो सदस्यो से मिलने-जुलने लगी। आदर्शवादी हरीश ने उसकी ओर ध्यान नही दिया, पर लाल उसके रूपाकर्षण मे फँस गया। उनके पारस्परिक आकर्षण का पता उसके पति तथा हरीश दोनो को लग गया, पर पतिदेव ने उसके मार्ग मे बाधा डालने का कोई प्रयत्न नही किया। अन्त मे मृत्यु-शय्या पर पडी हुई सुखदा अपने कार्यो की आलोचना करती हुई शान्ति प्राप्त करने के प्रयत्न मे लगी हुई दिखाई गई है।

(५) **विवर्त**—सर रामचरण की पुत्री मोहिनी और साधारण परिवार का जितेन परस्पर अनुराग-पाश मे बँधे हुए है, पर इतने बडे धनवान् की बेटी भला साधारण युवक से कैसे ब्याही जा सकती है, अत मोहिनी का विवाह बैरिस्टर नरेश से कर दिया जाता है। उधर धनवानो से बदला लेने की ललक मे जितेन क्रान्तिकारी दल मे सम्मिलित हो जाता है। एक बार वह गाडी के उलट जाने पर मोहिनी के घर पर ही आश्रय पाता है। ज्वरित जितेन को वह अपने घर रखती है और उसके बार-बार कहने पर भी उसे पुलिस के हवाले नही करती, प्रत्युत हर प्रकार के खतरे स्वय उठाने को तय्यार हो जाती है। वह उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है। अन्त मे स्वस्थ हो जाने पर वह मोहिनी के आभूषण चुराकर क्रान्तिकारी दल के कार्य मे जुट जाता है, पुन आत्मग्लानि के कारण अपने-आपको पुलिस के हाथो मे सौप देता है। इस प्रकार इस उपन्यास मे प्रेम और समाज के नियमो मे बडा भारी सघर्ष दिखाकर अन्त मे सामाजिक नियमो की अभेद्यता दिखाई गई है। जीवन के कटु सत्य पर हृदय के स्नेह को सदा न्योछावर किया जाता रहा है, यही इस उपन्यास मे दिखाया गया है।

(६) **व्यतीत**—इस उपन्यास का नायक जयत एक पुस्त्वहीन ग्रेजुएट है, जो अपनी दुर्बलता के कारण उस पर अनुरक्त अनीता तथा सुनीता से दूर-दूर भागता है और अन्त मे अपनी विवाहिता पत्नी चन्द्री को भी छोडकर योगी हो जाता है। चन्द्री कुमार से पुर्नविवाह करवा लेती है। यहाँ भी वही नारी-समस्या है।

(७) **कल्याणी**—कल्याणी डॉक्टरनी है और उसका पति भी डॉक्टर है। वे चाहते है कि कल्याणी अपना व्यवसाय छोडकर केवल गृहिणी बन जाय। पर ऐसा करने से आय आधी रह जायगी, घर का खर्च कैसे चलेगा—यही समस्या है। यह कहानी सत्य घटना पर आधारित है।

(८) **त्यागपत्र**—इसकी कथा भी सत्य घटना पर अवलम्बित है। मृणाल नामक लडकी का प्रेम उसकी सहेली के भाई से हो गया। घर

वालो को पता लगने पर उन्होने उसका विवाह अन्य युवक से कर दिया। मृणाल ने भोलेपन मे अपनी प्रेम-कहानी अपने पति को बता दी, फलत उसने उसे छोड दिया। वह दर-दर भटकती फिरी और बीस वर्ष तक समाज की कठोर यातना सहने के पश्चात् इस ससार से चल बसी—यही इसकी कथा है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैनेन्द्र जी पहले तो वैयक्तिक सुख-लिप्सा तथा वासनाओ को अबाध गति से विकसित होने देते है, पर अन्त मे उनकी परिणति त्याग व कष्ट-सहन मे दिखाते है।

(१०) 'अज्ञेय'

'अज्ञेय' जी का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। आपका जन्म स० १९६३ मे हुआ।

आप सुकवि, समालोचक, उपन्यासकार, कहानीकार, तत्त्वचिन्तक आदि सभी कुछ है। आपकी निम्न रचनाएँ प्रसिद्ध है—

उपन्यास—'शेखर एक जीवनी' (दो भाग) और 'नदी के द्वीप'।

कहानी-संग्रह—'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'जयदोल' आदि।

कविता-संग्रह—'चिता', 'भग्नदूत', 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर' आदि।

'अज्ञेय' जी एक अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के अध्ययनशील कलाकार हैं।

शेखर—आपके प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' का प्रकाशन हिन्दी-उपन्यास-साहित्य मे एक युगान्तरकारी घटना समझी जाती है। इस उपन्यास के प्रकाशित होते ही अज्ञेय जी की कीर्त्ति हिन्दी-जगत् मे सर्वत्र फैल गई। शेखर इस उपन्यास का प्रधान नायक है, जो कवि, दार्शनिक, क्रान्तिकारी आदि सभी कुछ है, पर है अत्यन्त भीरु प्रकृति का। अन्य सब पात्र शेखर के कारण ही सामने आते है, अन्यथा उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही। कथावस्तु बहुत कम और ढीली-ढाली-सी है।

घटनाएँ भी नही के बराबर है। यह उपन्यास एक प्रकार से आत्म-चिन्तन या आत्मकथन अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के रूप मे है। हिन्दी-उपन्यासो की परम्परा मे शेखर को एक नया प्रयोग माना गया है।

नदी के द्वीप—यह भी शेखर ही के ढग का उपन्यास है। इसका नायक भुवन भी शेखर की सब त्रुटियाँ और विशेषताएँ लिये हुए है। चन्द्रमाधव इसका दूसरा पात्र है, जिसका चरित्र-चित्रण भुवन की अपेक्षा अधिक सजीव रूप मे हुआ है। 'नदी के द्वीप' उपन्यास 'अज्ञेय' जी के शेखर की अपेक्षा सुसगठित, सुसम्बद्ध एव सन्तुलित है। इसके सवाद प्रभावशाली और सशक्त है। 'अज्ञेय' जी कवि और भावुक कलाकार है, अत उनके उपन्यासो के गद्य-सदर्भो मे भी काव्य का-सा मधुर आनन्द प्राप्त होता है। भाषा पर 'अज्ञेय' जी का पूरा-पूरा अधिकार है।

(११) उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

जीवन—'अश्क' जी का जन्म सवत् १९६७ मे जालन्धर मे हुआ। आप छ भाइयो मे सबसे छोटे है। आपकी शिक्षा-दीक्षा जालन्धर मे हुई। बी० ए०, एल-एल० बी० पास करने के बाद भी कानून का रूखा क्षेत्र आपको अपनी ओर आकृष्ट न कर सका और आप साहित्य-सेवा की ओर झुक गये। जीवन-निर्वाह के लिए आप कुछ समय तक स्कूल मे अध्यापक भी रहे। कुछ समय पूर्व आप क्षय से पीडित हो गये थे, पर प्रभु-कृपा से अब आप सर्वथा स्वस्थ हैं।

प्रेमचन्द जी की भाँति आप भी उर्दू से हिन्दी मे आये। स० १९८९ से आप हिन्दी मे नियमित रूप से कहानियाँ लिखने लगे। आपकी कहानियाँ प्रेमचन्द और सुदर्शन की कला से प्रभावित है।

रचनाएँ—

(क) उपन्यास—'सितारो के खेल', 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'बडी-बडी आँखें', 'रगसाज', 'चेतन' आदि।

(ख) कहानी-संग्रह—'छीटें', 'जुदाई की शाम का गीत', 'काले

साहब', 'बैगन का पौधा', 'पिजरा', 'दो धारा', 'अवध की शाम', 'मेरी दुनिया', 'शिमला की क्रीम' आदि ।

इनके उपन्यासो मे 'सितारो के खेल', 'गिरती दीवारे' और 'गर्म राख' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। (१) **सितारो के खेल** का कथानक प्रेम-प्रधान है। उपन्यास की नायिका को भाग्य के वशीभूत होकर उम्र-भर उस व्यक्ति की सेवा करनी पडती है, जिसे वह दिल मे नही चाहती थी और जो उसी के कारण पंगु और अपाहिज बन चुका है।

(२) **गिरती दीवारें**—इस उपन्यास मे मध्यमवर्ग के युवक के जीवन-सघर्ष की कथा कही गई है। उपन्यास के नायक 'चेतन' को अपने जीवन-निर्वाह के लिए किस प्रकार कठिनाइयो का सामना करना पडता है, पूँजीपति-वर्ग द्वारा उसकी साहित्यिक प्रतिभा का किस प्रकार शोषण होता है, यही इसमे मुख्य रूप से दिखाया गया है। इस उपन्यास मे आनुषगिक रूप से विवाहो की बुराइयो पर भी प्रकाश डाला गया है। 'चेतन' उपन्यास इसी उपन्यास का ही सक्षेप है।

(३) **गर्म राख**—'अश्क' जी का यह एक सशक्त उपन्यास है, जिसमे विभिन्न साहित्यकारो की मनोभावनाओ का बडा ही सूक्ष्म और हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है।

उपन्यासो के समान इनकी कहानियो मे भी समाज पर तीखे व्यग्य रहते हैं। ये अपनी रचनाओ के लिए सामग्री बहुधा स्वानुभूत जीवन से प्राप्त करते हैं। आपकी भाषा चुस्त और मुहावरेदार सरल हिन्दी है। उसमे विदेशी शब्द भी उचित स्थान पा जाते है। प्रेमचन्द जी के समान आप भी उर्दू से हिन्दी मे आये है, इसलिए इनकी शैली पर उर्दू का प्रभाव बना रहना स्वाभाविक है।

आप प्रगतिशील लेखक है। आपकी कहानियाँ द्वन्द्वात्मक भौतिक जगत् से ली गई है। आपके पात्र सत्यता के अधिक निकट होते है। वाता-वरण उत्पन्न कर देने मे आपको दक्षता प्राप्त है। आपने कहानियो के माध्यम से हमारे सामने जीवन का व्यापक दृष्टिकोण रखा है। आपकी

रचना-शैली सुन्दर है, पर उसमे विभिन्नता कम है। आपकी रचनाओ मे सबकी शैली एक-सी है।

(१२) यशपाल

जीवन—यशपाल उत्तर प्रदेश के निवासी है। आप हिन्दी के प्रतिनिधि मार्क्सवादी लेखक हैं। साम्यवाद की विचारधारा तथा तदनुकूल राजनीतिक सिद्धान्तो को प्रचारित और प्रसारित करने के लिए आपने बीसियो पुस्तके लिखी हैं, जिनमे से निम्नोक्त उल्लेखनीय हैं।

(क) **उपन्यास**—'अमिता', 'दादा कामरेड', 'दिव्या', 'देशद्रोही', 'पक्का कदम', 'पार्टी कामरेड', 'बात-बात मे बात', 'मनुष्य के रूप' आदि।

(ख) **कहानियाँ**—'अभिशप्त', 'उत्तराधिकारी', 'उत्तमा की माँ', 'चित्र का शीर्षक', 'तर्क का तूफान', 'तुमने क्यो कहा था', 'मै सुन्दर हूँ', 'धर्म-युद्ध', 'पिजडे की उडान', 'भस्मावृत चिनगारी', 'वो दुनियाँ', 'ज्ञान-दान' आदि।

यशपाल जी क्रान्तिकारी विचारो के कलाकार है। शोषित वर्ग उन्हे प्रिय है। पूँजीपतियो से उन्हे घृणा है। पर उपन्यासो और कहानियो मे उनके राजनीतिक सिद्धान्तो की भरमार कला के स्वरूप को कुठित कर देती है। 'दादा कामरेड' मे अहिसा के सिद्धान्तो को नीचा दिखाने के लिए विप्लव की महिमा दिखलाई गई है। 'देशद्रोही' मे साम्यवाद के सिद्धान्तो का प्रचार बडे जोश के साथ किया गया है। उनका 'दिव्या' उपन्यास कला की दृष्टि से बडा सफल उपन्यास कहा जा सकता है, पर इसमे भी वासना का जो नग्न प्रदर्शन हुआ है, वह समाज के लिए कदापि हितकर नही हो सकता। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है, वातावरण शुग-काल का दिखाया गया है, पर यहाँ भी साम्यवादियो के ही दो मुख्य तत्त्व रोटी और यौन-भावना (सैक्स) आरम्भ से अन्त तक भरे हुए हैं।

इसलिए कहना पडता है कि यशपाल ने जहाँ राजनीतिक सिद्धान्तो के प्रचार से दूर हटकर मानव-जीवन की भावनाओ को चित्रित किया है

वहाँ तो वे सर्वथा सफल हुए हैं, पर ऐसे स्थल अपेक्षाकृत बहुत कम है। अधिकतर वे साम्यवाद के दलदल मे ही फँसे रह गये हैं। यदि वे अपनी प्रतिभा का प्रयोग भारतीय चिन्तन-पद्धति के अनुकूल करते तो उनका स्थान आज हिन्दी-साहित्य मे बहुत ऊँचा होता, इसमे तनिक भी सन्देह नही।

(१३) राहुल साकृत्यायन

आपका जन्म सवत् १६५२ मे आजमगढ जिले मे हुआ। इन्हे बचपन से देशाटन का शौक लग गया, और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। धीरे-धीरे भ्रमण का यह शौक इतना बढा कि भारत से बाहर लका, तिब्बत, रूस, चीन आदि देशो मे इन्होने वर्षों बिता दिये। आप हिन्दी के महा-पडित माने जाते हैं। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपकी छोटी-मोटी सैकडो रचनाएँ अब तक प्रकाशित हो चुकी है, उनमे से निम्नोक्त प्रमुख है—

(क) **उपन्यास**—'अनाथ', 'जय यौधेय', 'जादू का मुल्क', 'जीने के लिए', 'जो दास थे', 'दाखु दा', 'मधुर स्वप्न', 'भागो नही दुनिया को बदलो', 'राजस्थानी रनिवास', 'विस्मृत यात्री', 'विस्मृति के गर्भ मे', 'वोल्गा से गगा', 'शैतान की आँख', 'सिह सेनापति', 'सूदखोर की मौत', 'सौ की ढाल' आदि।

(ख) **विभिन्न विषयो से सम्बद्ध कृतियाँ**—'बुद्धचर्या', 'तिब्बत मे बौद्ध धर्म', 'तिब्बत मे सवा वर्ष', 'मेरी यूरोप यात्रा', 'सोवियत भूमि', 'साम्यवाद ही क्यो ?' 'कुरान-सार', 'पुरातत्त्व-निबन्धावली', 'दिमागी गुलामी', 'दर्शन-दिव्य-दर्शन', 'वैज्ञानिक भौतिकवाद', 'आज की समस्याएँ', 'आज की राजनीति', 'घुमक्कड शास्त्र', 'शासन शब्द-कोश' आदि।

राहुल जी ने अपनी इन रचनाओ द्वारा पुरानी विचारधारा पर एक के बाद दूसरी जबरदस्त चोटे की है। ये चोटे पुरातनवादियो के लिए तो असह्य है ही, कही कही ये सुधारक-वर्ग के लिए भी असह्य हो उठती हैं। कुछ भी हो, राहुल जी हिन्दी के विद्वान् लेखक है और उनकी लेखनी मे

पर्याप्त बल है। विद्वत्ता और कल्पना का अद्भुत सगम इनके उपन्यासो मे देखने को मिलता है।

(१४) प्रतापनारायण श्रीवास्तव

प्रतापनारायण श्रीवास्तव उत्तरप्रदेश के निवासी है। आप हिन्दी मे एक नई परम्परा के उपन्यासो को लेकर आये है। इनकी रचनाओ की सूची यह है—

उपन्यास—'विदा', 'विजय', 'विकास (दो भाग), 'आशीर्वाद', 'पाप की ओर', 'बयालीस', 'विसर्जन', 'बेकसी का मजार' आदि।

कहानी-सग्रह—'आशीर्वाद', 'नवयुग', 'दो साथी' आदि।

इनकी प्रख्यात रचनाओ का परिचय लीजिए—

विदा—इनके इस पहले ही उपन्यास ने इन्हे उच्च श्रेणी के उपन्यास-कारो मे ला बिठाया था। ये एक आदर्शवादी उपन्यासकार हैं। इसमे शान्ता आदर्श माता है, लज्जा आदर्श हिन्दू पत्नी है, मुरारी आदर्श पति है, चपला आदर्श प्रेमिका है, मिस्टर माथुर आदर्श पिता है। भारतीय आदर्शो का उल्लघन करने से किस प्रकार भयकर परिणाम निकलते है—यह इसमे भली भॉति दिखाया गया है।

बयालीस—यह उपन्यास उच्चवर्ग के पात्रो पर आधारित है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है यह सन् १९४२ की राजनीतिक उथल-पुथल को चित्रित करने वाला उपन्यास है।

विसर्जन, आशीर्वाद और **पाप की ओर** इनके अन्य प्रसिद्ध उपन्यास है। इन सबका प्रतिपाद्य विषय भी लगभग यही है। भारतीय सस्कृति के प्रति लेखक की अटूट निष्ठा प्रत्येक उपन्यास से स्पष्ट लक्षित होती है।

इनके सभी उपन्यासो मे आत्मकथन या आत्मचिन्तन की प्रभूत मात्रा उसके रस-प्रवाह मे कुछ बाधक हो जाती है, पर बीच-बीच मे आवश्यक परिहास आदि की सामग्री रहने से वे बहुत भारी नही प्रतीत होते। श्रीवास्तव जी मूलत उर्दू के ज्ञाता है और उनका प्रयत्न यह रहता है

कि शुद्ध साहित्यिक सस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखी जाय। इनका यह प्रयत्न स्तुत्य है और इसमे उन्हे उत्तरोत्तर सफलता भी मिली है।

निबन्ध तथा समालोचना

(क) निबन्ध

प्रसाद-युग से पूर्व—निबन्ध उस गद्य-बद्ध रचना को कहते है, जिसमे व्यक्तिगत अनुभवो की अभिव्यक्ति की जाती है। हिन्दी-साहित्य मे निबन्धकला का आरम्भ उस निबन्ध से मानना चाहिए जो फोर्ट विलियम कालेज मे वहाँ के अध्यापक डा० ग्राहम बेली द्वारा सन् १८०२ मे पढा गया। निबन्ध का विषय था—"हिन्दुस्तान मे कार्रवाई करने के लिए हिन्दी जबान और जबानो से ज्यादा दरकार है।" निबन्ध-पठन का यही क्रम वहाँ आगे भी चलता रहा। निबन्ध-कला को विकास देने का श्रेय उस युग की पत्र-पत्रिकाओ को भी है। 'उदन्त मार्तण्ड' (प्रकाशन-काल स० १८८३) हिन्दी का प्रथम पत्र माना जाता है। यही पत्र-परम्परा भारतेन्दु-युग मे आकर और अधिक विकसित हो गई—बनारस अखबार, हरिश्चन्द्र-मैगजीन, ब्राह्मण, हिन्दी प्रदीप, सुदर्शन आदि पत्र इसी युग की उपज है। कुछ इन पत्रो के माध्यम से तथा कुछ स्वतन्त्र रूप से निबन्ध-लेखन का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से हो गया। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, माधव मिश्र और बाल-मुकुन्द गुप्त इस युग के निबन्धकार हैं। द्विवेदी-युग मे महावीरप्रसाद द्विवेदी के महान् व्यक्तित्व एव कौशलपूर्ण सम्पादन-कार्य से निबन्ध-लेखन-प्रणाली को द्रुत गति भी मिली, तथा व्यवस्थित आकार-प्रकार भी। गोपालराम, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, चन्द्रधर गुलेरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, पद्मसिह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिह, सत्यदेव परिव्राजक आदि के अतिरिक्त मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल भी इसी युग के उत्कृष्ट निबन्धकार है।

निस्सदेह इन कलाकारो ने निबन्ध-शिल्प मे पहले की अपेक्षा

पर्याप्त रुचि ली और कला को आगे बढाया। शैली की वक्रता, व्यग्य, विलक्षण लाक्षणिकता, पाण्डित्य और विषय की गहराई मे उतरने की प्रवृत्ति इन लेखकों मे पर्याप्त पाई जाती है। अध्यापक पूर्णसिह ने लिखा थोडा है, पर इतनी प्रखर प्रतिभा का प्रसाद शायद किसी अन्य लेखक ने दिया हो। रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध अपने-आप मे इतने ऊचे हैं कि शायद एक शती तक इनका उदाहरण उपस्थित नही किया जा सकेगा। मजे की बात यह है कि इन निबधो मे जितनी भारतीय कला का उन्मेष है, उतनी ही पाश्चात्य निबन्धकला का समाहार भी है।

प्रसाद-युग—बाबू जयशकर प्रसाद के समय मे निबधकला मे निखार आया। उसकी मुग्धता उत्तरोत्तर गभीरता मे परिणत होने लगी। प्रसाद-युग के प्रमुख कलाकार ये हैं—गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, शातिप्रिय द्विवेदी, जयशकर प्रसाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, यशपाल, बेचन शर्मा 'उग्र', रामविलास शर्मा, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि। इनमे यशपाल और रामविलास शर्मा प्रगतिवादी विचारधारा के निबन्ध-लेखक है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से इस युग के निबन्धकार पूर्ववर्ती निबन्धकारो से बहुत आगे बढ चुके है। भारतेन्दु-युगीन निबन्धकारो के विषय अत्यन्त सीमित थे—'नाक', 'भौ', 'दात', 'क्रोध', 'आँसू', 'पत्नीस्तव', आदि विषयो से सम्बद्ध निबन्ध उसी युग की उपज हैं। ये उनकी सकुचित विषय-सीमा का सकेत करते हैं। द्विवेदी-युग मे इतने हलके विषयो पर तो नही लिखा गया, पर प्रसाद-युगीन विषय-वैविध्य उनमे नही है। हाँ, स्वय द्विवेदी जी तथा रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दरदास इस कथन के अपवाद हैं। वस्तुत अन्तिम दो लेखको को भी इसी युग से ही प्रभावित समझना चाहिए। इधर प्रसाद-युगीन निबन्धो के विषय विविधतापूर्ण है—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक विषयो पर अनेक निबन्ध लिखे गये है और लिखे जा रहे हैं।

प्रथम तीन प्रकार के विषयो मे प्रगतिवाद का स्वर तीव्रता से गूँजने लग गया। रामविलास शर्मा, यशपाल, शिवदानसिह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त के नाम इसी दृष्टि से विशेषत उल्लेखनीय है।

शिल्प-विधान की दृष्टि से भारतेन्दु युगीन निबन्धकारो ने अपना मार्ग स्वय निर्माण किया था, इसके लिए वे प्रशसा के पात्र है, द्विवेदी-युगीन निबन्धकारो की निरूपण-शैली भी अपनी है। पर उस युग मे अग्रेजी-निबन्धो का अनुवाद होना प्रारम्भ हो गया था, अत उनकी शैली का थोडा-बहुत प्रभाव पडना प्रारम्भ हो गया हो नो कोई आश्चर्य का विषय नही है। इधर प्रसाद-युगीन निबन्धकार अग्रेजी शिल्प-विधान से प्रभावित हैं। निबन्धो के लिए उन्हे किसी 'पृष्ठभूमि' अथवा 'भूमिका' बनाने की आवश्यकता नही। लेखक एकदम कूदकर विषय की गहराई मे उतरकर अपने मतव्य अथवा अनुभूति को एक विशेष ढग से बताना आरम्भ कर देता है—कभी वह उसे स्पष्ट भाषा मे बता देना है, कभी उसे लक्षणा मे लपेटकर उपस्थित करता है। फालतू बात बताने की यद्यपि फुर्सत न लेखक के पास है और न उसे सुनने-पढने का समय पाठक के पास है। यद्यपि ये निबन्धकार पुराने निबन्धकारो से प्रभावित नही है, फिर भी उनकी इस देन को नही भुलाया जा सकता कि आज का निबन्ध-साहित्य उन्ही के प्रारम्भ का विकसिन रूप है।

(ख) समालोचना

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल तथा भक्तिकाल मे यथार्थ रूप मे समालोचना-कार्य नही हुआ। आदिकालीन ग्रन्थो मे कुछेक सक्षिप्त, साकेतिक और प्रासगिक उक्तियाँ मिल जाती है पर वे आधुनिक 'समालोचना' के अन्तर्गत नही आती। भक्तिकाल मे निर्मित 'वार्ता-साहित्य' मे भक्तो के जीवन के प्रति जो श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गई है वे भी साहित्यिक आलोचनाए नही है। हाँ, इस काल मे निर्मित नायक-नायिका-भेद तथा अलकार से सम्बद्ध ग्रन्थ—जिनका उल्लेख हम पीछे 'रीतिकाल' शीर्षक अध्याय मे कर आये है—उपलब्ध हो जाते है, जोकि सैद्धान्तिक

समालोचना के अन्तर्गत लिये जा सकते है। आगे चलकर रीतिकालीन सभी रीतिबद्ध ग्रन्थ—विशेषत विविध काव्याङ्ग-निरूपक ग्रन्थ—सैद्धान्तिक समालोचना के अन्तर्गत आ जाते हैं—पर वस्तुत इस प्रकार के किसी भी ग्रन्थ ने आधुनिक समालोचना-शास्त्र के विकास मे किसी भी प्रकार का योग नही दिया।

आधुनिक आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है। स्वय भारतेन्दु ने 'नाटक' शीर्षक कृति मे हिन्दी के नाट्य-शास्त्र के विकास की चर्चा की थी। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'नीलदेवी' और 'सयोगिता-स्वयवर' आदि कृतियो की आलोचना प्रस्तुत करके पुस्तक-समालोचना का सूत्रपात किया। उस युग के अन्य आलोचको मे बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, अम्बिकादत्त व्यास के नाम उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी-युग मे द्विवेदी जी ने इस दिशा को आगे बढाया। उन्होने 'रसज्ञ-रजन' मे कवि, कविता आदि के विषय मे कतिपय शास्त्रीय आलोचना-सम्बन्धी निवन्ध सकलित किये। उनके 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना', 'विचार-विमर्श', 'समालोचना-समुच्चय' ग्रन्थ भी आलोचना-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। द्विवेदी जी के अतिरिक्त अन्य समालोचको के निम्न ग्रन्थ उल्लेखनीय है—मिश्रबन्धुओ के 'मिश्रबन्धु विनोद', 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'साहित्य पारिजात', हरिऔध का 'रसकलस', कृष्णबिहारी मिश्र का 'देव और बिहारी', पद्मसिह शर्मा का 'बिहारी की सतसई', भगवानदीन का 'बिहारी और देव', श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', 'रूपक-रहस्य' आदि। इसी युग मे रामचन्द्र शुक्ल के समालोचन-कार्य से इस विषय को नई दिशा मिली। उन्होने प्राचीन गुण-दोषात्मक पद्धति का परित्याग कर मनोविश्लेषण-पद्धति का सूत्रपात किया। रचनाकार के व्यक्तित्व, उसकी मन स्थिति और सामाजिक परिस्थितियो के विश्लेषण की परिपाटी का प्रारम्भ करके शुक्ल जी ने सर्वप्रथम काव्य को समाज के सम्पर्क मे लाने का नवीन प्रयास किया। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'चिन्तामणि', 'रस-मीमासा' आदि ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य

निधियाँ है।

शुक्ल जी के-उपरान्त प्रसाद-युगीन आलोचको मे गुलाबराय, नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, रामदहिन मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय है। गुलाबराय और नगेन्द्र ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो की नूतन व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। रामदहिन मिश्र और पोद्दार के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्राचीन सस्कृत के ग्रन्थो को सरल रूप मे हिन्दी-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करने मे सफल सिद्ध हुए है। नन्ददुलारे की ख्याति 'हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी', 'जयशकर प्रसाद', 'सूरदास' आदि आलोचनात्मक ग्रन्थो मे है। हजारीप्रसाद द्विवेदी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा का विकास दिखाने मे अतुल्य है। शान्तिप्रिय द्विवेदी की 'सचारिणी' एव 'सामयिकी' आदि निबन्ध-सग्रह नूतन विचार देते है—हाँ, इनका अभिव्यक्ति-प्रकार किंचित् जटिल है।

इन्ही आलोचको की गणना मे डॉ० सत्येन्द्र, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, सीताराम चतुर्वेदी, देवराज उपाध्याय, डॉ० देवराज के नाम भी उल्लेखनीय है। इन आलोचको के अतिरिक्त प्रगतिवादी आलोचको मे धर्मवीर भारती, रामविलास शर्मा, शिवदार्नासह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, रामेश्वर शुक्ल 'अचल' आदि ने भी हिन्दी-समालोचना को नवीन रूप प्रदान किया है।

इस प्रकार हिन्दी-समालोचना भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होकर आज तक विविध रूपो मे से गुजरती हुई उत्तरोत्तर नवीन पथ का आलम्बन कर रही है।

अब प्रसाद-युगीन तथा प्रसादोत्तरयुगीन कतिपय निबन्धकारो तथा आलोचको का परिचय लीजिए—

(१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का जन्म स० १६४१ मे उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले मे अगोना ग्राम मे हुआ। शुक्ल जी प्राचीन भारतीय सस्कृति के पोषक थे और भाषा तथा साहित्य मे बाल्यकाल से ही रुचि रखते थे। अग्रेजी

और फारसी का भी आपको यथेष्ट ज्ञान था। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'हिन्दी शब्दसागर' का निर्माण-कार्य आपके जिम्मे लगाया, तब से निरन्तर शुक्ल जी हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा करते रहे। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी मे हिन्दी-अध्यापक के रूप मे भी आपने कार्य किया।

शुक्ल जी ने सम्पादन के अतिरिक्त निबन्ध, आलोचना और काव्य-क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की। उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', जोकि 'हिन्दी-शब्दसागर' की भूमिका-स्वरूप प्रस्तुत किया गया था, आज भी प्रामाणिकता तथा मौलिक विवेचन की दृष्टि से अपने प्रकार का अद्वितीय ग्रन्थ है, यद्यपि इससे पूर्व हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध 'मिश्रबन्धुविनोद' प्रकाशित हो चुका था तथापि ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर रचनाओ तथा उनके रचयिताओ की व्याख्यात्मक आलोचना का आरम्भ शुक्ल जी ने ही सर्वप्रथम किया। केवल काव्यशास्त्रीय गुण-दोष-विवेचन को ही आलोचना का लक्ष्य न मानकर कवि की अन्तर्वृत्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण, तत्कालीन परिस्थितियो की पृष्ठभूमि मे शुक्ल जी द्वारा ही प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार हिन्दी आलोचना को ठोस और दृढ आधार प्रधान करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही दिया जाता है। उनके पास एक प्रतिभावान् विचारक का चिन्तनशील मस्तिष्क था। इसी आधार पर इन्होने अनेक हिन्दी-कवियो का नवीन मूल्याकन किया है।

हिन्दी-साहित्य के तीन सर्वश्रेष्ठ कलाकारो—तुलसी, सूर और केशव—का स्तवन तारतम्य के अनुसार इस प्रकार किया जाता है—

'सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।'

शुक्ल जी ने इस सुप्रसिद्ध वाक्य की पूर्णतया छानबीन की तथा सूरदास की अपेक्षा तुलसीदास को हिन्दी मे श्रेष्ठ स्थान दिलाया। यही नही, केशवदास के काव्य मे चमत्कारप्रियता तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन का आडम्बरपूर्ण चित्र दिखाकर उन्हे हिन्दी की 'बृहत्त्रयी' मे रखना अनुचित

समझा, तथा उनके पद पर मलिकमुहम्मद जायसी को आसीन किया। जायसी के प्रबन्धकाव्यत्व के विषय मे शुक्ल जी से पूर्व किसी ने विशेष ध्यान नही दिया था और उसके महत्त्व का इतना मूल्याकन तो किसी ने स्वप्न मे भी नही सोचा था। पर आचार्य शुक्ल की तीक्ष्ण, तलस्पर्शी तथा तटस्थ आलोचक दृष्टि ने इस अनमोल रत्न को खोजकर उसको समुचित मान प्रदान किया।

साहित्य मे शक्ति, शील और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा को वे अनिवार्य समझते थे। इसी नैतिकता के कारण ही शुक्ल जी ने सूरदास की अपेक्षा तुलसीदास को अधिक श्रेष्ठ बतलाया है और मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य का महत्त्व भी अधिक स्वीकार किया है, यद्यपि कुछेक आलोचक शुक्ल जी के इस दृष्टिकोण से पूर्णतया सहमत नही हैं। 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' का मूल्याकन शुक्ल जी ने लोक-मर्यादाओ को दृष्टि मे रखकर भी किया है।

शुक्ल जी ने भारतीय आचार्यो के रस-विवेचन को भी किञ्चित् नवीन रूप प्रदान किया है। 'साधारणीकरण' के विषय मे उन्होने अपना व्यक्तिगत मौलिक दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

शुक्ल जी का नीतिपरक दृष्टिकोण तथा लोकमर्यादावाद उन्हे आधुनिक नवीन काव्य—छायावादी काव्य—को प्रशसात्मक रूप से स्वीकार करने मे सदा बाधक बना रहा। यद्यपि उनके छायावाद-विषयक विरोध से अनेक विद्वानो का मतभेद रहा है, फिर भी इस सम्बन्ध मे उनकी धारणाओ की उपेक्षा नही की जा सकती। शुक्ल जी छायावाद को 'काव्यधारा' न मानकर पश्चिमी प्रभाव का परिणाम—एक 'शैली'-मात्र ही स्वीकार करते थे।

इस प्रकार शुक्ल जी के चाहे सभी सिद्धान्तो से कोई पूर्णतया सहमत भले ही न हो, किन्तु इतना तो निर्विवाद ही है कि हिन्दी-साहित्य मे सर्वप्रथम आलोचना को गौरवान्वित करने तथा उसे सुदृढ भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। पश्चिमी और भारतीय

दोनो आलोचना-पद्धतियो का समन्वय करके, उसे अपनी अनुभूति तथा मनन का विषय बनाकर और उन पर अपने मौलिक चिन्तन की अमर छाप छोडने वाला यह महान् व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य की ही नही, विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है ।

शुक्ल जी के निबन्ध-ग्रन्थ 'चिन्तामणि' (दो भाग) मे इनके मनोभाव-सम्बन्धी तथा सैद्धान्तिक आलोचना-सम्बन्धी निबन्धो को पढकर उनकी विद्वत्ता, अध्ययन, गवेषणा, स्वतन्त्र चिन्तन तथा मौलिक प्रतिभा का दर्शन तो होता ही है, साथ ही उनकी सुन्दर-सरस लेखन-शैली, परिष्कृत एव प्राजल भाषा, चुटीले तथा मधुर व्यग्य और विनोद की भी रमणीय झलकियाँ देखने को मिलती हैं । निस्सन्देह आचार्य शुक्ल निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र मे अद्वितीय रत्न थे, उनकी क्षति-पूर्त्ति अद्यावधि नही हो पाई ।

(२) श्यामसुन्दरदास

बाबू श्यामसुन्दरदास का जन्म सवत् १९३२ मे काशी मे हुआ । हिन्दी-साहित्य मे बाबू श्यामसुन्दरदास का आलोचक के रूप मे अपना विशिष्ट स्थान है । साहित्यालोचन आदि शास्त्रीय आलोचना तथा भाषा-विज्ञान एव साहित्य के इतिहास-सबधी ग्रथो के रचने का मूल उद्देश्य उच्च श्रेणी के विद्यार्थियो के सामने पाठ्य पुस्तको के अभाव की कठिन समस्या को दूर करना था और उनके इस सत्प्रयास से छात्र-जगत् का आज तक कल्याण हो रहा है । आलोचना सबधी सिद्धान्तो मे यद्यपि बाबूजी भारतीय भाषाओ का भी अध्ययन कर चुके थे और इसी के फल-स्वरूप उन्होने कही-कही उन सिद्धान्तो को मिश्रित रूप से प्रतिपादित भी किया है, तथापि पाश्चात्य सिद्धान्तो से वे अधिक प्रभावित रहे । कला, कविता, उपन्यास, कहानी, निबध आदि सभी के विषय मे उनके विचार निश्चय ही पश्चिमी आलोचना-पद्धति पर आधारित है । विशेष रूप से हडसन की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ लिट्रेचर' को उन्होने किन्ही स्थलो मे अधिकाशत ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर लिया है ।

उन्होने साहित्य (काव्य) को कला के अन्तर्गत माना है, पर उनकी यह धारणा भारतीय विचारधारा के विपरीत है। भारतीय विद्वानो ने कला का स्थान काव्य की अपेक्षा हीन माना है। उन्होने काव्य को 'विद्या' के अन्तर्गत स्वीकार किया है, कला के अन्तर्गत नही।

काव्य मे नैतिकता की अस्वीकृति बाबूजी को स्वीकार्य नही है, वे काव्य के लिए लोकहित को बेमूल भी मानते है, पर आचार्य शुक्ल जी की-सी कट्टरता उनमे इस विषय मे नही पाई जाती। इसी प्रकार शुक्ल जी के समान बाबू श्यामसुन्दरदास 'कला को कला के लिए' मानने वाले लोगो का भी घोर विरोध नही करते। परिष्कृत रूप मे इस सिद्धान्त को वे स्वीकार ही करते है।

आचार्य शुक्ल पर भी पश्चिमी आलोचना-पद्धति का प्रभाव पडा था किन्तु उनमे एक विशेषता थी जिसके कारण उन्होंने भारतीय और पश्चिमी दोनो प्रणालियो को हृदयगम करके, उन्हे पचाकर, उनको मौलिक रूप प्रदान कर दिया था। इस प्रकार का स्वतत्र चितन तथा मौलिक सिद्धात-निरूपण बाबू श्यामसुन्दरदास मे नही पाया जाता। 'साहित्यालोचन' मे प्रतिपादित सिद्धात, 'हिन्दी भाषा और साहित्य' मे निरूपित कवियो की विवेचना आदि मे उनकी मौलिकता के दर्शन कम होते हैं। हॉ, उनकी प्रतिपादन-शैली निस्सन्देह निजी है।

बाबूजी प्रधानतया शिक्षक रहे। उनके आलोचक ने शिक्षक का आश्रय लेकर ही कार्य किया। अपनी वर्णन-शैली से उन्होने साहित्य-शास्त्र के जटिल प्रश्नो को सुबोध बनाने का स्तुत्य यत्न किया है। उन के ग्रन्थो से उनका व्यापक अध्ययन स्पष्ट झलकता है। शैली की सरलता, स्पष्टता और वैज्ञानिकता के साथ-साथ भाषा की अनुकूलता उनके ग्रन्थो की उल्लेखनीय विशेषताए हैं।

(३) पद्मसिह शर्मा

पडित पद्मसिह शर्मा केवल सस्कृत, प्राकृत और ब्रजभाषा के ही

प्रकाण्ड पडित नही थे अपितु फारसी और उर्दू-साहित्य का भी उन्हे गभीर ज्ञान था।

इनकी आलोचना प्रभावात्मक ढग की मानी जाती है। उनकी शैली व्याख्यात्मक थी। 'बिहारी सतसई' पर लिखी गई उनकी आलोचना हिन्दी-साहित्य मे ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। मिश्रबन्धुओ के पश्चात् पडित जी ने ही बिहारी और देव का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। 'सतसई' का 'सजीवनभाष्य' भी लिखा जिसे वे पूरा किये बिना ही स्वर्ग सिधार गये। शर्माजी की 'बिहारी सतसई की भूमिका' पर मगलाप्रसाद पुरस्कार प्रदान किया गया।

पडितजी ने बिहारी को रीतिकाल का श्रेष्ठ कवि सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है, उस पर कुछ विद्वानो ने आपत्ति की है। उनकी 'महफिली ढग की भाषा-शैली' और 'उर्दू स्टाइल' को भी कुछ विद्वानो ने पसद नही किया।

फिर भी बिहारी के दोहो की जो अद्भुत व्याख्या शर्माजी ने प्रस्तुत की है तथा एक दोहे के अनेक सूक्ष्म अर्थो को प्रदर्शित करने की जो प्रतिभा दिखलाई है, उसे देखकर सचमुच चकित हो जाना पडता है। यह उनके गभीर अध्ययन और व्यापक पाडित्य का परिचायक है। तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात करने वालो मे भी शर्माजी का स्थान निस्सन्देह अत्यत महत्त्वपूर्ण एव समादरणीय है।

(४) गुलाबराय

इनका जन्म १९४४ स० मे इटावा (उत्तर प्रदेश) मे हुआ। आरम्भ मे बाबूजी ने कुछ ग्रन्थ दर्शनशास्त्र सम्बन्धी लिखे, किन्तु शीघ्र ही इन्होने साहित्यिक क्षेत्र को ही अपना प्रधान विषय बना लिया। आपकी प्रसिद्ध रचनाओ मे 'नवरस', 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'हिन्दी नाट्यविमर्श', 'हिन्दी काव्यविमर्श' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। सिद्धहस्त लेखक होने के कारण बाबूजी को आलोचना के साथ-साथ निबन्धकला मे भी पूर्ण सफलता मिली है। इनके विचारात्मक निबन्धो के अतिरिक्त

भावात्मक निबन्धो की छटा 'मेरी असफलताएँ' तथा 'फिर निराश क्यो' मे स्पष्टतया देखी जा सकती है। 'प्रबन्ध प्रभाकर' मे विचारात्मक साहित्यिक निबन्धो का सग्रह है। विद्यार्थियो को ध्यान मे रखते हुए बाबूजी ने 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' भी लिखा। आगरा से ही 'साहित्य सदेश' नामक हिन्दी के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र के यशस्वी सम्पादक-पद को भी आपने सुशोभित किया।

बाबूजी ने दोनो प्रकार की आलोचनाएँ—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—लिखी है। प्रधानतया इन्होने सैद्धान्तिक आलोचना को ही अपनाया है। 'रस मीमासा' इस विषय का इनका प्रथम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे इन्होने भारतीय 'रस-सिद्धान्त' की पाश्चात्य मनोविज्ञान से तुलना भी की है।

'सिद्धान्त और अध्ययन' मे बाबूजी ने श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' के समान पूर्व तथा पश्चिम के साहित्य-सम्बन्धी सिद्धातो का सुन्दर विवेचन किया है। समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण बाबूजी ने इस ग्रन्थ मे दोनो प्रकार के सिद्धान्तो का निरूपण न्यायोचित ढग से किया है। साधारणीकरण के सिद्धान्त के विषय मे बाबूजी ने श्यामसुन्दरदास की अपेक्षा आचार्य शुक्ल का ही अधिक समर्थन किया है, किन्तु शुक्ल का अन्धानुकरण भी कही नही किया। इन्होने अनेक स्थलो पर शुक्लजी के साथ अपना मतभेद भी प्रकट किया है। उदाहरणार्थ, शुक्लजी काव्य को कला नही कहते, किन्तु बाबूजी ने काव्य और कला के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार किया है। इसी प्रकार शुक्लजी के जो विचार छायावाद और रहस्यवाद के विषय मे थे, वे बाबूजी को पूर्णतया मान्य नही है।

'काव्य के रूप' बाबू गुलाबराय की एक और सुन्दर कृति है जिसमे सरल शैली से काव्य के अगो का निरूपण किया गया है। काव्य और नाटक सम्बन्धी विवेचन मे बाबूजी ने अधिकाशत भारतीय विद्वानो को ही मान्यता प्रदान की है, जब कि कहानी, उपन्यास सम्बन्धी विषयो मे

वे स्वभावत पश्चिमी विद्वानो से प्रभावित हुए हैं। 'हिन्दी नाट्य-विमर्श' मे बाबूजी ने नाटक की उत्पत्ति-विषयक मतो की समीक्षा प्रस्तुत की है तथा नाटक के मूलतत्त्वो का निरूपण किया है।

बाबूजी की शैली सरल तथा व्याख्यामयी है। इसमे भावुकता-पूर्ण हृदय की मधुरता तथा हास्य-विनोद की झलक भी अधिकाशत पाई जाती है। उनकी भाषा-शैली मे स्पष्टता का गुण सर्वत्र मिलता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे दूसरो के उद्धरण भी जड देते है। लोकोक्तियो और मुहावरो का भी प्रयोग करते है। एक स्थान पर तो उन्होने मार्मिक ढग से मुहावरे का प्रयोग किया है। 'कहानी अपने छोटे मुँह से बडी बात कहती है।'

सक्षेप मे, बाबू गुलाबराय जी हिन्दी के एक विशिष्ट निबन्धकार और आलोचक है। पश्चिमी और पूर्वी दोनो प्रकार के साहित्यिक सिद्धान्तो का उन्होने गहरा अध्ययन और मनन किया है तथा उनको समन्वयात्मक शैली मे व्याख्या-सहित बडी स्पष्टता और सरलता के साथ उपस्थित किया है। उनकी रचनाओ मे उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दिखलाई पडती है।

(५) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

श्री बख्शी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप मे विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इतिहास, दर्शन, आलोचना, कला, राजनीति आदि सभी विषयो पर आपने लिखा है। इनके 'विश्वसाहित्य' नामक ग्रन्थ मे देशी-विदेशी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—'प्रबन्ध-पारिजात', 'साहित्य-शिक्षा', 'हिन्दी कथा-साहित्य' आदि। ये सभी ग्रन्थ इनके विशाल अध्ययन, मनन तथा चिन्तन के परिचायक हैं। बख्शी जी की भाषा सरल और शैली व्यास-प्रधान है। द्विवेदी-युग के अन्तिम चरण से ही आप निबन्ध लिखने मे व्यस्त हैं। अभी तक आप निरन्तर साहित्य-सर्जन कर रहे है।

(६) शान्तिप्रिय द्विवेदी

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी हिन्दी के कुशल आलोचक और निबन्धकार

है। आधुनिक-साहित्य के प्रशसक होने के कारण इनकी दृष्टि केवल प्राचीनता के गौरवगान तक सीमित नही रही। 'हमारे साहित्यनिर्माता', 'साहित्यकी', 'सचारिणी', 'कवि और काव्य', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी' तथा 'ज्योतिविहग' इनकी प्रकाशित पुस्तके है। इनमे द्विवेदी जी के मौलिक निबन्धो का सग्रह है।

छायावाद के प्रति विशेष रुचि होने से जहाँ इन्होने यह स्वीकार किया कि 'छायावाद मे' मुझे अपने जीवन की समष्टि मिली, वहाँ पतजी के प्रति भी इनके हृदय मे एक विशेष स्थान बन गया और 'ज्योतिविहग' मे द्विवेदी जी ने उस भावना की मधुर अभिव्यक्ति भी कर दी। 'ज्योतिविहग' मे उन्होने आलोचक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"'ज्योनिविहग' मे मैंने व्यक्ति को नही, कवि को देखा है और उसे देखने के लिए दृष्ट के अनुरूप ही दृष्टिकोण दिया है।"

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने आलोचक और दार्शनिक के बौद्धिक दृष्टिकोण के साथ-साथ भावुक कवि का सवेदनशील हृदय भी पाया है और यही कारण है उनके निबन्धो मे विचारात्मकता भी सरस हो उठी हैं। उनकी गद्यशैली मे पद्य की-सी मधुरता भरी हुई मिलती है। 'साहित्यकी' के निबन्धो मे सचमुच 'रचनात्मक साहित्य' का-सा आनन्द आता है।

हिन्दी-साहित्य के इस भावुक आलोचक का अपना विशिष्ट स्थान है। काव्य की भावात्मक और कलात्मक व्याख्या करने की पकड इनकी अनूठी है तथा उसको काव्यात्मक गद्य-शैली मे हृदय की अनुभूति से भिगोकर अभिव्यक्त करने का ढग भी अद्भुत है, फिर भी, कही-कही उनकी आलोचनाओ से पूर्णतया अवगत होना कठिन हो जाता है।

(७) हजारी प्रसाद द्विवेदी

व्यक्तित्व—हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १९०१ मे ओझावालिया मे हुआ। इन्होने काशी मे शिक्षा प्राप्त की और सस्कृत का प्रचुर अध्ययन किया। शान्तिनिकेतन मे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट सम्पर्क मे रहने से तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रसिद्ध 'विश्वभारती'

के साथ सम्बन्धित होने से द्विवेदी जी ने विविध भापाग्रो के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन भी किया। भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाग्रो का भी इन्हे यथेष्ट ज्ञान है। आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। साहित्य, दर्शन, सस्कृति, पुरातत्त्व, इतिहास, ज्योतिष, धर्म आदि सभी अगो मे आपकी रुचि है।

रचनाएँ—आचार्य द्विवेदी सफल निबन्धकार और आलोचक है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर इन्होने उपन्यास-क्षेत्र मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। ऐतिहासिक वातावरण की सजीवता तथा शैली की मार्मिकता इस कृति के विशेष गुण हैं। 'अशोक के फूल' द्विवेदी जी का सुन्दर निबन्ध-सग्रह है। इसी मे अशोक के फूल को केन्द्र बनाकर लेखक ने भारतीय जीवन नामक एक लेख मे साहित्य और सस्कृति की विविध झाँकियाँ दिखाने का गम्भीर प्रयत्न किया है। इनके आलोचनात्मक ग्रन्थो मे 'सूर-साहित्य', 'नाथ-सम्प्रदाय', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' विशेष उल्लेखनीय है। इधर इन्होने 'हिन्दी साहित्य' नाम से हिन्दी साहित्य का एक इतिहास भी प्रस्तुत किया है।

आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी मे जिन विशिष्ट महान् आलोचको का प्रादुर्भाव हुआ है, उनमे हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कलाकार का हृदय और आलोचक की दृष्टि दोनो के मेल से इनकी रचनाएँ एक साथ कमनीय और गम्भीर बन गई है। गम्भीर विषयो मे जहाँ द्विवेदी जी की शैली भारतीय और वैज्ञानिक हो जाती है, वहाँ अनेक स्थानो पर इनकी भावुकतामयी सरसता के भी दर्शन प्राय होते है। 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' नामक लेख इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है। इसमे भाषा की सरलता और सरसता द्रष्टव्य है।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व निष्कपट भाव से निर्मल और स्वच्छ है। आपकी आलोचना के प्रधान विषय नाथ-सम्प्रदाय, सिद्ध-साहित्य, हिन्दी-साहित्य का आदिकाल तथा कबीर-मत रहे है। इन विषयो पर इन्होने पूर्ण

अधिकार के साथ लिखा है। गवेषणा और शास्त्रीय प्रौढता के आधार पर उनके ये विषय आज हिन्दी-जगत् के सम्मुख नूतन एव अनुसन्धानपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते है।

इसके अतिरिक्त इनकी आलोचन-प्रतिभा की एक अन्य देन है—हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध मे प्राचीन धारणाओ का निराकरण। वे इस धारणा को स्वीकृत नही करते कि भक्तिकालीन भक्ति-साहित्य यवनो के अत्याचार से भयभीत हिन्दू-जनता को सन्तोष प्रदान करने के निमित्त निर्मित हुआ था। वे इसे भारतीय दर्शनशास्त्र की ही एक परम्परा स्वीकृत करते है। आधुनिक काल मे आचार्य शुक्ल का स्थान हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र मे प्रधान रहा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस कार्य को निस्सन्देह आगे बढाने तथा उसे परिष्कृत करने मे प्रशसनीय योग दिया है। साहित्य का कलात्मक रूप स्पष्ट करके, उसे वैज्ञानिक तथा बौद्धिक दृष्टि प्रदान कर निष्पक्ष रूप से उसकी विवेचना द्विवेदी जी ने की।

(८) धीरेन्द्र वर्मा

प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्र वर्मा प्रधान रूप से भाषाविज्ञानी है। 'हिन्दी भाषा का इतिहास' उनका इस विषय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे उन्होने आधुनिक आर्य भाषाओ और हिन्दी के सम्बन्ध मे भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डालकर प्रशसनीय कार्य किया है। यद्यपि ग्रियर्सन का 'लिग्विस्टिक सर्वे आफ इडिया' आदि ग्रन्थ पाश्चात्य विद्वानो द्वारा पहले रचे हुए मिलते हैं, तथा सुनीतिकुमार चटर्जी, बाबूराम सक्सेना तथा स्वय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के कुछ ग्रन्थ बगला, अवधी और ब्रजभाषा सम्बन्धी खोज पर लिखे गए, तथापि इन समस्त ग्रन्थो की भाषा या तो अग्रेजी थी या फ्रेंच। हिन्दी भाषा मे इस प्रकार का सर्वाङ्गसुन्दर भाषा-वैज्ञानिक ग्रन्थ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का ही था। डॉ० गौरीशकर हीराचन्द्र ओझा जी ने भी केवल लिपि और हिन्दी अको को ही प्रधान रूप से अपनी खोज का विषय बनाया था, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध मे

उन्होने कुछ नही लिखा था ।

इस ग्रन्थ मे कुल १० अध्याय है । आरम्भ मे एक विस्तृत भूमिका दी गई है, जिस मे हिन्दी भाषा और उसकी उपभाषाओ का सक्षिप्त परिचय कराया गया है । इसकी अधिकाश सामग्री ग्रियर्सन की पुस्तक पर ही आधारित है । उक्त ग्रन्थ मे हिन्दी भाषा तथा जनपदीय भाषाओ पर नवीन वैज्ञानिक खोजपूर्ण कार्य भी किया गया है । शैली सरल है, उदाहरण के लिए दिये हुए शब्दो का चुनाव बडी ही सावधानी से किया गया है । ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टियो से हिन्दी भाषा का गम्भीर और वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित करने वाली यह प्रथम पुस्तक है ।

इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ है—'ग्रामीण हिन्दी', 'ब्रजभाषा', 'मध्यदेश' । इन ग्रन्थो का विषय भी प्रायः भाषाविज्ञान से सम्बद्ध है ।

(९) नन्ददुलारे वाजपेयी

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की गणना हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समीक्षाकारो मे की जाती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य और उनकी परम्परा को आगे बढाने वाले समीक्षको मे प्रमुख होते हुए भी वाजपेयी जी का अनेक बातो मे शुक्ल जी से मतभेद ही नही, विरोध भी चलता है । सत्य तो यह है कि शुक्लजी की बहुत-सी मान्यताओ का साधार और सक्षम युक्तियुक्त खण्डन करने की योग्यता वाजपेयी जी के सिवा अन्य किसी मे दिखाई नही देती । शुक्ल जी जो कुछ कहते है, वे इतने प्रभावशाली ढग से कहते है कि अत्यन्त सजग पाठक के सिवा शेष सब अनायास उनसे सहमत होते रहे हैं । नन्ददुलारे वाजपेयी उन्ही सजग समीक्षको व पाठको मे से है, जो आचार्य शुक्ल जी की अनेक मान्यताओ को चुनौती देने का सामर्थ्य रखते हैं । जिस युग मे सब लोग छायावाद-सम्बन्धी रचनाओ के विरोध करने मे आचार्य शुक्ल की हॉ-मे-हॉ मिला रहे थे । उस युग मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे समर्थ समालोचक को अपने समर्थन मे खडे देख छायावादी साहित्य को पर्याप्त बल मिला था । फिर भी कही-कही शुक्ल जी का विरोध करते हुए भी वे हैं सर्वात्मना शुक्ल-

स्कूल के समीक्षक ही। इसीलिए शुक्लजी के ही अनुसार कम्यूनिज्म से प्रभावित प्रगतिवादी साहित्य का और आगे चलकर प्रयोगवाद का उन्होने डटकर विरोध किया।

'हिन्दी साहित्य बीसवी सदी', 'नया साहित्य', 'नये प्रश्न' 'जयशकर प्रसाद', 'सूरदास' आदि आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इनके वर्ण्य-विषय इनके नामो से ही स्पष्ट हैं।

अपने आलोचक रूप के बारे मे वे स्वय लिखते है कि—**"मैं तो रचनाकार की अन्त प्रेरणा का अनुसन्धान करने में ही व्यस्त हूँ। इसी के साथ-साथ बाह्य स्थितियो का दिग्दर्शन करा देना और उसके ऊपर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अन्त में उनकी कलात्मक चेष्टाओ का परिचय दे देना आवश्यक समझता हूँ।"**

इस प्रकार वाजपेयी जी का समीक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्वत व्यक्त ही है।

(१०) विश्वनाथप्रसाद मिश्र

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-परम्परा का पूर्ण रूप से पालन करने वालो मे आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नाम अपना विशेष महत्त्व रखता है। आरम्भ मे इनकी आलोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन ग्रन्थो की भूमिका अथवा टीका-टिप्पणी के रूप मे ही होते हैं। 'हिन्दी मे नाट्य-साहित्य का विकास' अथवा 'अजातशत्रु-दीपिका' आदि कुछ पुस्तके इन्होने विद्यार्थियो को दृष्टि मे रखकर भी लिखी, और इसमे तनिक भी सन्देह नही कि आलोचक मिश्र इसी नाते एक सफल अध्यापक भी हैं। वस्तुत उनके प्राय सभी प्रयासो मे छात्रजन के प्रति निर्देशन-पूर्ण उपकार की भावना निहित है। इस प्रयास मे इनके ग्रन्थो— 'बिहारी की वाग्विभूति' और 'बिहारी' का विशेष रूप से आदर हुआ है।

प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र परम्परा के पालनकर्ता के साथ-साथ एक स्वतन्त्र विचारक और मननशील चिन्तक के रूप मे भी हमारे सामने

आते है। शुक्ल जी के अनुयायी होते हुए जहाँ इन्होने शुक्ल जी के सिद्धान्तो का पूर्ण समर्थन किया है, वहाँ कही-कही अपने स्वतन्त्र विचारो को प्रकट करने मे भी ये नही चूके। उदाहरणार्थ, इन्होने रीतिकाल को इस नाम से अभिहित न करके शृगारकाल नाम दिया है और इसके लिए इन्होने पुष्ट तर्क उपस्थित किये है।

आधुनिक युग मे हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थो को पढने, समझने तथा उन पर आलोचनात्मक कार्य करने के लिए सबसे प्रबल बाधा है—उन ग्रन्थो की प्रकाशित रूप मे अनुपलब्धि। आचार्य मिश्र इस आवश्यक और मूलभूत कार्य को बडे सुचारु, व्यवस्थित और विशुद्ध रूप मे निभा रहे है। पद्माकर, भिखारीदास, घनानन्द, भूषण, आनन्दघन आदि प्राचीन कवियो की ग्रन्थावलियाँ इनके सम्पादकत्व मे प्रकाशित हुई है। देश-भर मे उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर 'रामचरितमानस' जैसे विशालकाय ग्रन्थ का आधुनिक ढग मे सम्पादन भी इन्ही के सुप्रयास-स्वरूप सफलतापूर्वक हो रहा है। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी-जैसी बृहद् हिन्दी-सेवी सस्था के अन्तर्गत आकर 'ग्रन्थमाला' के इन दिनो आप सम्पादक है। इस पद से वे सम्पादन-कार्य को और भी अधिक गति एव व्यवस्था से सम्पन्न करते चले जाएगे, यही इनके निष्ठापूर्ण प्रयत्नो से प्रत्यक्ष दीख रहा है।

(११) डा० नगेन्द्र

शुक्ल जी के द्वारा प्रतिष्ठापित हिन्दी की गम्भीर समीक्षा-पद्धति की परम्परा को आगे बढाने वाले विद्वान् समालोचको मे डॉ० नगेन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। शुक्ल जी की भाँति डॉ० नगेन्द्र के अन्तर्मन मे भी भारत की अपनी पुरानी रसवादी समीक्षा-दृष्टि के प्रति पूरी आस्था है, यद्यपि पश्चिमी समीक्षा-तत्त्वो को भी उन्होने खुले दिल से यथास्थान और यथोचित रूप मे स्वीकार किया है।

डॉ० नगेन्द्र ने 'सुमित्रानन्दन पत', 'साकेत एक अध्ययन', 'देव और उनकी कविता', 'आधुनिक हिन्दी-नाटक', 'विचार और अनुभूति',

'विचार और विवेचन' व 'विचार और विश्लेषण' नामक कई सुन्दर समीक्षात्मक कृतियाँ हिन्दी-साहित्य को भेंट की है। आचार्य देव पर इन्होने एक प्रौढ थीसिस प्रस्तुत किया है, जो दो भागो मे प्रकाशित हुआ है। इसका पूर्वार्द्ध—'रीति-काव्य की भूमिका' लेखक के अगाध मनन, चिंतन और व्यापक पाण्डित्य का परिचायक है। उत्तरार्द्ध मे महाकवि देव के जीवन-वृत्त व काव्य के सम्बन्ध मे बडी खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है। 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'साकेत एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी-नाटक' आदि के विषय नामो से ही स्पष्ट है। इन चारो पुस्तको मे विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'विचार और अनुभूति', 'विचार और विश्लेषण' तथा 'विचार और विवेचन' मे विवेचनात्मक तथा सिद्धान्त-समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध दिये गये है। इन निबन्धो मे लेखक की विचारधारा को उत्तरोत्तर प्रौढि एव सफलता मिलती गई है। इन निबन्धो मे से कुछेक के नाम ये है—'साहित्य की प्रेरणा', 'हिन्दी उपन्यास', 'हिन्दी मे हास्य की कमी', 'केशवदास का आचार्यत्व', 'कवीन्द्र के प्रति', 'साहित्य और समीक्षा', 'साहित्य मे कल्पना का उपयोग', 'रस का स्वरूप', 'साहित्य मे आत्माभिव्यक्ति' आदि—ये सभी निबन्ध प्रौढ समीक्षात्मक शैली मे निर्मित है।

इधर पिछले कुछ वर्षो से ये प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा की ओर आकृष्ट हुए है। 'ध्वन्यालोक', 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति' और वक्रोक्ति-जीवित' ग्रन्थों पर इनकी गम्भीर चिन्तनपूर्ण भूमिकाएँ इसी आकर्षण का परिणाम है। इनसे हिन्दी के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो को यथार्थ दिशा मे पनपने का मार्ग मिल गया है। इनके द्वारा सम्पादित 'भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा' भी हिन्दी मे अपने प्रकार का प्रथम एव अत्यन्त उपयोगी प्रयास है। इसके अतिरिक्त 'रस-सिद्धान्त' पर भी एक प्रौढ एव विशाल ग्रन्थ के निर्माण की योजना इनके सम्मुख है।

डॉ० नगेन्द्र की शैली अत्यन्त गम्भीर, स्वस्थ और तथ्य-प्रधान है। आप विषय के अनुरूप ही भावाभिव्यक्ति करने मे सिद्धहस्त हैं। गम्भीरता

के साथ-साथ हास्य, व्यग्य, चुहुल की मीठी चुटकियाँ लेकर कही कही आपने शास्त्रीय रूक्ष विषयो को भी कथा-कहानी-जैसा सरस बना दिया है। इस प्रसग मे उनका 'केशवदास का आचार्यत्व' नामक लेख उल्लेख्य है। निस्सन्देह इस शैली के लेखक विरले ही है। तत्सम शब्दो का बाहुल्य होने पर भी इनके भाषा-प्रवाह मे कही भी शिथिलता अथवा अस्वाभाविकता नही आने पाई।

(१२) रामविलास शर्मा

हिन्दी के आधुनिक प्रगतिशील आलोचको मे डॉ० रामविलास शर्मा का नाम मूर्धन्य कहा जाता है। पत्रकारिता, कविता, आलोचना के अतिरिक्त अध्यापन-क्षेत्र मे भी आपने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। कम्युनिस्ट होने के कारण आपके जीवन और साहित्य दोनो पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पडा है। यद्यपि इनकी कविताओ मे भी जनवादी स्वर की गूँज स्पष्ट सुनाई देती है, तथा मुख्यरूप से डॉ० शर्मा एक प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक के रूप मे ही अधिक प्रसिद्ध है, फिर भी, अन्य प्रगतिवादियो की तरह इनमे दुराग्रह की भावना कम पाई जाती है। यही कारण है कि साहित्य की प्राचीन परम्पराओ के प्रति एकदम घृणा का दृष्टिकोण इन्होने नही अपनाया। इस विषय मे उनकी ये पक्तियाँ दर्शनीय है—'**यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओ से परिचित हो। परिचित होने के साथ-साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्त्वो को ग्रहण भी करना चाहिए।**'

प्रगतिशील होने के कारण इन्होने सदा यथार्थवादी और समाजवादी दृष्टि से ही हिन्दी-कवियो का मूल्याकन किया है। प्रेमचन्द और निराला सम्बन्धी इनकी आलोचनाओ मे यही दृष्टिकोण मुख्य रहा है।

डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचनाओ मे उनका गम्भीर अध्ययन और अगाध पाण्डित्य तो दिखाई देता ही है, साथ ही भाषा पर पूर्ण अधिकार और शैली का चमत्कार भी पाठक को बरबस आकर्षित कर लेता है। कही-कही तो इनकी गद्य-शैली पण्डित पद्मसिह शर्मा जैसी सरस

और चुटीली बन पडी है ।

(१३) प्रकाशचन्द्र गुप्त

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रगतिशील आलोचना-साहित्य के प्रतिनिधि लेखक माने जाते है। इन्होने आधुनिक हिन्दी-साहित्य को ही अपनी विवेचना का मुख्य विषय बनाया है। इनकी आलोचना-पद्धति अत्यन्त सरल और अकृत्रिम है। पण्डिताऊपन की झलक उसमे नाममात्र को भी नही है। गुप्तजी की शैली व्याख्यात्मक न होकर विवरणात्मक है और इसीलिए सुबोध भी। साहित्य के समान गुप्तजी आलोचना को भी सामान्य जन के लिए बोधगम्य बनाने के पक्षपाती हैं। उनके मतानुसार साहित्य की सत्यता की कसौटी सामान्य जनो का भावनालोक ही है।

इन पर मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव बहुत है। यही कारण है कि वे साहित्य की आलोचना को केवल कृति के गुण-दोष-विवेचन तक ही सीमित रखना पसन्द नही करते अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से 'बाह्यपरक' आलोचना का वे समर्थन करते है। उनका विश्वास है कि आलोचना के सिद्धान्तो की कसौटी स्वय सामाजिक प्रवृत्तियाँ है जो कला के माध्यम से साहित्य मे व्यक्त होती हैं। इसलिए उनकी बाह्य और वैज्ञानिक समीक्षा सम्भव है।

विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण के होने से गुप्तजी अध्यात्मवादी प्रवृत्ति के विरोधी है। उन्होने मार्क्सवाद को अपने जीवन-दर्शन के रूप मे अपनाया है। इसीलिए उनकी आलोचना कही-कही एकागी-सी लगती है, विशेष रूप से तुलसीदास-सम्बन्धी आलोचना मे जब वे यह कहते हैं— **"तुलसी के विचार-दर्शन में अनेक 'अन्तर्विरोध' है। ......'तुलसी का जनवादी रूप ही इनके साहित्य का प्रधान रूप है।"** तो तुलसी की राम-विषयक भक्तिभावना की वे सर्वथा उपेक्षा ही कर देते है।

गुप्तजी की आलोचनाओ को तीन रूपो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) सिद्धान्तमूलक (२) प्रवृत्तिमूलक (३) व्यक्तिमूलक। उनके अनेक आलोचनात्मक निबन्ध 'आलोचना' नामक पत्रिका के अनेक अको

मे भी प्रकाशित हुए है तथा स्वतन्त्र पुस्तक-कार मे भी। उनकी रचनाओ मे अध्ययन तथा मनन की छाप सर्वत्र उपलब्ध होती है, परन्तु पूर्वाग्रह के दोष से कही-कही एकागीपन अवश्य खटकता है। 'नया साहित्य', 'आधुनिक साहित्य—एक दृष्टि', 'नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि' मे उनके आलोचनात्मक निबन्ध द्रष्टव्य है।

(१४) शिवदानसिह चौहान

शिवदानसिंह चौहान की गणना आधुनिक प्रगतिवादी आलोचको मे की जाती है। उनके प्रगतिबादी आलोचना-सम्बन्धी विचारो को सूचित करने वाली दो पुस्तके विशेष उल्लेखनीय हैं—'हिन्दी साहित्य की परख' और 'प्रगतिवाद'। उनके अनेक लेख 'हस', 'साहित्य सन्देश', 'नया साहित्य', 'साधना' आदि पत्रिकाओ मे समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। त्रैमासिक पत्र 'आलोचना' का सम्पादन भी आपने किया तथा उसमे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया।

अनेक अन्य प्रगतिवादी आलोचको के समान चौहान पर भी मार्क्स-वादी सिद्धान्तो की गहरी छाप पडी हुई है। उनका विश्वास है कि कवि या कलाकार अपने समाज से अविच्छेद रूप से सम्बद्ध है। उनका मत है कि प्रगतिवाद साहित्य का आधार आदर्शवाद को न मानकर 'सामाजिक यथार्थवाद' को ही मानता है। यही कारण है कि चौहान जी को आचार्य शुक्ल की तुलसी सम्बन्धी आलोचनाओ मे 'अवैज्ञानिक आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम-धर्म की आदर्शवादिता' की झलक मिलती है। 'आदर्शवाद' उनके विचार मे प्रतिगामी है, प्रगतिशील नही। कला मे सौन्दर्य का गुण आदर्श से नही, अपितु सामाजिक सम्बन्धो से ही लाया जा सकता है।

गद्य-गीत

आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे गद्य-गीतो का भी अपना विशेष स्थान है। गत तीन-चार दशको से हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाओ के समान

गद्य-गीत भी उत्तरोत्तर विकसित और उन्नत होता जा रहा है। गद्य-गीत के इस विकास ने ही उसे हिन्दी-साहित्य मे स्वतन्त्र स्थान दे दिया है। कुछ समीक्षक भले ही यह मानते रहे कि गद्य-गीत भावात्मक निबन्ध ही का दूसरा नाम है, पर गद्य-गीतो मे जो अनुभूति और भावनाओ का प्राचुर्य रहता है, उसी के कारण गद्य-गीत अनायास निबन्ध से विशिष्ट एव अपना एक पृथक् स्थान बना लेता है।

रवि बाबू की 'गीताञ्जलि' पर नोबेल पुरस्कार के प्राप्त होते ही भारतीय साहित्य पर उसके अनेक प्रभाव लक्षित होने लगे। एक ओर कविता मे छायावादात्मक शैली का प्रचार हुआ तो दूसरी ओर गद्य में गद्य-गीत चल निकले।

गद्य-गीत गद्यबद्ध ही होते हैं अत इन मे गद्य की विशिष्टताएँ तो स्पष्ट है ही, इनमे गीत की मूल विशिष्टता का भी समावेश होता है। गीत के समान इसकी उत्पत्ति भावावेश-जन्य है, या उसी के समान यह आकार मे लघु होता है, तथा एक भाव और एक ही वातावरण का निर्वाह इसमे किया जाता है। फिर भी इसमे कवि-हृदयानुभूति की तीव्रता गीत की अपेक्षा सम्भवत अधिक रहती है, जिसके वशीभूत होकर कवि इसे वर्ण और मात्राओ के, गति और यति के बन्धन मे बॉध सकने मे असमर्थ हो जाता है। उसे आन्तरिक भय रहता है कि इन परिधियो मे बॉधते-बॉधते उसकी अनुभूति मन्द पड जाएगी अथवा लुप्त हो जाएगी—तभी वह इसे गद्य का रूप देता चला जाता है।

हिन्दी में गद्य-गीतो का प्रचलन कुछ प्रमुख कलाकारो के द्वारा हुआ जिनमे रायकृष्णदास, वियोगी हरि, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, 'अज्ञेय', सियाराम शरण गुप्त, महाराजकुमार डॉ० रघुवीर सिह आदि के नाम उल्लेखनीय है। रायकृष्णदास के 'साधना' और 'प्रवाल' नामक दो गद्य-गीत-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'साधना' मे प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण है और 'प्रवाल' मे वात्सल्य की प्रधानता है। वियोगी हरि के 'साहित्य विहार' और 'भावना' नामक दो गद्य-गीत-सग्रह बहुत प्रसिद्ध

हैं। प्रथम सग्रह भाव तथा भाषा दोनो दृष्टियो से सरल है और द्वितीय सग्रह मे पाण्डित्यपूर्ण शैली का प्रयोग है। 'अज्ञेय' जी के गद्य-गीतो के दो सग्रह 'भग्नदूत' और 'चिन्ता' के नाम से प्रकाशित हुए है। 'भग्नदूत' के गीतो मे कही प्रेम-भाव की तो कही चिन्तन की प्रमुखता है। महाराज-कुमार डॉ० रघुवीर सिह के गीतो मे भावुकता और सहृदयता दर्शनीय है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रसिद्ध कलाकार सुन्दर गद्य-गीत लिख रहे है। एक गद्य-गीत का नमूना लीजिए—

"सन्ध्या को जब दिन-भर की थकी-माँदी छाया वृक्षो के नीचे विश्राम लेती है और पक्षिगण अपने चहचहे से उसकी थकावट दूर करते है तथा मै भी शान्त होकर अपना शरीर-भार पटक देता हूँ, तब तुम ने मधुर गान गुनगुनाकर मेरा श्रम दूर करके और तुम मेरे बुझे हृदय को प्रफुल्लित करके मुझे मोह लिया।"

—'मोहन' (साधना—रायकृष्ण दास)

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज हिन्दी-साहित्य की एक नवीनतम विधा है जिसे अँग्रेजी मे रिपोर्ट कहते है, उसे ही फ्रासीसी भाषा मे 'रिपोर्ताज'। इन दोनो शब्दो का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थो मे होता है। अँग्रेजी का रिपोर्ट शब्द प्राय विवरण या वृत्तान्त के अर्थ मे चलता है। पत्रो के सवाद-दाता भी अपने पत्रो को विविध घटनाओ की रिपोर्ट भेजते हैं। विविध सभा-सस्थाओ, सम्मेलनो आदि के वार्षिक विवरणो को भी रिपोर्ट कहते हैं। 'रिपोर्ट' और 'रिपोर्ताज' मे थोडा अन्तर है। 'रिपोर्ट' किसी घटना का सर्वथा सत्य और सीधा-साधा वर्णन मात्र है तो 'रिपोर्ताज' मे घटना के वर्णन के साथ उसमे कल्पना के बल पर कुछ रोचकता उत्पन्न कर दी जाती है। बस, इस कल्पना के समन्वय के कारण ही रिपोर्ताज को साहित्य की विधाओ के अन्तर्गत माना गया है। यूँ रिपोर्ट मे भी थोडी-बहुत अत्युक्ति या असत्य की अन्विति रहती है पर उसमे साहित्य के अन्य तत्त्व

नही रहते। 'रिपोर्ताज' घटना का केवल अतिरञ्जित वर्णन-मात्र नही है, प्रत्युत उसमे सत्य के साथ-साथ सुन्दर भी सम्पृक्त रहता है। इसीलिए रिपोर्ताज-लेखन को एक कला माना गया है। रिपोर्ताज लेखन मे सफलता प्राप्त करने के लिए कल्पना-शक्ति के साथ-ही-साथ सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, सवेदनशीलता और तटस्थता या निष्पक्षता अपेक्षित है। किसी 'रिपोर्ट' को ऐसे प्रभावशाली ढग और ऐसे सक्षिप्त रूप मे उपस्थित करना कि पाठक पढते-पढते फडक उठे, 'रिपोर्ताज' कहलाता है। इस प्रकार रिपोर्ताज मे कहानी और निबन्ध दोनो की विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं, रिपोर्ताज एक ओर निबन्ध के समान तथ्य-निरूपक होता है तो दूसरी ओर कहानी के समान रोचक। इधर तीसरी ओर रिपोर्ताज में रेखा-चित्र के समान परिमित शब्दो का प्रयोग करके भी पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता रहती है।

रिपोर्ताज-लेखन की परम्परा का श्रीगणेश द्वितीय महायुद्ध के समय हुआ। युद्ध के रोमाचक एव लोमहर्षक दृश्यो और घटनाओ को लेकर सजीव रूप मे रिपोर्ताज लिखे जाने लगे। इन्ही दिनो मे रिपोर्ताज-लेखन की प्रथा यूरोप से होती हुई विविध भारतीय भाषाओ के साहित्य मे भी आई। हिन्दी मे 'भारत छोडो आन्दोलन', 'आजाद हिन्द फौज', 'बगाल का अकाल', 'भारत विभाजन' आदि अनेक सामयिक विषयो पर उत्कृष्ट रिपोर्ताज लिखे गये। रिपोर्ताज मे वर्णनीय घटना का वास्तविक इति-हास, उससे सबद्ध पात्रो के सजीव रेखाचित्र तथा उन घटनाओ व पात्रो के कार्यो का आन्तरिक और बाह्य सूक्ष्म निरूपण—इन तीनो प्रमुख तत्त्वो की ओर विशेष ध्यान रखना पडता है। प्रभाकर माचवे, रागेय राघव, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि हिन्दी के प्रमुख रिपोर्ताज-लेखक है।

रिपोर्ताज का एक उदाहरण लीजिए—

और सब से आश्चर्य की बात यह थी कि राहुल सांकृत्यायन सभा-पति थे। वे चुपचाप यह सब कुछ सुन रहे थे। प्रगतिवाद को गालियाँ

दी गई, 'रूस में रोटी सुरक्षित है परन्तु आत्मा अरक्षित है'—समाज-शास्त्र परिषद् में अध्यक्ष ने कहा; और भी क्या क्या नहीं कहा गया, परन्तु राहुल या तो सुनते रहते और मुस्कराते रहते; कभी ज्यादह ऊब जाते तो मच से बाहर चले जाते × × × ×

—प्रभाकर माचवे (हंस, फ़रवरी १९४८)

२. पद्य-साहित्य

प्रसाद-युगीन पद्य-साहित्य को भावधारा की दृष्टि से प्रमुख तीन भागो मे विभक्त कर सकते हैं—छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद। आधुनिकतम काव्य-प्रवृत्ति एक अन्य भी है—प्रयोगवाद, जो अभी अप्रौढ अवस्था मे है। सर्वप्रथम इन चारो वादो का सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त प्रतिनिधि कवियो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

छायावाद

द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया—

पीछे लिख आये हैं कि द्विवेदी-युगीन कविता मे कला की दृष्टि से गद्यात्मकता और भाव की दृष्टि से इतिवृत्तात्मकता आ गई थी, तथा शृंगार रस को अश्लील समझ कर त्याज्य समझा गया था। प्रकृति-चित्रण को स्थान तो मिला था, पर उसकी निरूपण-शैली स्थूल एवं बाह्य थी। ऐसी कविता के प्रति कल्पना के पखो पर उन्मुक्त विहार करने वाले कवियो के हृदय मे विद्रोह उठना स्वाभाविक था। यह विद्रोह उठा तो अवश्य किन्तु उसका स्वर धीमा पर मधुर था। जिस रीति एवं शैली से इस विद्रोह की अभिव्यक्ति हुई, उसमे कुछ धूमिलता एव अस्पष्टता के साथ कोमलता भी थी। पुरातनवादियो तथा रूढिवादियो ने इस धूमिलता एव अस्पष्टता पर व्यग्य कसते हुए इसे 'छायावाद' नाम देकर इस उदीयमान अभिव्यजन-शैली के प्रति अपनी तिरस्कार-भावना प्रकट की—

एकाकी सूनेपन में, जड़ मे चेतन का रूप देख ।
पुष्पो में प्रिय का मधुर हास आँसू ओस में विकल लेख ।
मै अटपटे स्वर में गाता, छायावादी कहलाता ।

विषय—छायावादी कवि ऐसी व्यग्योक्तियो की चिन्ता न कर अपनी धुन मे रमा रहा और उसने द्विवेदी-युगीन उपर्युक्त त्रुटियो की पूर्ति निम्न प्रकार से की । कविता मे गद्यमयता के स्थान पर सुकोमलता लाई गई । इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर कल्पना की ऊँची उडानो द्वारा नूतन भाव-सामग्री जुटाई गई । प्रकृति को सजीव मानकर उस पर मानवीय भावनाओ का आरोप किया गया । शृगार रस को अश्लील समझने के स्थान पर इसे प्रकृति के माध्यम से शिष्ट-रूप मे उपस्थित किया गया । निष्कर्ष यह कि प्रसाद-युगीन छायावादी कविता का जन्म मुख्यत द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक एव शुष्क कविता की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ ।

प्रकृति-चित्रण—छायावादी कविताओ का प्रधान विषय 'प्रकृति का चित्रण' है । इस चित्रण की तीन विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(क) प्रकृति के प्रति विस्मय एव कुतूहल-पूर्ण दृष्टिकोण ।

(ख) प्रकृति के स्रष्टा के प्रति अतुल शक्ति-सम्पन्नता का भाव ।

(ग) प्रकृति को सप्राण (चेतन सत्ता) समझ कर उसमे मानवता का आरोप ।

वस्तुत यही अन्तिम अवस्था छायावादी काव्य की कल्पना एव अनुभूति की चरम सीमा है । जब कवि पन्त छाया को सजीव मानकर उसे सम्बोधित करते हुए कहते है—

कहो कौन हो, दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई ।
हाय, तुम्हे भी त्याग गया क्या अलि! नल सा निष्ठुर कोई ।।

—तो पाठक भी कवि की इस नूतन अनुभूति से प्रभावित हो छाया को सजीव समझने लग जाता है ।

छायावादी कवियो ने प्रकृति का मानवीकरण विभिन्न रूपो मे

प्रस्तुत किया है। कभी उन्होने इसे प्रेयसी के रूप मे देखा कभी सहचरी के रूप मे और कभी गुरु के रूप मे। अन्तिम रूप का एक उदाहरण लीजिए—

सिखा दो न हे मधुपकुमारी ! मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरो से, करा दो ना कुछ कुछ मधुपान ॥

इसी प्रकार श्रीमती महादेवी वर्मा का निम्नोक्त पद्य 'वसन्तरजनी' को सुकोमल मानवी के रूप मे अभिव्यक्त कर रहा है—

तारकमय नववेणी बन्धन, शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मिवलय सितघन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे, चितवन से अपनी
पुलकती आ वसन्त-रजनी !

कभी इन कवियो को ऐसा आभास होता है कि प्रकृति भी इन्ही के समान वेदना और आकुलता अथवा हर्ष और उल्लास का अनुभव कर रही है। उदाहरणार्थ, निराला का यह पद्य देखिए जिसमे उन्हे यमुना की लहरे वेदनाकुल प्रतीत हो रही है—

यमुना तेरी इन लहरो में किन अधरो की आकुल तान।
पथिक प्रिया-सी जगा रही है किस अतीत के गौरव गान ॥

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति यह आकर्षणजन्य आह्लाद कवि के हृदय मे प्रेम-भाव को जागृत करता है। निर्झर का कलकल गान और विहग-वृन्द का कलरव उसकी हृत्तन्त्री को एक स्वर्गीय सगीत से प्लावित कर देते है जिसकी रसधारा मे वह स्नान करना चाहता है—

गाओ गाओ कुसुम बालिके
तरुवर से मृदु मगल गान
मै छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान।

निरूपण-शैली—छायावादी कवियो की निरूपण-शैली अत्यन्त सुकोमल और मधुर है। यह द्विवेदी-युग की गद्यमयता से नितान्त विमुक्त

है। कोमलकान्त-पदावली का प्रयोग इस शैली की प्रथम विशेषता है। कही-कही ये कवि प्रतीको का भी प्रयोग कर देते है। उदाहरणार्थ, सुख के लिए 'प्रात' अथवा 'चाँदनी' का, दु ख के लिए 'निशा' अथवा 'अन्धकार' का, हृदय के लिए 'आकाश' का, सघर्ष के लिए 'झझावात' शब्द का प्रयोग। पर इन प्रतीको से जहाँ कलात्मकता मे वृद्धि हुई है, वहाँ विषय कही-कही दुरूह, अस्पष्ट अथवा द्व्यर्थक भी बन गये है।

इनकी शैली की एक अन्य विशेषता है—'लाक्षणिकता' का प्रयोग। दूसरे शब्दो मे मूर्त्त का अमूर्त्त पर और चेतन का जड पर आरोप। उदाहरणार्थ, निराला ने 'विधवा' का वर्णन करते हुए कहा है —

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप-शिखा सी शान्त भाव में लीन।

× × ×

दलित भारत की विधवा है।

विधवा को 'पूजा' के समान कहना मूर्त्त का अमूर्त्त मे आरोप हैं और 'दीप-शिखा' के समान कहना चेतन का जड पर आरोप है।

यो तो छायावादी कवियो ने परम्परागत अलकारो से निरपेक्ष होकर रचनाएँ की हैं, फिर भी इनकी कविताओ मे कुछ पुरातन अलकारो के अतिरिक्त 'विशेषण-विपर्यय' आदि कतिपय नवीन अलकारो का भी समावेश हो गया है।

छन्द—द्विवेदी-युग मे परम्परागत मात्रिक तथा वर्णिक छन्दो मे कविता की गई थी, पर इस युग की कविता मे इन छन्दो की नितान्त अवहेलना की गई है। छायावादी कवियो को छन्दो का बन्धन रुचिकर प्रतीत नही हुआ। उन्होने इनसे विमुक्त होकर रचना की। यहाँ तक कि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने और उनके अनुकरण पर पन्त, महादेवी आदि ने 'मुक्तक' छन्द का प्रयोग किया। प्रारम्भ मे ऐसे छन्द का विरोध भी हुआ—तिरस्कारवश इसे 'रबर' छन्द, 'केचुआ' छन्द आदि नामो से पुकारा गया, पर धीरे-धीरे इसके प्रति यह अश्रद्धा कम होती

गई। इस छन्द के दो उदाहरण लीजिए—

(क) माँ, मुझे वहाँ तू ले चल
देखूँगा वह द्वार
दिवस का पार
मूर्च्छित हुआ पडा है जहाँ
वेदना का ससार।

(ख) कहाँ ?
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा—
रुकती है गति जहाँ।

सक्षेप मे छायावादी कविता की विशेषताएँ इस प्रकार है—

(१) इसका जन्म द्विवेदी-युगीन कविता की इतिवृत्तात्मकता और गद्यमयता के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ।

(२) इसका प्रधान विषय प्रकृति का मानवीकरण है।

(३) इसकी निरूपण-शैली ललित एव सर्वथा नवीन है तथा छन्दो-योजना प्राचीन बन्धनो से नितान्त मुक्त है।

रहस्यवाद

स्वरूप—आत्मा और परमात्मा के परस्पर प्रणय-सम्बन्ध को साहित्य मे रहस्यवाद का नाम दिया जाता है। शास्त्रीय परिभाषा मे जिसे अद्वैतवाद कहा जाता है साहित्यिक अभिव्यक्ति मे वह ही रहस्यवाद बन जाता है। छायावाद और रहस्यवाद मे प्रमुख अन्तर यह है कि छायावाद मे आत्मा और प्रकृति के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और रहस्यवाद मे आत्मा और परमात्मा के बीच प्रेममूलक होने के कारण रहस्यवाद मे लौकिक प्रेम मे होने वाली सभी सञ्चारी वृत्तियो—उत्कण्ठा, उल्लास, विरहवेदना और संयोग-सुख के दर्शन होते है। वस्तुत लौकिक प्रेम और रहस्यवादी प्रेम मे अन्तर केवल आलम्बन का है और थोड़े-से हेर-फेर से अथवा आलम्बन के परिवर्तन मात्र से ही लोक प्रणय से

सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रसङ्ग रहस्यवाद के आध्यात्मिक प्रेम के निदर्शन बन जाते है क्योकि प्रेमी, प्रेमिका, प्रियतम, प्रिया आदि पदो का व्यवहार लौकिक और अलौकिक प्रेम के क्षेत्र मे एक-सा ही है। श्री सुमन अपने रहस्यमय प्रियतम को इन्ही शब्दो मे पुकारते है—

चला जा रहा हूँ पर तेरा अन्त नही मिलता प्यारे।

और प्रसाद अपनी उत्फुल्लता मे यही कह उठने है—

मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।

आत्मा की परमात्मा के प्रति इस विकल भावना को रहस्यवादी परिभाषा मे 'माधुर्य भाव' कहा जाता है। इस भाव से प्रेरित आत्मा परमात्मा को अपना पति मान कर उसके मिलन की आकाक्षा मे व्याकुल रहती है। कबीर ने अपने को 'हरि की बहुरिया' कहा है।

विकास की तीन कोटियाँ—

रहस्यवादी भावना के विकास की तीन कोटिया मानी गई हैं–जिज्ञासा, विरहानुभूति और ऐक्य।

(१) **जिज्ञासा**–प्रथम स्थिति मे आत्मा विश्व के इस विराट् सौन्दर्य से अभिभूत अथवा विस्मित होकर इस जिज्ञासा से व्याकुल होती है कि इस दृश्य का आधार कौन है, और इस सौन्दर्य के पीछे किसकी सत्ता तिरोहित है। निराला की व्याकुल पुकार सुनिए—

कौन तम के पार रे कह

पन्त के हृदय का मुखर प्रश्न भी सुनिए—

विश्व के पलको पर सुकुमार, विचरते हैं जब स्वप्न अजान।
न जाने नक्षत्रो से कौन, सदेशा मुझे भेजता मौन॥

(२) **विरहानुभूति**—यह मौन जिज्ञासा क्रमश· अपनी निरन्तर उत्कण्ठा के परिणाम-स्वरूप किसी अनिर्वचनीय सत्ता मे विश्वास करने लगती है और हृदय कह उठता है—

हे विराट्! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान'।
मद गंभीर धीर स्वर सयुत, यही कर रहा सागर गान॥

यह विश्वास होने के बाद आत्मा सौन्दर्य और माधुर्य के उस महा-सागर की ओर दौडती है, तीव्र मिलन की आकाक्षा से। यह स्थिति आत्मा की विरहानुभूति की अवस्था है। आत्मा को ऐसा आभास होता है मानो वह जन्म-जन्मान्तर से एक विकल तृषा को सँजोये हुए इस सत्ता का अनुसन्धान कर रही है। न जाने कब से वह परमात्मा से बिछुडी है और अपनी अश्रु धारा से प्रियतम के पथ का अभिषिञ्चन कर रही है। महादेवी की विकलता कितनी करुण बन पडी है—

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते,
आंखो के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते,

इस स्थिति में कभी-कभी आत्मा झुझला उठती है और पश्चात्ताप के स्वर मे कहने लगती है—

किन बिगडी घड़ियो में झांका
तुझे झांकना पाप हुआ।
आग लगे वरदान निगोडा
मुझ पर आ अभिशाप हुआ।

(३) **ऐक्य**—तृतीय स्थिति मे साधक को सफलता मिलती है। विरह का विराट्-पथ पार करने के बाद प्रियतम से उसका ऐक्य होता है। परन्तु यह देख कर आत्मा को बडा विस्मय होता है कि वह जिसे अब तक इस अनन्त पथ पर ढूढ रही थी वह उसका प्रियतम तो उसके हृदय मे ही है।

जीवन का जीवन बन कर, वह सांस सांस की बनकर।
है पास पास ही रहता, चितवन की चितवन बन कर॥
अपना ही पथ तो मुझको बन गया अनन्त अगम था।
मै समझ नहीं पायी थी मुझ में मेरा प्रियतम था॥

इस प्रकार रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा की मूलगत अद्वैत

भावना की पृष्ठ-भूमि पर एक सरस काव्य का निर्माण करता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन से उत्पन्न आनन्द की व्याख्या करने के लिए लोक-भाषा पर्याप्त नही होती—

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ।
आज अनश्वर गीत ॥

अत उसी अतीन्द्रिय आह्लाद को प्रकट करने के लिए प्रतीको का आश्रय लेना पडता है। कबीर ने इस आनन्दानुभूति को गू गो का गुड कह कर इसकी अनिर्वचनीयता प्रकट की है—

आतम अनुभव ज्ञान की जो कोई पूछे बात
सो गू गा गुड़ खाय के, कहे कौन मुख स्वाद।

प्रकार—रहस्यवाद के प्रमुख दो प्रकार हैं—आध्यात्मिक और दार्शनिक।

१ आध्यात्मिक रहस्यवाद मे कवि प्रकृति के दर्शन करता है। माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा', सुमित्रानन्दन पन्त, वियोगी हरि, रायकृष्णदास इसी श्रेणी के रहस्यवादी कवि हैं।

२ दार्शनिक रहस्यवाद मे शास्त्रीय सिद्धान्तो के अनुसार ईश्वर का विवेचन किया जाता है। प्रसाद, गुप्त और निराला की अधिकाश रहस्यवादी कविताएँ इसी श्रेणी मे आती है। प्रसाद की कविताओ का आधार बौद्धशास्त्र है और मैथिलीशरण गुप्त तथा निराला की कविताओ का आधार उपनिषद् है। महादेवी वर्मा की कविताएँ आध्यात्मिक रहस्यवाद के अन्तर्गत भी आती हैं और दार्शनिक रहस्यवाद के अन्तर्गत भी।

परम्परा—उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त सम्भवत यह लिखने की आवश्यकता नही कि हिन्दी-साहित्य मे यह कोई नूतन विषय नही है। जैसा कि हम पीछे लिख आये है, कबीर और जायसी की कविताओ मे भी रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ कुछ सीमा तक उपलब्ध हो जाती है। उदाहरणार्थ, रहस्यवाद की वर्णनातीत अवस्था के सम्बन्ध मे कबीर का यह कथन देखिए—

अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाइ।
गूंगा केरा सरकरा, बैठा मुसकाइ।

यही असमर्थता सिद्ध-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य सरह पाद ने भी प्रकट की थी—

शिवं न जानामि कथं वदामि,
शिवं च जानामि कथ वदामि।

इसी प्रकार कबीर और जायसी के वे कथन, जिनमे इन्होने आत्मा और परमात्मा को क्रमश 'पत्नी और पति' रूप मे तथा 'पति और पत्नी' रूप मे वर्णित किया है, रहस्यवाद के अन्तर्गत आएँगे। उदाहरणार्थ, कबीर का निम्नोक्त कथन देखिए—

राम देव मोहि ब्याहन आये, मैं जोबन मदमाती।
× × × ×
कहै कबीर मोहि ब्याहि चले हैं पुरुष एक अबिनासी॥

पर इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि आधुनिक कवियो को कबीर, जायसी आदि से प्रेरणा मिली है। प्रसाद, पन्त, महादेवी, निराला आदि रहस्यवादी कवियो ने स्वतन्त्र रूप से इस विषय को अपनाया है।

अन्त मे रहस्यवाद के सम्बन्ध मे निष्कर्ष रूप से यह कह सकते है कि—

(१) रहस्यवादी कविता का प्रधान विषय 'आत्मा और परमात्मा' का सम्बन्ध-स्थापन है। छायावादी कविता से इसका अन्तर यह है कि इसमे 'आत्मा और प्रकृति' का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

(२) यद्यपि रहस्यवाद हिन्दी-कविता का नवीन विषय नही है, कबीर, जायसी आदि की रचना मे इसका स्वरूप उपलब्ध हो जाता है, तथापि आधुनिक रहस्यवादी कवियो पर पुरातन कवियो का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित नही होता।

(३) जितने रहस्यवादी कवि है, वे प्राय छायावादी भी है अत इन वादो की शैली एव छन्दोविधान मे कोई अन्तर नही है।

प्रगतिवाद

छायावाद की प्रतिक्रिया—प्रसाद-युग मे ही छायावाद और रहस्य-वाद की कविताओ के समाप्त होते-न-होते प्रगतिवादी कविताओ की सृष्टि प्रारम्भ हो गई। इसका कारण यह है कि छायावाद की अतिशय लोक-निरपेक्षता एव सूक्ष्म भावपरता और रहस्यवाद की अतिशय आत्म-परता मे जनसामान्य के मन को रमाने की सामग्री न थी—जीवन के सघर्ष से विमुख होकर एकान्त आत्मसाधना विरले ही कर सकते है। परिणामस्वरूप छायावाद की सूक्ष्म भावपरता के विरुद्ध भी साहित्य मे क्रान्ति का स्वर ऊँचा हुआ और 'प्रगतिवाद' नाम से एक नवीन काव्य-धारा का जन्म हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य था—सूक्ष्म के विरुद्ध स्थूल को उभारना अर्थात् मानसिक भावो के स्थान पर जीवन की भौतिक आव-श्यकताओ को मुखर करना।

स्रोत—प्रगतिवाद अपने मूल अर्थ मे उन्नति और विकास का द्योतक है, परन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ मे आज यह शब्द एक सकीर्ण विचार-धारा का समर्थक है। इसके अनुसार जीवन की प्रगति और उसके अनु-रूप साहित्य का विकास एक विशेष दिशा मे और एक विशेष पद्धति का अवलम्बन करने से हो सकता है। इस पद्धति का नाम है—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इसका ध्येय है मानवजीवन की एकमात्र भौतिक प्रगति। राजनीति के क्षेत्र मे यह विचारधारा 'साम्यवाद' नाम से प्रख्यात है।

वस्तुत प्रगतिवादी साहित्य का मूल सम्बन्ध रूस के मार्क्सवाद, रूस की राज्यक्रान्ति और लाल सेना के साथ है। रूस मे राज्यक्रान्ति के उपरान्त रूस की सरकार द्वारा कवियो को इस बात के लिए प्रेरित किया गया कि वे समाजवाद एव साम्यवाद को उन्नत बनाने, रूस की पञ्चवर्षीय योजना, सामूहिक कृषि-कार्य आदि योजनाओ को सफल बनाने के लिए कविताएँ लिखे, जिनके द्वारा जनता मे 'मार्क्सवाद' का प्रचार हो। परिणाम-स्वरूप वहाँ ऐसे साहित्य का निर्माण होने लगा और धीरे-धीरे साम्यवाद वहाँ की जनता के हृदय मे प्रवेश पा गया। साम्यवाद के

इसी प्रचारक साहित्य का नाम 'प्रगतिवाद' है। इधर राजनीतिक कारणो से भारत मे भी साम्यवाद का प्रचार होने लग गया और भारतीय भाषाओं मे प्रगतिवादी साहित्य की सृष्टि होने लगी। हिन्दी-कविता भी इस से अछूती न रही। सुमित्रानन्दन पन्त, नरेन्द्र शर्मा, शिवमगलसिंह 'सुमन', रामेश्वर शुक्ल 'अचल', रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि कवियो ने प्रगतिवादी कविताएँ लिखनी आरम्भ कर दी।

मूल विषय—साम्यवादी कहते हैं कि इस ससार के मूल मे दो विरोधी शक्तियो का सघर्ष चल रहा है—एक उन्नायक शक्ति है और दूसरी पतनोन्मुख। प्रगतिवादी को चाहिए कि वह इस द्वन्द्व मे विकासोन्मुख शक्ति को सहायता दे और ह्रासोन्मुख शक्ति का बलपूर्वक नाश करे। जो व्यक्ति इस धारणा मे विश्वास रखता है वह 'प्रगतिवादी' है। अन्य सब प्रतिक्रियावादी हैं। आज के भौतिक युग मे भी दो विरोधी शक्तियाँ कार्यरत हैं—पूँजीवाद और समाजवाद। पूँजीवाद जर्जर हो चुका है, समाजवाद उदीयमान शक्ति है। अत प्रगतिवादी वह है, जो इस उदयोन्मुख शक्ति का पृष्ठपोषक है। परिणामत प्रगतिवादी कवि साहित्य को एक सामाजिक विधान मानता है। वह उसके व्यक्तिगत तत्त्व का नितान्त प्रतिवाद करता है। इसलिए उसके अनुसार साहित्य का सर्जन सामाजिक हित को दृष्टि मे रखकर होना चाहिए। यही कारण है कि इनकी कविताओ मे व्यक्ति-कल्याण के स्थान पर समाज-कल्याण की भावना प्रधान है। इसी कारण प्राचीन इतिहास को ये अर्थलोलुपता और साम्राज्य-लिप्सा की कहानी मानते है। एक प्राचीन सम्राट् द्वारा अपने देश की सम्पूर्ण प्रजा पर निष्कटक शासन करना उसे बहुत अखरता है। आज के युग मे सहस्रो मजदूरो की पूजी को हड़प करने वाले पूँजीपति का भी वह प्रबल विरोधी है। इसी के फलस्वरूप प्रगतिवादी अधिकाश साहित्य मजदूरो और किसानो के पक्ष मे लिखा गया। भिक्षुको से भी इन्हे विशेष सहानुभूति है। एक भिखारी के सम्बन्ध मे ये दो चित्र देखिए—

(क) चिथडो में से दुर्गन्ध कढी,
रोगो से उसकी देह सडी।
उसके मुख से छूट रही,
कलुषित वचनो की एक लड़ी ॥

(ख) वह आता
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ मिल कर दोनो है एक,
चल रहा लकुटिया टेक ॥

प्राचीन रूढियो का विध्वंस—सामाजिक हित का सम्पादन करने के मार्ग मे अथवा समाज को प्रगति के पथ पर ले जाने मे जब भी जिस प्रकार की भी बाधा हो—चाहे वह धर्म की हो, भगवान् की हो, पुरातन साहित्य की हो अथवा परम्परागत सस्कृति की हो—उन सबका विध्वस प्रगतिवाद को अभीष्ट है। प्रगतिवादी कवि खुल्लमखुल्ला यह हुकार करता है। 'नवीन के शब्दो मे—

कवि कुछ ऐसो तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाए।
एक हिलोर उधर से आए, एक हिलोर इधर से आए।
प्राणो के लाले पड जाएँ, त्राहि त्राहि रव नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशो का धुँआँधार जग में छा जाए ॥

और पन्त के शब्दो मे—

गा कोकिल बरसा पावक-कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।
ध्वंस भ्रश जग के जड बन्धन
हो पल्लवित नवल मानव मन ॥

प्राचीन सास्कृतिक आदर्शो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना प्रगतिवाद का प्रधान स्वर है। पन्त की निश्चित धारणा है कि—

आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल
वर्गों में ही सीमित
अर्थमूल संस्कृति को होना,
अधोभूत है निश्चित।

जीवन के सभी क्षेत्रो मे नवीनता लाने के उद्देश्य से प्रगतिवाद सभी रूढि-रीतियो और वर्ग-विभाजनो का शत्रु है। वह ऐसे जग का निर्माण करना चाहता है—

रूढि-रीतियाँ जहाँ न हो आराधित।
श्रेणि-वर्ग में मानव नही विभाजित ।।

डॉ० नगेन्द्र के शब्दो मे—प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जिसके मूल तत्त्व ये है—

(१) **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**—केवल आर्थिक विधान की मान्यता, ईश्वर और आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति।

(२) **समाजवाद** (जिसके मूल मे मानववाद भी अन्तर्निहित है)—समाजवाद का समर्थन, पूँजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढियो के विरुद्ध क्रान्ति।

त्रुटियाँ—उपर्युक्त विशेषताओ से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य मे गुण भी है और दोष भी—

(क) निस्सन्देह इन कवियो की मज़दूरो-किसानो के प्रति सहानुभूति है, पर सारा मज़दूर-वर्ग सहानुभूति का पात्र हो और सारा पूँजीपति-वर्ग घृणा का पात्र—इस प्रकार की भावनाएँ व्यावहारिक रूप से ठीक नही उतरती।

(ख) यह ठीक है कि वे समाज की दुर्दशा का यथार्थ चित्र उतार कर सामने रख देते है, पर कभी-कभी उनके ये चित्र इतने अश्लील एव घृणास्पद बन जाते हैं कि इन्हे साहित्य मे स्थान देना 'साहित्य' शब्द को कलकित करना है। इधर ईश्वर, धर्म तथा प्राचीन सस्कृति के प्रति अनास्था और अविश्वास का प्रचार भी भारत-जैसे धर्म-प्रधान देश और

हिन्दू-जैसी धर्मप्रधान जाति के लिए कदापि उचित नही है।

(ग) कलात्मक दृष्टि से भी अभी यह साहित्य प्रौढ तथा परिपक्व नही बन पाया। छायावादी और रहस्यवादी कविताओ के समान इसकी भाषा मे वह लालित्य और माधुर्य नही है। इसका एक कारण तो यह है कि अभी यह साहित्य अपेक्षाकृत नया है, और दूसरा कारण यह कि प्रचार की दृष्टि से जो भी साहित्य लिखा जाएगा वह कलात्मक दृष्टि से निस्सन्देह हीन होगा। रूस मे ऐसे साहित्य का उद्देश्य साम्यवाद का प्रचार करना था, भारत मे भी मूलत इसका उद्देश्य यही है।

इतनी त्रुटियाँ होने पर भी यही कहना पडेगा कि यदि भारतीय समस्याओ को लेकर भारतीय वातावरण मे ही इस साहित्य का निर्माण किया जाए, तो निस्सन्देह यह हितकर प्रमाणित हो सकता है, पर वर्त्तमान स्थिति मे यह पूर्णत ग्राह्य नही है।

प्रयोगवाद

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में साम्य और वैषम्य—

प्रयोगवाद को प्रगतिवाद का अनुज कहे तो अत्युक्ति न होगी। आधारभूत सिद्धान्तो मे प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनो मेल रखते हैं या यो कहिये कि एक ही है। दोनो का जन्म छायावाद की अमूर्त अनुभूतियो के स्थान पर व्यावहारिक और सामाजिक जीवन की मूर्त्त अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। दोनो का दृष्टिकोण बौद्धिक और आलोचनात्मक है। साहित्य को दोनो सामाजिक चेतना मानते है। परन्तु जहाँ तक साहित्य की प्रगति का सम्बन्ध है, प्रयोगवादी जीवन को चिर गतिशील मानते हुए साहित्य मे नये-नये प्रयोगो के करने मे विश्वास रखता है, वह प्रगतिवादियो के समान किसी सुस्थिर और सुनिश्चित मानदण्ड से चिपकने मे विश्वास नही रखता। यही कारण है कि वह भाव और कला दोनो क्षेत्रो मे नव-नव प्रयोग का पक्षपाती है।

स्वरूप—प्रयोगवाद को वस्तुत काव्य-सम्बन्धी 'नव प्रयोग' अथवा

इससे भी और आगे बढकर अनुसन्धान ही कहना अधिक सगत होगा। इसके अनुयायियो का **'दावा केवल यही है कि ये (प्रयोगवादी कवि) अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र मे बाँधता है ····· बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नही हैं, किसी मज़िल पर पहुँचे हुए नही हैं, अभी राही हैं, राहो के अन्वेषी।'**

—तार-सप्तक की भूमिका (अज्ञेय)

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम है। प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले और नित्य नवीन रूप धारण करने वाले जीवन की अभिव्यक्ति स्थिर तथा अपरिवर्तनशील साधनो द्वारा सम्भव नही है। इसलिए प्रयोग-वादियो का विश्वास है कि भाव और भाषा के क्षेत्र मे नवीन शोध और नये प्रयोग होते रहने चाहियें। प्रयोगवादी को यह स्वीकार नही है कि जीवन अथवा साहित्य मे कभी वह स्थिति आ जाय कि जब सब-कुछ स्थिर हो जाय और आगे जो कुछ हो, उसका पुनरावर्तन-मात्र हो। यही कारण है कि अपने पूर्ववर्ती 'छायायुग' की सभी मान-मान्यताएँ इसे ठीक नही जँचती। प्रयोगवाद भावक्षेत्र मे छायावाद की अतीन्द्रिय सौन्दर्य-चेतना का विरोधी है। वह इसके स्थान पर वस्तुपरक ऐन्द्रिय चेतना का विकास करना चाहता है। छायावाद के अनुसार उसे केवल 'मसृण', 'मधुर' और सुकुमार शब्दो का प्रयोग अभीष्ट नही है। वह इनके स्थान पर 'परुष', 'अनगढ' और 'भदेस' शब्दो का समावेश कर देता है—

निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद,
मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगो पर खड़ा, नतग्रीव
धैर्य-धन गदहा

विषय की 'भदेसता' के साथ भाषा मे भी 'भदेसता' का आग्रह प्रयोगवादी करता है—

'सरग था ऊपर,
नीचे पताल था--
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था' ।

प्रयोगवाद का कहना है कि सौन्दर्य के दोनो रूप है 'मधुर' भी और 'परुप' भी । उसे किसी एक रूप तक सीमित रखना उसकी व्यापकता को सकुचित करना है । देखा जाय तो आज के वास्तविक जीवन मे पदार्थ का अनगढ और अनमिल रूप ही हमारे अधिक समीप है, इसलिए उसी की अभिव्यक्ति आज के युग की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है ।

बाह्य विधान—प्रयोगवाद भाषा के सर्वथा व्यक्तिगत प्रयोग पर बल देता है। साधारण शब्द उसके विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने मे अक्षम्य है। अत वह उनका वैयक्तिक प्रयोग करता है, अर्थात् शब्द के साधारण अर्थ मे अपनी विशिष्ट रुचि के अनुरूप अन्य अर्थ ठोसने का प्रयोग करता है । यही बात उसके अप्रस्तुत-विधान पर भी लागू होती है । परिणाम यह होता है कि सर्वथा अपरिचित और अतिरिक्त भार का बोझ न उठा सकने के कारण उसकी भाषा उसका साथ नही दे पाती, तब वह अपना काम चलाता है मनमाने साधनो से अर्थात् 'प्रयोगात्मक' प्रयोगो से— विराम-सकेत, अङ्क, सीधी-तिरछी लकीरे, छोटे-बडे टाईप, उलटे-सीधे अक्षर, लोगो और स्थानो के नाम, अधूरे वाक्य आदि । छन्दोविधान मे भी सब प्रकार के बन्धनो से मुक्त होकर प्रयोगवाद 'मुक्तछन्द' को प्रश्रय देता है । फलत प्रयोगवाद की कविताएँ एक गोरख-धन्धा-सा बनकर रह गई है। उनकी दुरूहता ही उनकी विशिष्टता है। सम्भव है प्रयोगवाद की यह स्थिति आगे चलकर सम्भल जाय, पर अभी तो उसकी प्रारम्भिक अवस्था अधिकांशत अनगढ और हास्यप्रद है ।

कवि-परिचय

(१) मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी का जन्म श्रावण शुक्ला द्वितीया सोमवार सवत् १९४३ को चिरगाँव जिला झाँसी मे हुआ। प्रसिद्ध मुसलमान कवि मुन्शी अजमेरी की देख-रेख मे इनका शिक्षण हुआ। मुन्शीजी के निकट-सम्पर्क से इनमे साम्प्रदायिक उदारता और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के विचार पल्लवित हुए। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के तत्त्वावधान मे इनकी काव्य-साधना प्रारम्भ हुई। गुप्तजी का हृदय राम-भक्ति, देशभक्ति और पुरातन के प्रति अनुरक्ति—इस त्रिवेणी का सगम-स्थल है।

रचनाएँ—

इनकी समस्त रचनाओ को बाह्य दृष्टि से दो श्रेणियो मे रखा जा सकता है—अनूदित और मौलिक।

अनूदित—विरहिणी व्रजाङ्गना—बङ्गला के सुविख्यात कवि माइकेल मधुसूदन की रचना का हिन्दी अनुवाद है, 'वीरागना', 'मेघनाद-वध' और 'पलासी का युद्ध' भी बङ्गला से अनूदित ग्रन्थ हैं।

मौलिक—इनके मौलिक ग्रन्थो को काव्य-रूप की दृष्टि से तीन श्रेणियो मे रखा जा सकता है—गीति-काव्य, खण्ड-काव्य और महाकाव्य। विषय की दृष्टि से इन्हे इतिवृत्तात्मक और भावात्मक, दो प्रकार का कहा जा सकता है।

'भारत-भारती', 'स्वदेश सगीत', 'वैतालिक', 'किसान', हिन्दू', 'पत्रावली' इन रचनाओ मे कवि के राष्ट्रीय और जातीय भाव व्यक्त हुए है। 'झकार' और 'मगलघट' भावात्मक गीति-काव्य हैं। इतिवृत्तात्मक रचनाओ का आधार सास्कृतिक और ऐतिहासिक कथानक है। 'नहुष' मे पुराण-प्रतिपादित वैदिक युग की झलक है। 'शकुन्तला' भी इसी युग से सम्बद्ध है। 'पंचवटी' और 'साकेत' रामायण-काल का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'जयद्रथ वध', 'द्वापर' महाभारत की कथा पर आश्रित है। 'शक्ति' मे

पुराण-युग प्रतिफलित हो रहा है। 'यशोधरा' 'कुणाल' और 'अनघ'— बौद्धकाल से सम्बद्ध रचनाएँ है। सिद्धराज मे मध्ययुगीन इतिहास की एक झलक मिलती है। 'काबा और कर्बला' मे इस्लाम का उदयकाल है। 'गुरुकुल' सिक्खो के दस गुरुओ की गौरवगाथा प्रस्तुत करता है। 'अर्जन और विसर्जन' ईसाई सस्कृति को मुखरित करता है। इनकी प्रसिद्ध कृतियो का सामान्य परिचय लीजिए—

भारत-भारती—इसमे हिन्दू-जाति की वर्तमान अधोगति और अतीत समृद्धि का वर्णन बडे प्रभावशाली ढग से करते हुए, उसके उज्ज्वल भविष्य की सभावना और प्रेरणा प्रकट की गई है।

जयद्रथ-वध—प्रचार और लोकप्रियता की दृष्टि से दूसरा स्थान 'जयद्रथ-वध' का है। यह एक वीर और करुण-रस-प्रधान खण्ड-काव्य है। उसमे अभिमन्यु की वीरगति से लेकर जयद्रथ-वध तक की कथा वर्णित है—

पञ्चवटी—इसमे राम-सीता के बनवास-कालीन वृत्त का वर्णन है। इसमे कवि ने सभी चरित्रो को एक सामान्य मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।

साकेत—साकेत को कवि ने अपना हृदय-धन माना है। अपने स्वर्गीय पिता के चरणो मे इसे समर्पित करते हुए आपने लिखा है—

आज श्राद्ध के दिन तुम्हें श्रद्धा भक्ति समेत।
अर्पित करता हूं यही निज कवि धन साकेत॥

इसमे श्रीराम के राज्याभिषेक से लेकर बन से वापिस आने तक का प्रसङ्ग चित्रित है। इस काव्य मे कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियो द्वारा उपेक्षित पात्र उर्मिला को अपनी सवेदनशील प्रतिभा से उभारकर गौरवान्वित किया है। इसमे लक्ष्मण, उर्मिला और भरत का त्याग-अनुरागमय जीवन मनोवैज्ञानिक भित्ति पर अङ्कित हुआ है। कैकेयी के चरित्र को भी एक सुत-वत्सला मा के रूप मे उभार कर कवि ने उसके युगयुगागत कलङ्क को धो डाला है। इसमे वियोगिनी उर्मिला का विलाप अत्यन्त

मर्मस्पर्शी स्थल है।

यशोधरा—महात्मा बुद्ध के विरक्त होकर गृह-त्याग की कथा को इस कृति मे अत्यन्त करुणापूर्ण शब्दो मे चित्रित किया गया है। यद्यपि ग्रन्थ का उपोद्घात इन शब्दो से हुआ है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखो में पानी।

परन्तु यशोधरा का चित्रण एक वीराङ्गना के रूप मे भी हुआ है। वह अबला-जीवन के आँसू न बहा कर जीवन के परीक्षा-क्षेत्र मे सन्नद्ध होकर उतरती है—

अब कठोर हो वज्रादपि ओ, कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है तुम्हारी बारी॥

यह काव्य आद्यन्त करुण रस से प्लावित है। गुप्त जी की प्रमुख कृतियो का अवलोकन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि उनका काव्य दो भिन्न धाराओ मे बॅटा हुआ है। एक वह धारा है जिसमे स्वजाति और स्वदेश की दीन दलित दशा का चित्रण है। इसमे भारतभारती हिन्दू, वैतालिक—स्वदेश-सगीत और किसान आदि रचनाएँ आ जाती है। दूसरी धारा वह है जिसमे आर्यावर्त और हिन्दू-जाति के पुरातन गौरव का अकन है। इसमे साकेत, यशोधरा, पञ्चवटी, जयद्रथवध, गुरुकुल, शकुन्तला और तिलोत्तमा आदि सम्मिलित हैं।

गुप्तजी ने केवल विनोद के लिए बहुत कम लिखा है। कला के विषय मे उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है।

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये।
उसमें तनिक उपदेश का भी मर्म होना चाहिये॥

आपकी दृष्टि भावो की विशुद्धता पर रहती है। शृंगार रस मे भी सात्विक और पावन भावनाओ को आप प्रस्तुत करते है। वासनामय चित्र आपने कही नही दिये। आपके पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धो के चित्रण मे सदा एक मधुर सयम मिलता है। गुप्त जी को भाषा पर

पूर्ण अधिकार है। इनकी भाषा मे तद्भव शब्दो की प्रधानता रहती है। प्रान्तीय शब्दो का व्यवहार भी आपकी भाषा मे हुआ है। जनी, धनी, आदि शब्द इस कोटि के है। तुक के आग्रह मे कही-कही अप्रचलित शब्दो का प्रयोग भी हुआ है।

(२) जयशकर प्रसाद

वहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न जयशकरप्रसाद के नाटक, उपन्यास तथा कथा-साहित्य पर हम पीछे यथास्थान प्रकाश डाल आये हैं। यहाँ उनके कवि-रूप की चर्चा की जाती है। उनके प्रख्यात काव्य-ग्रन्थ हैं—'कानन-कुसुम', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेम-पथिक', 'झरना', 'आँसू', 'लहर', 'चित्राधार' और 'कामायनी'। सर्वप्रथम इनकी रचनाओ का सामान्य परिचय लीजिए—

महाराणा का महत्त्व—यह एक अतुकान्त रचना है। काव्यकला की दृष्टि से इसमे और 'करुणालय' मे पर्याप्त साम्य है। हाँ, इस कृति मे सात्त्विकता का स्वर और ऐतिहासिक प्रेरणा भी पाई जाती है। अपने सैनिको से बन्दी बनाई हुई नवाब अब्दुर्रहीम की पत्नी को महाराणा प्रताप द्वारा ससम्मान लौटाया जाना इस ग्रन्थ का प्रधान विषय है।

प्रेमपथिक—इसकी रचना पहले ब्रजभाषा मे हुई थी फिर बाद में इसे खडीबोली मे रूपान्तरित किया गया। दो प्रेमी हृदयो के मर्मस्पर्शी चित्रण द्वारा इसमे निस्पृह आत्मबलिदान की भावना प्रकट हुई है—

प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना-हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्गबिहारी होने का फल पाओगे॥

झरना—यह 'छायावाद' की सर्वप्रथम कृति है। यौवनसुलभ वासना के साथ सयमवृत्ति का सघर्ष इसमे भव्य रूप मे अकित है—

करता हूँ जब कभी प्रार्थना कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की हो जाती झकार॥

'आँसू' का मुख्य विषय विप्रलम्भ-शृगार है जो कि करुणा के अभिषेक से सस्कृत होकर विश्वमगल की सौम्य कामना से पुनीत हो उठा है—

निर्भय जगती को तेरा, मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की, कल्याणी शीतल ज्वाला ।।

लाक्षणिक प्रयोगो के आधिक्य ने कही-कही अर्थबोध मे बाधा उपस्थित कर दी है।

लहर—इस रचना मे प्रकृति के भव्य चित्रो के साथ विगत के चलचित्रो का भी अकन हुआ हे। 'अशोक की चिन्ता', 'शेरसिह का आत्मसमर्पण', 'प्रलय की छाया' और 'अरी ओ वरुणा की शान्त कछार' आदि कविताओ मे कवि ने प्राचीन इतिहास को सस्वर किया है।

चित्राधार—प्रसाद जी के प्रारम्भिक जीवन की कविताओ का यह सग्रह है। कवि के किशोरावस्था की तीव्रानुभूति वस्तुत विस्मित करने वाली है। यह ब्रजभाषा और खडीबोली दोनो मे लिखित है।

कामायनी—यह प्रसादजी की अन्तिम, सर्वोत्तम और प्रौढतम काव्य-रचना है। विकास और विस्तार की दृष्टि से भी यह उनके काव्यो मे अन्यतम है। प्राचीन जलप्लावन के बाद मनु द्वारा ससार के पुनर्निर्माण की कथा इस प्रबन्ध-काव्य का प्रमुख कथानक है। काव्य का सक्षिप्त सूत्र है—मनु का पहले श्रद्धा को और फिर इडा को पत्नी रूप मे ग्रहण करना और इडा पर सर्वाधिकार करने की चेष्टा मे देवताओ के प्रकोप का भाजन बनना। अप्रस्तुत योजना के अनुसार श्रद्धा यहाँ विश्रामममयी रागप्रमुख वृत्ति के रूप मे वर्णित हुई और इडा व्यवसायमूलक बुद्धि के।

कामायनी की कथा कोरी कल्पना नही है। इसके स्रोत है—शतपथ ब्राह्मण, उपनिषद् और भागवत मे इधर-उधर बिखरे हुए जलप्लावन-कथा के निर्देश। प्रसाद जी की सार-ग्राहिणी प्रतिभा ने उन्हे व्यवस्थित करके साङ्गरूपक मूलक कथानक का आकार प्रदान किया है।

कामायनी मे महाकाव्य के सभी लक्षण चरितार्थ होते हैं। रामचरित-मानस के बाद यह ही एक महाकाव्य है जो हिन्दी-साहित्य को विश्वसाहित्य मे स्थान दिला सकता है।

प्रसाद जी ने छायावादी शैली मे मानव जीवन की व्याख्या इसमे

की है। दार्शनिक तत्त्व के आधार पर शैवतल की सुन्दर स्थापना करना भी कामायनी का एक लक्ष्य है। सुखदुखमयी सृष्टि मे समभाव से व्यवहार करना शैवतल का आदर्श है। असयत बुद्धि सघर्ष को जन्म देती है और श्रद्धा मुक्ति-मार्ग की निर्देशिका है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसाद के काव्य मे छायावाद और रहस्यवाद का प्रस्फुटन है, विभिन्न प्रकार के काव्य-रूपो का प्रयोग हुआ है। वे भारतीय सस्कृत के सफल चितेरे है, दार्शनिकता को कविता के रूप मे प्रस्तुत करना प्रसाद जैसे महान् व्यक्ति का कार्य था। गम्भीर विषय के अनुरूप इनकी भाषा भी गम्भीर एव सशक्त है—भले ही वह सामान्य जन को सुबोध न हो, पर गम्भीर एव प्रौढ साहित्य-निर्माण की क्षमता उसमे पूर्ण रूप से है। इन सब विशेषताओ के कारण बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न प्रसाद का नाम काव्यक्षेत्र मे भी अग्रगण्य है।

(३) सुमित्रानन्दन पन्त

जीवन—अल्मोडा से २५ मील दूर कौमानी नामक एक रमणीय गाँव मे पन्त जी का जन्म स० १९५७ मे हुआ था। पन्त के काव्य को उनके भौतिक वातावरण और साहित्यिक अनुशीलन ने पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। भौतिक परिवेश मे उनकी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश का विशेष महत्त्व है। यहाँ के प्राकृतिक और पर्वतीय वातावरण ने उन्हे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना का उपजीवी बनाया है। अध्ययन के क्षेत्र मे स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के साहित्य ने इनके दर्शन, ज्ञान और विश्वास को पुष्ट किया है। अग्रेजी काव्य मे प्रमुखत शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और टेनीसन की छाप इनके साहित्य पर पडी है। पूर्व और पश्चिम के समन्वयात्मक दर्शन मे पन्त जी रवि बाबू के ऋणी है।

पन्त की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, अनूदित रचनाएँ सभी क्षेत्रो मे आपने हिन्दी-साहित्य को अपनी प्रतिभा का अनुदान दिया है। उनकी रचनाओ का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) **काव्य**—उच्छ्वास, पल्लव, पल्लविनी, वीणा, ग्रन्थि, गुञ्जन,

युगान्त, युगवाणी ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल ।

(२) **नाटक**—परी, क्रीडा, रानी, ज्योत्स्ना ।

(३) **उपन्यास**—हार ।

(४) **कहानी-सग्रह**—पाँच कहानियाँ ।

पन्त की काव्य-प्रतिभा मे आरम्भ से ही विकास का क्रम रहा है । विकास-क्रम की दृष्टि से उनकी रचनाएँ तीन युगो मे विभाजित की जा सकती है—(१) छायावादी सौन्दर्य-युग, (२) प्रगति-युग, (३) आध्यात्मिक-युग ।

नीचे पन्त जी की प्रमुख काव्य-कृतियो का सक्षिप्त आलोचन प्रस्तुत किया जाता है ।

ग्रन्थि—यह पन्त का विरह-काव्य है । इसमे एक तरुण-युगल के निराश प्रणय की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है । कहा जाता है कि इसमे पन्त के जीवन के आत्मकथात्मक सकेत छिपे हैं । समस्त काव्य वेदना की विह्वलता और उद्दाम यौवन के रस से पूर्ण है ।

पल्लव—इसमे कवि के यौवनकालीन गीत सग्रहीत है । प्रकृति के मधुर और उग्र रूपो का वर्णन इसमे सजीव रूप से हुआ है । इस सग्रह की 'परिवर्तन' कविता अत्यन्त ख्याति-लब्ध है । कहा जाता है कि छायावाद का सूत्रपात इसी काव्य से हुआ है । प्रकृति का मानवीकरण भी इस कृति मे पाया जाता है । इस रचना ने भाव, भाषा और छन्द सभी क्षेत्रो मे—एक युगान्तर-सा उपस्थित किया है ।

'गुञ्जन'—इस सग्रह-ग्रन्थ मे पन्त का ध्यान प्रकृति की अपेक्षा मानव और जग-जीवन की ओर आकृष्ट हुआ है । जगजीवन अपूर्ण है, कवि पूर्ण जीवन चाहता है । यह पूर्णता सुख-दु ख के मधुर मिलन से स्थापित हो सकती है—

सुख दु.ख के मधुर मिलन से, यह जीवन हो परिपूरण ।
फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन ।।

'गुञ्जन' का 'गगावर्णन' छायावादी शैली मे प्राकृतिक सौन्दर्य का एक

मनोरम चित्रण बन पडा है ।

युगान्त—यह कवि की चिन्तनमूलक कविताओ का सग्रह है। इसे छायावाद और प्रगतिवाद के बीच की कडी कह सकते है। इस सग्रह की 'मानव' कविता मे मानव का और 'बापू के प्रति' मे आध्यात्मिकता का चित्रण है। महात्मा जी को अर्पित श्रद्धाजलि देखिए—

जडवाद जर्जरित जग में, अवतरित हुए आत्मो महान् ।
यन्त्राभिभूत जग में करने, मानव-जीवन का परित्राण ।।

युगवाणी—इस नाम से सगृहीत कविताओ पर प्रगतिवाद के साथ गाधीवाद का भी प्रभाव लक्षित होता है। इन दोनो वादो का मूल उद्देश्य जनता के शोषण का अन्त करना था। कवि को ये दोनो ग्राह्य हैं, पर अपने-अपने क्षेत्र मे—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाधीवाद ।
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद ।।

'स्वर्णकिरण'—इसमे कवि ने प्रकृति और जीवन के विषय मे आध्यात्मिक भावनाओ को व्यक्त किया है। इन कविताओ पर उपनिषदो का स्पष्ट प्रभाव है। कई कविताएँ तो वेदमन्त्रो और उपनिषदो का छायानुवाद-सी प्रतीत होती है।

भाषा और शैली—पन्त की भाषा मे चित्रमयता है। शब्द-चयन पर उनका पूर्ण प्रभुत्व है। प्रत्येक शब्द उनकी साधना और चिन्तन का द्योतक है। सस्कृत के तत्सम शब्दो के अतिरिक्त ब्रजभाषा, फारसी, उर्दू तथा अँग्रेजी की शब्दावली से भी कवि ने अपनी भाषा को समृद्ध किया है। पन्त की विशेषता है—प्रत्येक भाषा मे से कोमल, चित्रमय और कर्णसुखद शब्दो का निर्वाचन। सस्कृत भाषा मे से उन्होने रगीन शब्दो का ही चयन किया है। उन्होने नये शब्द भी गढे हैं—स्वप्निल, प्रिय, सिंगार, अनिर्वच आदि। पन्त अपनी कोमल कान्त पदावली के कारण 'कविता-कामिनी-कान्त' कहे जाते हैं। खडीबोली की खडखडाहट और खुरखुराहट को दूर करके आपने उसे सुस्निग्ध और सुकुमार बना दिया है।

उनकी भाषा लय, ताल और सगीत के अधिक निकट है।

इस प्रकार कवि पन्त ने एक के बाद एक छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद से सम्बद्ध रचनाएँ करके, उत्तरोत्तर कमनीय से कमनीयतम होती हुई अपनी भाषा-शैली द्वारा तथा काव्यत्व के माध्यम से भारतीय सस्कृति के चित्रण द्वारा अपने समकालीन उदीयमान कवियो का पथप्रदर्शन किया है।

(४) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निराला जी का जन्म माघ शुक्ला ११ स० १९५३ वि० को हुआ था। निराला जी युगप्रवर्तक कलाकार हैं। हिन्दी-साहित्य के विवर्धन और विकास मे इनकी बहुमुखी कविप्रतिभा ने पूर्ण सहयोग दिया है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **काव्य**—'परिमल', 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'अनामिका', 'कुक्कुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते', 'अपदा' और 'अर्चना'।

(२) **उपन्यास**—'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'उच्छृङ्खल', 'चोटी की पकड', 'काले कारनामे', 'चमेली'।

(३) **रेखाचित्र**—'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर', 'बकरिहा'।

(४) **आलोचनात्मक निबन्ध-सग्रह**—'प्रबन्धपद्म', 'प्रबन्ध-प्रतिमा', 'प्रबन्ध-परिचय', 'रवीन्द्र-कविता-कानन'।

(५) **जीवनियाँ**—'राणाप्रताप', 'भीम', 'प्रह्लाद', 'ध्रुव', 'शकुन्तला'। इनके अतिरिक्त इन्होने अनेक सस्कृत तथा बगला-ग्रन्थो के अनुवाद भी प्रस्तुत किये।

निराला के काव्यो मे उनकी स्वाधीन वृत्ति—भाषा, भाव और शैली—सभी क्षेत्रो मे स्पष्टतया लक्षित होती है।

निराला जी का साहित्य-सर्जन द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण से प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व हिन्दी-साहित्य एक निश्चित प्रतिबद्ध ढर्रे पर चल रहा था। छन्द मे, भाव मे—सर्वत्र बन्धन थे। निराला ने इन बन्धनो को तोडकर हिन्दी-साहित्य मे अपने क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का परिचय दिया। हिन्दी-साहित्य मे एक आँधी की तरह प्रवेश करके उन्होने

काव्य-परम्परा की सभी रूढियो और बन्धनो को वेग से बहा दिया। इस विद्रोही कलाकार का परिचय सर्वप्रथम हिन्दी-जगत् को 'अनामिका' द्वारा मिला। इसमे सकलिन कविताएँ, छन्दो के बन्धन और तुक के आग्रह से सर्वथा मुक्त थी। इनके विषय नये, भाव नये और छन्द नये थे। इस ग्रन्थ से निराला ने हिन्दी को अतुकान्त छन्द की देन दी।

भावक्षेत्र मे भी निराला ने अभिनव क्रान्ति ला दी। काव्य और सगीत मे आपने निकट सम्पर्क स्थापित कर दिया। उनके रहस्यवाद मे काव्य और सगीत का सुखद मिलन गोचर होता है। इसके साथ ही शक्ति-काव्य की देन भी उन्होने हिन्दी-साहित्य को दी है। उनके शक्ति-काव्य मे उच्छल, प्लावनमय ओज है। छायावाद की सुकुमार वृत्तियो और मसृण अनुभूतियो की तुलना मे इनके शक्ति-काव्य का ओजस्वी और दर्पपूर्ण स्वर अपना महत्त्व रखता है।

शौर्य और ओज के साथ करुणा और सहानुभूति भी निराला के काव्य मे प्रचुर परिमाण मे मिलती है। व्यग्य के चित्र भी निराला ने प्रस्तुत किये है। धर्मध्वजियो और पाखण्डियो को आपने अपने तीव्र व्यग्य का पात्र बनाया है। 'कुक्कुरमुत्ता' मे इसी भावना का प्राधान्य है।

भाषा के क्षेत्र मे भी निराला की देन महत्त्वपूर्ण है। आपने आधुनिक हिन्दी की शब्दावली और पदयोजना को प्रौढ तथा परिमार्जित करने का स्तुत्य और सफल प्रयत्न किया है।

इनकी 'परिमल' नामक रचना ने हिन्दी-साहित्य मे नवीन क्रान्ति ला दी। इसके माध्यम से निराला प्रेम और सौन्दर्य के कवि के रूप मे प्रकट हुए। इनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी कविताओ मे 'जूही की कली' प्रमुख है। प्रकृति के हृदयहारी चित्र भी इस सग्रह मे कवि ने दिये है। इस काव्य की 'भिक्षुक' और 'विधवा' करुणा-प्रधान कविताएँ है। इसमे मुक्तक, तुकान्त और अतुकान्त तीनो प्रकार के गीतो का सकलन है।

'कुक्कुरमुत्ता' व्यग्य-शैली की रचना है। अपनी सुन्दर छवि और मृदुल सौरभ पर इतारने वाले गुलाब पुष्प के सम्मुख कवि ने कुक्कुरमुत्ता

की उत्कृष्टता को व्यग्य-विनोदमय शैली मे प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। देखिये कुक्कुरमुत्ता गुलाब से किस निर्भीक स्वर से ललकार कर कह रहा है—

अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुश्बू, रगो आब।

'बेला' नामक कृति मे कवि नये प्रयोग-क्षेत्र मे उतरा है। अब वह हिन्दी गजलो को भी ढालने लगा है। कई गजले बडी मार्मिक बन पडी है-—

बिगड कर बनते और बनकर बिगडते एक युग बीता
परी और शमा रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

निराला जीवन की चतुर्मुखी भावनाओ के कवि हैं। देश, समाज, मानव-मन, प्रकृति, जगत् आदि सभी विषय उनकी कविता के आधार बने है। उनके चिन्तन मे दार्शनिकता और भावना मे हार्दिकता निहित है। भावना के क्षेत्र मे दर्शन उन्हे विशेष प्रिय है अत वे काल्पनिक और रहस्यवादी अधिक है। उन्होने हिन्दी को नवीन भाव दिये, नवीन भाषा दी और नवीन छन्दोयोजना दी। हिन्दी-जगत् उनका चिर-ऋणी रहेगा।

(५) महादेवी वर्मा

जीवन—श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सवत् १६४६ वि० मे फरुखाबाद मे एक सुशिक्षित और सुसस्कृत परिवार मे हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर मे हुई। विद्यार्थी-जीवन मे ही आपने भारतीय दर्शन का गम्भीर अनुशीलन किया।

रचनाएँ—महादेवी गद्य और पद्य दोनो मे लिखती है—

गद्य ग्रन्थ—'अतीत के चलचित्र', 'शृङ्खला की कडियाँ', 'हिन्दी का आलोचनात्मक गद्य'।

कविता—'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' और दीपशिखा', 'यामा' मे 'नीहार', 'रश्मि' और 'नीरजा' की कविताओ का सकलन है।

नीचे उनकी काव्य-रचनाओ का सक्षिप्त आलोचन प्रस्तुत किया जाता है।

'नीहार' आपकी प्रारम्भिक कविताओ का सकलन है। कई कविताओ मे वैयक्तिक दु खवाद और अध्यात्मवाद का सुन्दर समन्वय बन पडा है।

'रश्मि' नामक सग्रह मे जीवन, मृत्यु, सुख-दुख आदि विषयो पर कवयित्री का चिन्तन मौलिक रूप मे प्रकट हुआ है। 'नीरजा' मे चिन्तन-पक्ष और अनुभूति-पक्ष का सुन्दर सन्तुलन है। ये कविताएँ विरह-वेदना के माधुर्य को भव्य रूप मे व्यञ्जित करती है। इनमे प्रकृति के मानवीकरण द्वारा प्राकृतिक दृश्यो मे मानव-चेतना की सुन्दर झाकियाँ प्रस्तुत की गई है। 'सान्ध्य गीत' के गीतो मे महादेवी जी का हृदय सुख और दु ख, मिलन और विरह के सामञ्जस्य की अनुभूति से पुलकित हो उठा है। विश्व का प्रत्येक व्यापार-प्रकृति का प्रत्येक दृश्य एक ही अखण्ड ऐक्य मे अपने द्वन्द्वमय अस्तित्व को खोकर एक हो गया है—मधुर और एकमात्र मधुर—

विरह का युग आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा,
दु ख सुख मे कौन तीखा
मै न जानी और सीखा,
मधुर मुझ को हो गये सब, मधुर प्रिय की भावना ले।

महादेवी की रचनाओ मे दो भावो की प्रमुखता है—वेदना और आत्मानन्द की अनुभूति। नीहार और रश्मि मे पहला भाव प्रधान है तथा नीरजा और सान्ध्यगीत मे वेदना की प्रधानता के साथ-साथ आत्मानन्द की सवेदना भी तीव्र है। भावपक्ष की दृष्टि से कवयित्री की कविताओ को तीन कोटियो मे विभाजित किया जा सकता है—

(१) **रहस्यवादी कविताएँ**—इन कविताओ मे महादेवी ने उस निर्गुण असीम के प्रति अपनी आत्मा के आकुल प्रेम को दाम्पत्य भाव के माध्यम से प्रकट किया है। इनका रहस्यवाद भावना-भरित होने के कारण

'भावात्मक' रहस्यवाद कहाता है। देखिये, कितनी तन्मयता है कवयित्री की भावना मे—

नाश भी हूँ मै अनन्त विकास का क्रम भी
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी
तार भी आघात भी, झंकार की गति भी
पात्र भी मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ।

उसका प्रिय उसमे है फिर परिचय की आवश्यकता ही कहाँ है

तुम मुझ मे प्रिय ! फिर परिचय क्या ?

महादेवी की रहस्यानुभूति मे प्रेमपक्ष की प्रमुखता है। प्रेम मे वेदना का होना स्वाभाविक है। महादेवी जी की कविताओ का प्रधान स्वर वेदना है।

पीड़ा मेरे मानस से भीगे पट सी लिपटी है।

इसी वेदना के प्राधान्य के कारण इन्हे 'आधुनिक मीरा' कहा गया है। 'वेदना' के मर मिटने के इस अधिकार को महादेवी छोडना नही चाहती—

'क्या अमरो का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार
रहने दो हे देव अरे यह, मेरा मिटने का अधिकार'

इनकी प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी रचनाओ मे छायावादी विधान के अनुसार प्रकृति पर सचेतन व्यक्तित्व का आरोप किया गया है। प्रकृति मे कही उन्होने अपने भावो की प्रतिकृति भी देखी है—

फैलते है सांध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले।
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले ।।

और कही प्रकृति को सद्य स्नाता के रूप मे देखा है—

रूपसी तेरा घन केश पाश।
नभ गंगा की रजत धार में धो आई क्या इन्हें रात।

भाषा-शैली—महादेवी की भाषा सस्कृत-गर्भित खडीबोली है। वह परिष्कृत और सन्तुलित है। नारी हृदय के स्वाभाविक माधुर्य से

इनकी शब्दावलि मण्डित है। प्रस्तुत से अप्रस्तुत का बोध कराना आपकी प्रिय शैली है। भाव, भाषा और सगीत की त्रिवेणी उनकी रचनाओ मे पूर्णत प्रवाहित है।

(६) उदयशकर भट्ट

श्री भट्ट जी का जन्म सवत् १६५५ मे आगरा मे हुआ। ये औदीच्य ब्राह्मण है और कर्णवास, जिला बुलन्दशहर के निवासी हैं। नाटककार भट्ट जी का परिचय पीछे यथास्थान दे आये है। भट्ट जी एक सफल कवि भी है। 'तक्षशिला' और 'मानसी' इनके काव्य-ग्रन्थ है। इनकी फुटकर कविताओ के सग्रह राका, विसर्जन, अमृत और विष नाम से प्रकाशित हुए हैं।

'**विसर्जन**' नामक सग्रह मे सग्रहीत कविताओ की विशेषता है—अनुभूति की गम्भीरता और भावो की दार्शनिकता। 'मानसी' मे कवि ने जीवन की व्यथा और सामाजिक वैषम्य को अपनी कविता का विषय बनाया है। विश्व पर उसकी यथार्थवादी दृष्टि पडी है। समाज का पाखण्ड और निरीह मानव की मूक वेदना कवि के हृदय को द्रवित कर देती हैं। कवि प्रभु के न्याय पर भी कटाक्ष करता है। भाग्यवाद का वह समर्थक नही है। 'अमृत और विष' युद्धकालीन कविताओ का सग्रह है। इसमे बगाल के अकाल का हृदय-द्रावक अङ्कन हुआ है।

भट्टजी की कविता मे विरोधी वृत्तियो का एक निदर्शन मिलता है। प्रगतिवादी होते हुए भी प्राचीनता और आर्य-सस्कृति के आप प्रबल पृष्ठ-पोषक हैं। अतीत के विश्वासी होते हुए भी रूढि और परम्परा के आप प्रतिवादी है। स्वर्ग और नरक को मिथ्या-विश्वास की प्रवचना समझकर मानव के श्रम को ही आपने सर्वोपरि सम्मान दिया है—

जीवन श्वेत धार है जल की
जिसमें कोई रंग नहीं है।
जिसमें निश्चित स्वर्ग नहीं है
जिसमें निश्चित नरक नही

यह केवल मानव का श्रम है
जो सुख दुःख निर्माण कर रहा।
आशा और निराशा में हँस
रो कर अपना प्राण भर रहा।

कवि 'नव निर्माण' का उत्कट अभिलाषी है। वह पुरानी सदियो को छिन्न-भिन्न होते हुए और धर्म के विराट् ढोंग को ध्वस्त होते हुए स्पष्ट देख रहा है। कवि का विश्वास है कि इस 'महानाश' मे 'महासर्जन' भी छिपा है। वह अपने प्रिय को आगामी वसन्त पर नव विचारो के नव-मधु से स्वागत करने के लिए बुला रहा है—

ओ प्रिय ! अब मत करो भूलकर अपना वह शृंगार पुराना।
कल वसन्त में नव सुमनो का नया-नया मधु चखने आना।
नव रवि, नया स्वर्ग, नव पृथ्वी, शिव सुन्दर होंगे कह दूँ क्या ?

आपकी भाषा मे तत्सम शब्दो की प्रचुरता और यथोचित प्रयोग हुआ है।

(७) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

'नवीन' जी हिन्दी के गण्यमान्य साहित्यिको मे से है। इनका जन्म ग्वालियर राज्य मे सवत् १९५४ मे हुआ। हिन्दी-साहित्य मे इनकी प्रतिष्ठा एक क्रान्तिकारी कवि के नाते है। राजनीतिक क्षेत्र मे भी इनको पर्याप्त ख्याति मिली है। इनकी कविताएँ भावप्रधान होती हैं। उनमे हृदय की हूक और करुण वेदना की एक उद्दीप्त चिन्गारी होती है। इन की प्रकाशित रचनाएँ हैं—'कुकुम', 'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि' 'विनोबा-स्तवन' आदि।

'कुकुम' मे बल और बलिदान की प्रेरणा देने वाली कविताओ का सग्रह है। बापू के नेतृत्व मे आततायी सत्ता से शान्तिपूर्वक जूझने वाले राष्ट्रसैनिको को कवि ने दासता के पकिल जीवन की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ बताया है—

चढ चल, चढ़ चल थक मत रे ।
बलि पथ के सुन्दर जीव !
ऊपर अगम शिखर के ऊपर ।
मचा मृत्यु का रास ।
नीचे उपत्यका में—
जीवन पंकिल का है त्रास । •

राष्ट्रिय गीतो के अतिरिक्त इसमे यौवन के मादक माधुर्य का पान कराने वाले गीतो का भी समावेश है। इनमे कवि की व्यक्तिवादी स्वच्छन्द वृत्ति के भी दर्शन होते हैं।

'अपलक', 'रश्मिरेखा' और 'क्वासि' के गीतो मे कवि ने क्रान्तिवाद और विप्लव का स्वर गुँजाया है। कृषको के दोहन और शोषण को देखकर उसका हृदय करुण-वेदना से स्पन्दित हो उठा है। नवीन जी का 'विप्लव गायन' हिन्दी साहित्य का क्रान्ति-गान बन गया है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाए।

और इस तान मे ज्वालामुखी का वह दुर्दम विस्फोट है—

नियम और उपनियमो के ये
बन्धन टूक टूक हो जाएँ
विश्वम्भर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाएँ।

'विनोबा-स्तवन' मे कवि ने भूदान-आन्दोलन के संचालक सत विनोबा भावे और उसके पवित्र कार्य-कलाप को अपनी कविताजलि अर्पित की है। ये कविताएँ, आत्मोत्सर्ग और औदार्य की भावनाओ को जागृत करके नर मे नारायण की प्रतिष्ठा करती हैं। नवीन जी ने 'प्राणार्पण' नाम से एक खण्डकाव्य भी लिखा है।

भाषा—नवीन जी की भाषा अधिकाशत प्राञ्जल और सुव्यवस्थित है। कुछेक स्थलो मे विषय की भीषण गम्भीरता के कारण इसमे

क्लिष्टता भी आ गई है। इनकी शैली मे ओजपूर्ण प्रवाह है।

(८) हरिकृष्ण प्रेमी

प्रेमीजी के काव्य मे हृदय की मर्मवेदना के साथ-साथ देशप्रेम, छायावाद, रहस्यवाद, सबकी मनोहारी व्यजना हुई है। हिन्दी-भाषी जनता को 'प्रेमी' की सरस कविता से सर्वप्रथम परिचय इनकी कृति 'आँखो मे' से हुआ। इसमे प्रेममयी वेदना नाना रूपो मे अभिव्यक्त होने के लिए आतुर है। मन की मूक कामना आँखो के उज्ज्वल पट पर अंकित हो गई है—

आँखो में ही मौन निमन्त्रण
आंखो में नीरव मनुहार
आँखो में प्रियतम का आना
और पहनना आँसू हार।

महात्मा गाधी के असहयोग-आन्दोलन से प्रभावित होकर प्रेमी ने हिन्दी-जगत् को एक गीति-रूपक (ओपेरा) भेट किया—'स्वर्ण-विहान'। इसमे एक किसान के जेलजीवन की करुण-गाथा वर्णित है। अपनी अन्य कृति 'जादूगरनी' मे कवि ने छायावादी-शैली मे नारी के शक्ति रूप का वर्णन किया है। यह शक्ति अपने अलौकिक रूप मे समस्त विश्व को अपने 'मधुदान' से मुग्ध कर रही है—

तू चिर-सुन्दर, विश्व विपिन में
खिलती है, देती मधुदान।
जो मधुदान जगत की ज्वाला
को करता है शान्ति प्रदान।

इनकी अन्य प्रख्यात रचनाएँ हैं—'अनन्त के पथ पर', 'अग्नि-गान' आदि।

इस प्रकार काव्य-क्षेत्र मे 'प्रेमी' राष्ट्रवादी, छायावादी, रहस्यवादी और क्रान्तिवादी—सभी रूपो मे उपस्थित हुए हैं।

(६) रामधारीसिह 'दिनकर'

इनका जन्म स० १६६५ मे सिमरिया, जिला मु गेर (बिहार) मे एक साधारण कृषक परिवार मे हुआ।

स्कूल जीवन से ही इनकी रुचि साहित्यिक प्रयास की ओर रही है। इनके छोटे-छोटे राष्ट्रिय गीत, मनहरण, कवित्त, सवैये और समस्या-पूर्तियाँ तत्कालीन पत्रिकाओ मे छपती रहती थी। सन् १६२६ ई० मे स्वर्गीय पटेल के प्रसिद्ध 'बारदौली-सत्याग्रह' पर इनका एक गीत-सग्रह 'बारदौली विजय' नाम से प्रकाशित हुआ। तब से अब तक साहित्य की प्राय सभी शैलियो और विधाओ मे आपकी कृतियाँ प्रकाशित हो रही हैं। कवि के अतिरिक्त आप एक सुविज्ञ और सिद्धहस्त निबन्ध-लेखक तथा आलोचक भी है। अब तक इनकी ये रचनाएँ प्रकाश मे भी आ चुकी है—रेणुका, रसतन्त्री, द्वन्द्व गीन, हुंकार, धूप छाह, साम धेनी, बापू, धूप और धुआँ, इतिहास के आँसू—ये इनकी कविताओ के सग्रह हैं। प्रण-भग एक खण्ड-काव्य है। 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' सर्गबद्ध काव्य हैं। इन काव्यो मे अतीत के पात्रो द्वारा वर्तमान युग की समस्याओ की बौद्धिक और युगानुरूप व्याख्या करना कवि का अभीष्ट रहा है। कवि का विश्वास है कि क्षमा अथवा अहिसा सबल का आभूषण है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।

'रश्मि रथी' मे लेखक ने अपने अध्ययन और मनन से महाभारत के कर्ण के चरित्र को मुखरित करने की चेष्टा की है। दलितो और उपेक्षितो के उद्धार के आधुनिक युग मे दिनकर का कर्ण हजारो वर्षो से 'उपेक्षित एव कलंकित मानवता का मूक प्रतीक बन कर हमारे सामने' खडा है। उपेक्षितो के जीवन का वह सबल है। कर्ण की यह उक्ति है—

मै उनका आदर्श, कही जो व्यथा न खोल सकेंगे।
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं अपना न होगा।
मन में लियें उमंग जिन्हे चिर काल कलपना होगा।

'मिट्टी की ओर' कवि की आलोचनात्मक रचना है। सन् १९५४ ई० मे उनका एक काव्य-सग्रह 'नील कुसुम' भी प्रकाशित हुआ है। कवि ने इसमे नये युग का आह्वान किया है। दिनकर ने यह विश्वास प्रकट किया है—

धरती के भाग हरे होगे, भारती अमृत बरसाएगी।
दिल की कराल दाहकता पर, चाँदनी सुशीतल छाएगी।
ज्वालामुखियो के कंठो में, कलकठी का आसन होगा।
जलदों से लदा गगन होगा, फूलो से भरा भुवन होगा।

नर वर्तमान युग का नारायण है।० जनता ही जनार्दन है। कवि ने 'स्वर्ग के दीपक' की अन्योक्ति से जनसामान्य के स्वर-मे-स्वर मिलाने का परामर्श दिया है। दिनकर के काव्य के अनुशीलन से यह तथ्य भली भाँति प्रकट हो जाता है कि इस कवि ने हिन्दी-कविता को छायावाद की कुहेलिका से निकालकर प्रकाश की भूमि की ओर अग्रसर किया है। वे एक क्रान्तिकारी कवि हैं। प्रगतिवादी कवियो मे आपने अपने लिए एक अन्यतम स्थान बना लिया है। आपकी कविता मे पूँजीपतियो का शोषण कही-कही आग्नेय विचार भी भर देता है। राष्ट्रिय गौरव और विश्वबन्धुत्व की भावना को आपने खूब अपनाया है। दिनकर का नाम काव्य के ओज और चमत्कार का पर्याय बन गया है। 'सस्कृति के चार अध्याय' इनकी नवीनतम कृति है।

(१०) रामकुमार वर्मा

कवि रामकुमार वर्मा की मुख्य काव्य-रचनाएँ ये हैं—

अजलि, रूपराशि, चित्तौड की चिता, अभिशाप, निशीथ, चित्ररेखा, सकेत आदि वर्मा जी की कविता के दो रूप है—वर्णनात्मक काव्य और गीति-काव्य। वर्णनात्मक कविता मे रचना का आधार वातावरण होता है जिसे कवि पहले प्रस्तुत करता है। 'रूप राशि' मे सकलित दो कविताएँ 'शुजा' और 'नूरजहाँ' इसके उदाहरण रूप मे उपस्थित की जा

सकती है। 'शुजा' का इतिवृत्त मुगल-राज्यकाल की एक घटना पर आधारित है।

वर्मा जी का गीति-काव्य उदात्त कल्पना और मार्मिक भावना से पूर्ण है। इनकी गीतियो मे कवि का रहस्यवादी रूप अभिव्यक्त हुआ है। करुणा की छाया इसमे उत्तरोत्तर प्रगाढ होती चली जाती है।

वर्मा जी पार्थिव जीवन को आत्मा का प्रवास मानते हैं। वियुक्त आत्मा प्रियतम से पुर्नमिलन के लिए व्याकुल है परन्तु भौतिक जीवन उसके पथ की बाधा है। कितनी मार्मिक वेदना है कवि के शब्दो मे—

'देव मै अब भी हूँ अज्ञात
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम मिलन की बात
तुम से परिचित होकर भी
तुमसे इतनी दूर।
बढना सीख सीख कर मेरी
आयु बन गयी क्रूर।
मेरी सांस कर रही मेरे जीवन पर आघात।

वर्मा जी के गीतो की विशेषता है—उनकी भावविभोरता, सक्षिप्तता और सगीतमयता। उनमे एक तन्मयता है—आत्मसमर्पण और आत्माभिव्यक्ति की भावना से ओतप्रोत। उनकी कल्पना मे उच्चता और भाषा मे एक सरसता तथा प्रवाहमयता है।

प्रकृति से भी वर्माजी को प्रेम है। उनके गीतो मे अधिकतर प्रकृति के ललित सुकुमार रूपो की—कोकिल का कोमल स्वर, उपवन की बाला, हसता हुआ फूल, जगमगाते तारे आदि की—सुन्दर व्यजना हुई है। नैसर्गिक सुषमा कवि के हृदय की अत्यन्त प्रिय निधि बन गई है। मन के किसी प्रान्त मे वह प्रकृति के उस हास-विकासमय वैभव को पाल रहा है—

तुम सजीली हो, सजाती हो सुहासिनी ये लताएँ
क्यो न कोकिल कण्ठ मधु ऋतु में तुम्हारे गीत गाएँ

आज मैंने वह छटा अपने हृदय के बीच पा ली।
फूल सी हो फूल वाली।

(११) माखनलाल चतुर्वेदी

श्री चतुर्वेदी जी का जन्म स० १६४५ मे मध्यप्रान्त के होशगाबाद जिले मे हुआ। आप क्रान्तिकारी विचारो के अत्यन्त भावुक कवि है। जन-मन की वृत्ति और राष्ट्रिय भावना को आपने अपनी ओजस्वी शैली मे व्यक्त किया है। इनके कहने का ढङ्ग कलात्मक है। लाक्षणिक और व्यग्य-प्रयोगो से मन की बात प्रकट करना आपको विशेष प्रिय है। साकेतिकता ने इनकी कविता को कही-कही दुरूह भी बना दिया है। इनकी कविता को तीन श्रेणियो मे बॉटा जा सकता है—(१) राष्ट्रिय, (२) प्रेम-सम्बन्धी और (३) रहस्यवादी। इनकी राष्ट्रिय कविताओ मे वीरता और कर्म की प्रेरणा प्रमुख है। इनकी भाषा मे ओज और भावो मे प्रेरणा है। अपनी प्रसिद्ध कविता 'पुष्प की अभिलाषा' मे आपने एक राष्ट्रसेवी तरुण की आन्तरिक कामना को वाणी दी है। विकसित पुष्प राष्ट्र पर बलि होने वाले युवको का चरण-चुम्बन करना चाहता है—

मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ मे देना तुम फेक।
मातृभूमि पर सीस चढ़ाने जिस पथ जावे वीर अनेक॥

प्रेमात्मक कविताओ मे कवि ने प्रेम की पावनता और उज्ज्वलता को सम्मुख रखा है। इनका प्रेम वासना के पङ्क से अस्पृष्ट है। स्वय चतुर्वेदी जी ने लिखा है—'**हृदय में प्रेम के प्रबल उद्वेग होने के कारण उन कविताओ का जन्म होता है।**' 'कुञ्ज-कुटीरे यमुना तीरे' और 'लूँगी दर्पण छीन' आदि कविताओ मे इनकी प्रेम-साधना अभिव्यक्त हुई है।

इनकी रहस्यवादी कविताएँ सख्या मे कम है। इनमे सीम, असीम, शेष, अशेष, आत्मा, परमात्मा, व्यक्त, अव्यक्त—इस प्रकार के द्वन्द्वमूलक भावो की अभिव्यञ्जना हुई है। एक बानगी देखिए—

अरे अशेष! शेष की गोदी
तेरा बने बिछौना सा

आ मेरे आराध्य ! खिला लूँ
मैं भी तुझे खिलौना सा ।

चतुर्वेदी जी की निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है—

हिमकिरीटिनी, हिमतरगिणी (काव्यसग्रह), कृष्णार्जुन युद्ध (नाटक) साहित्यदेवता (गद्य-काव्य) वनवासी (कहानी-सग्रह) । अपनी कविताओ मे चतुर्वेदी जी 'एक 'भारतीय आत्मा' के नाम मे विख्यात् है ।

(१२) हरिवश राय बच्चन

आधुनिक युग के गीतिकारो मे श्री बच्चन का नाम बडे गौरव से लिया जाता है । इनका जन्म सवत् १९६४ मे इलाहाबाद मे हुआ । कविता की ओर इनकी प्रवृत्ति बाल्यावस्था से रही है । बच्चन ने जग-जीवन और समय-चक्र की कटु विषमताओ और दारुण दुर्नीतियो का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है अत जीवन की विषम परिस्थितियो से पीडित व्यक्तियो को इनके काव्य मे अपनी मानसिकता का प्रतिबिम्ब मिलता है । इनकी कविता को वादो के वृत्त मे सीमित करने का प्रयत्न आलोचको ने किया है परन्तु स्वय कवि अपनी कविता को इन बन्धनो से ऊपर समझता है । उसकी दृष्टि मे समस्त जीवन उसकी कविता का विषय है ।

हिन्दी-जगत् को बच्चन का सर्वप्रथम परिचय फारसी के प्रसिद्ध कवि उमर खैय्याम की रूबाइयो के अनुवाद से हुआ । परन्तु यह अनुवाद भी मूल रचना के मादक माधुर्य से पूर्णतया अन्वित था । बच्चन ने शाब्दिक अनुवाद की अपेक्षा खैय्याम की भावना को अपने कवि-हृदय के रस से और भी मर्मस्पर्शी बना दिया है । इनकी दूसरी कृति 'मधुशाला' हैं । रूढिवादियो के उत्कट विरोध के बावजूद भी बच्चन की 'मधुशाला' हिन्दी-जनता का हृदय-हार बनी हुई हैं । कवि ने 'मधुशाला' के आलोचको को सम्बोधित करते हुए कहा है—

बिना पिये जो मधुशाला को बुरा कहे वह मतवाला
पी लेने पर तो जायेगा पड उसके मुँह पर ताला

दास द्रोहियो दोनो में है जीत सुरा की प्यालें की
विश्व विजयिनी बन कर जग में आई मेरी मधुशाला ।

इस प्रकार यौवन के उन्माद और माधुर्य के साथ कवि हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे अवतीर्ण हुआ । बच्चन की तीसरी कृति है 'मधुबाला'। यह उनके मधुर गीतो का सग्रह है जिनमे उनके हृदय की निष्कपट ऋजुता छलक रही है ।

इन रचनाओ के उपरान्त बच्चन जी की कृतियो मे हम उनके जीवन का एक नया मोड पाते है । ये रचनाएँ है—'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त सगीत', 'आकुल अन्तर', 'विकल विश्व' और 'सतरगिनी', । 'निशा निमन्त्रण' के गीत एक गहन करुणा और दार्शनिक निराशा से ओतप्रोत है । 'एकान्त सगीत' मे कवि नैराश्य का साहस और दुर्दम बल लिये हुए समस्त ससार से ताल ठोककर लोहा लेना चाहता है । 'आकुल अन्तर' मे कवि अन्तरोन्मुख रहकर विकासशील हुआ है । उसका विकास दुर्बलता से दृढता की ओर, निराशा से आशा की ओर और निष्क्रियता से सक्रियता की ओर हुआ है । 'विकल विश्व' मे कवि विश्व की विकलता, विक्षोभ और सघर्ष से तादात्म्य करके आशा और विश्वास से जगत् के भव्य भविष्य का स्वप्न देखता है । 'सतरगिनी' मे कवि के फुटकर गीतो का सग्रह है । बच्चन जी की अन्य रचनाएँ है—'बगाल का काल' और 'हलाहल' । प्रथम ग्रन्थ का विषय नाम से ही स्पष्ट है । बच्चन की भाषा परिमार्जित है और उनकी शैली मर्मस्पर्शिनी है । उनकी भाषा मे बनाव-चुनाव नही है । वह विषय और भावो की अनुगामिनी है ।

(१३) सोहनलाल द्विवेदी

हिन्दी-जगत् मे द्विवेदी जी की काव्य-पयस्विनी बहुमुखी धाराओ मे बही है । आपकी रचनाएँ मुक्तक और प्रबन्ध दोनो रूपो मे मिलती है । आपकी कवि-प्रतिभा को देश के स्वाधीनता-सग्राम और महात्मा गाधी के लोकोत्तर व्यक्तित्व से प्रेरणा मिली है । आपकी राष्ट्रिय रचनाओ मे आपका करुणार्द्र हृदय मुखर हुआ है । भारतीय ग्रामो के चित्रण मे

आपकी सर्जन-शक्ति तीव्र हो उठी है। ग्राम-जनता का शोषण और दोहन देखकर कवि का हृदय करुणा-कातर हो उठता है। विश्व-वन्द्य बापू इनकी दृष्टि मे युगावतार बनकर उतरे है। युग-पुरुष की युग-प्रेरक झाकी देखिये—

युग बढा तुम्हारी हँसी देख,
युग हटा तुम्हारी भृकुटि देख
तुम बोल उठे, युग बोल उठा
तुम मौन बने, युग मौन बना
युग निर्माता, युग मूर्ति ! तुम्हें
युग युग तक, युग का नमस्कार !

हिन्दी-जगत् ने आपको राष्ट्रिय कवि का सम्मान्य पद दिया है। 'भैरवी', 'वासवदत्ता', 'कुणाल', 'विषपान', 'युगाधार', 'वासन्ती', 'चित्रा', 'सेवा-ग्राम', 'पूजागीत', 'प्रभाती' आदि आपकी रचनाएँ है। इनके अतिरिक्त गाधी-अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन भी आपने किया है।

'चित्रा' के भावगीतो मे कवि ने जीवन की आशा-निराशा, सुख-दु ख, प्रेम और यौवन का गान गाया है।

(१४) ठाकुर गुरुभक्तसिह

ठाकुर जी का जन्म जमनिया, जिला गाजीपुर मे स० १९५० मे हुआ। आपने भिन्न-भिन्न विषयो पर कविताएँ की हैं। इन कविताओ के सग्रह 'सरस सुमन', 'कुसुमकुञ्ज', 'वशीध्वनि' और 'वनश्री' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। 'नूरजहा' नाम से आपने एक प्रबन्ध-काव्य भी लिखा है।

गुरुभक्तसिह जी प्रकृति के अनन्य प्रेमी है। प्राकृतिक दृश्यो के बडे सुन्दर शब्द-चित्र आपने खीचे है। ये चित्रण सश्लिष्ट, स्वाभाविक और हृदयहारी होते है। ग्रामीण जीवन के चित्र इनकी रचनाओ मे बडे सरस और स्वाभाविक बन पडे हैं। 'कृषक वधूटी' मे एक किसान की बहू का चित्र कितना सुन्दर है—

कृषक वधूटी खेत काटती हँस हँस कर लेकर हँसिया
गाती गीत सुना दो मोहन प्रेम भरी अपनी बसिया
भर-भर अक उठा कर रख रख बालें दानो भरी हुई
पवन वेग से अंचल उड़ता प्यारी मानो परी हुई।

सामान्य मानवता के चित्रण मे कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। 'नूरजहाँ' मे कवि ने मेहरुन्निसा का जन्मकाल से लेकर नूरजहाँ बनने तक का समस्त वृत्त बडी भावुकता से चित्रित किया है। मेहरुन्निसा का जन्म उपा की ज्योतिरेखा के जन्म के समकाल हुआ। उसका रूप सौन्दर्य देखिये—

क्षितिज गर्भ से नव ऊषा का जन्म हुआ ज्यो ही नभ पर
ओस बिन्दु सी लगी खेलनें तृण-दल पर कन्या सुन्दर
नही ठहर सकती थी जिसकी अनुपम आभा देख नजर
ऐसी कन्या को माता ने लिया अक में अपने भर।

इनकी भाषा, सरस, सरल और मुहावरेदार है।

(१५) नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र शर्मा एक प्रगतिशील कवि है। आपने अपने युग मे घटित दारुण और रोमहर्षण परिवर्तनो को देखा है और इन परिवर्तनो को सहन कर और जीवन की विषम साधना मे सोत्साह योग देकर सच्चे ससारी बनने की कामना प्रकट की है। सहारक तत्त्वो को यह नवसर्जन का दूत कह कर स्वागत करते है—

जीवन को तो आज अग्नि की लपटों का ही गहना है
मिटने में ही बनना है अब, सहना है तो लहना है
सृजनतल बन कर निकलेगा तल आज का संहारी।

आधुनिक युग का निराशावाद इन्हे नही सुहाता। इनके विचार मे आँखो का खारा पानी बहाना और जीवन मे योग न देना अपनी मनुष्यता को खोना है—

आज कड़वा नीम मीठी,
गन्ध अग जग को लुटाता
और मै छिद वेदना से
खार के आँसू बहाता
व्यंग्य को कुछ और भी कडवा बनाया
आज इस मेरे निरर्थक नाम ने,।

आपने उत्कृष्ट गीतो द्वारा अपने पुरातन सस्कारो से मुक्ति की भावना और नवयुग के नवसन्देश को उल्लासपूर्वक क्रियान्वित करने के भावो को व्यक्त किया है। इनके गीत यथार्थवादी है। मनुज को भू पर स्वर्ग-निर्माण करना था, बुद्धि से जगजडता मे प्राण-प्रतिष्ठा करनी थी। पर शोक कि मानव क्या कर रहा है—

एक दूसरे का अभिभव कर, रचने एक नये भव को
है संघर्ष निरत मानव, जब फूँक जगतगत वैभव को।

शर्मा जी ने लौकिक प्रेम के गीत भी गाये है। इनकी शृङ्गार-भावना कही-कही वासना-जनित नग्नता का रूप भी ले लेती है। पर ऐसे स्थल बहुत कम है।

आपके तीन काव्य-सग्रह प्रकाशित हो चुके है—'प्रवासी के गीत' 'पलाश वन', 'मिट्टी और फूल'। इनके अधिकाश गीत मै या मेरे' से प्रारम्भ होते हैं जिनमे अहम्भाव व्यजित होता है।

(१६) शिव मगलसिह 'सुमन'

'सुमन' के हृदय ने सुमन की सुकुमार वृत्ति को अपनाया है। उनकी कविता मे उनका भावार्द्र हृदय पीडितो, शोषितो के मौन क्रन्दन का स्वर देने के लिए उमडा है। दलित मानवता का त्राण पुरानी जर्जर रूढियो को त्यागकर प्रगति की सतत साधना करने मे है। कवि का सबल है उसका 'चिरनूतन विश्वास' और 'अमर-प्रणय मे प्राणनिलय की पवित्र भावना। वह 'दीवाना' अपनी साधना के पथ पर गिरता, पडता और उठता-सभलता बढा जा रहा है—

हम चिर नूतन विश्वास लिए
प्राणो में पीड़ा पाश लिए
मर मिटने की अभिलाष लिए
हम मिटते रहते हैं प्रतिपल, कर अमर प्रणय में प्राणनिलय
हम दीवानो का क्या परिचय ।।

'सुमन' को निराशावाद और रहस्यवाद से चिढ है। वह लिखता है कि हमारा कवि समाज **'किसी ऐसे दूसरे लोक की खोज में निकल पड़ता है जिसमें जीवन की कठोर वास्तविकता का सामना न करना पड़े और क्षितिज पार की अनन्तता में लीन हो। प्रिय और प्रियतम के शाश्वत मिलन का स्वप्न देखता रहे।'** परन्तु स्वय 'सुमन' ने इस छोटे से जीवन मे जो 'शाश्वत' देखा है उसका परिचय उसके अपने शब्दो मे लीजिए—

शाश्वत यह आना जाना है
क्या अपना और बिराना है
प्रिय में सब को मिल जाना है
इतने छोटे से जीवन में, इतना ही कर पाए निश्चय ।।

'जीवन के गान', 'प्रलय सृजन' और 'हिल्लोल' इनके उत्तम काव्य-सग्रह है। कवि की भाषा स्वाभाविक और प्रौढ है। छन्दो पर असाधारण अधिकार है। कल्पना स्पष्ट है और व्यापक है और सदेश प्रगतिशील है।

(१७) श्यामनारायण पाण्डेय

श्री पाण्डेय जी का जन्म सवत् १९६७ की श्रावण कृष्ण पचमी को आजमगढ जिला के डुमॉव गाँव मे हुआ। इनकी प्रथम रचना 'त्रेता के दो वीर' है जिसमे लक्ष्मण और मेघनाद की विक्रम-गाथा का वर्णन विविध छन्दो मे किया गया है। 'माधव' और 'रिमझिम' इनकी दो अन्य छोटी-छोटी कृतियाँ हैं।

'हल्दीघाटी' इनका वीरगाथात्मक प्रबन्ध-काव्य है। इस ग्रन्थ मे कवि की प्रतिभा का विकास हुआ है। इसमे महाराणा प्रताप के जीवन की घटनाओ का अत्यन्त ओजस्वी और प्रवाहमयी शैली मे अकित

किया गया है। प्रताप के लोकप्रसिद्धवृत्त मे चरित्र-विकास के औचित्य की दृष्टि से इन्होने बीच-बीच मे अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन भी किये हैं, परन्तु इनसे ऐतिहासिक सत्य को विशेष क्षति नही पहुँची। इस काव्य की शब्द-योजना मे वीर रस का एक प्राणमय स्पन्दन है। छन्दो की भाषा प्रवाहमयी और वेगवती है। अनेक स्थलो पर तो छन्दो के उच्चारण मात्र से ही युद्ध का भीषण प्रसग मूर्तिमान हो उठता है। महाराणा प्रताप की तलवार का स्फूर्त रूप देखिए—

'पैदल से हय दल गज दल में, छपछप करती वह निकल गयी।
क्षण कहाँ गई कुछ पता न फिर देखो चमचम वह निकल गई।
क्षण इधर गई, क्षण उधर गई, क्षण चढ़ी बाढ़ सी उतर गयी।
था प्रलय चमकती जिधर गई, क्षण शोर हो गया किधर गई।

पाण्डेयजी की राजपूताना की वीरगाथाएँ बडी प्रिय हैं। 'जौहर' काव्य मे पद्मिनी की गाथा को अमर करने का आपने प्रयास किया है। 'हल्दी घाटी' लिखकर उन्होने खडीबोली की वीररसात्मक कविता मे युग-प्रवर्तन किया है।

३. विविध साहित्य

आधुनिक युग मे हिन्दी-साहित्य के अन्य रूपो का विकास द्रतगति से हो रहा है। जीवनी, इतिहास, रेखाचित्र, कला तथा ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयो से सम्बद्ध प्रचुर साहित्य लिखा जा रहा है जिसका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थ हिन्दी मे अधिकारी विद्वानो ने लिखे है। गौरीशकर हीराचन्द ओझा, वासुदेवशरण अग्रवाल, जयचन्द्र विद्यालकार, डॉ० ईश्वरी प्रसाद, सत्यकेतु विद्यालकार, पं० भगवद्दत्त आदि के ग्रन्थो का विषय-प्रतिपादन तथा गवेषणा—दोनो दृष्टियो से अग्रेजी के प्रख्यात ग्रन्थो से तुलना की जा सकती है।

(२) आत्मकथा और जीवनी के क्षेत्र मे भी सुन्दर ग्रन्थों की कमी

नही है। प्रामाणिक रूप से जीवनी-साहित्य का निर्माण करने वालो मे देवीप्रसाद मुन्सिफ, राधाकृष्ण दास, सम्पूर्णानन्द, रामचन्द्र वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आत्मकथा-परक साहित्य का भी हिन्दी मे अभाव नही है। देश के महान् नेताओ—महात्मा गान्धी, प० जवाहरलाल नेहरू, आदि की आत्मकथाओ का सुन्दर अनुवाद हुआ है। भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा राष्ट्रभाषा मे ही प्रस्तुत की है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास आदि ने भी साहित्यिक शैली मे आत्मकथाएँ लिखी थी।

(३) रायकृष्ण दास, डॉ० मोतीचन्द, भातखण्डे, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने ललित कलाओ के विषय मे सुन्दर पुस्तके लिखी है। रेखा-चित्र और सक्षिप्त जीवनी के क्षेत्र मे बनारसीदास चतुर्वेदी, कन्हैया-लाल मिश्र प्रभाकर और पद्मसिह शर्मा 'कमलेश' की सेवाएँ सराहनीय हैं।

(४) भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र पर डॉ० भगवानदास आचार्य नरेन्द्रदेव, भरतसिह उपाध्याय, गुलाबराय, आचार्य विश्वेश्वर आदि की सुन्दर कृतियाँ उपलब्ध है।

(५) अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, शिक्षाशास्त्र तथा आयुर्वेद-शास्त्र पर प्रचुर मात्रा मे ग्रन्थ-प्रणयन हुआ है।

(६) भारत की राजभाषा (राष्ट्रभाषा) हिन्दी के स्वीकृत हो जाने के कारण अग्रेजी के वैज्ञानिक, प्राविधिक तथा व्यावहारिक शब्दो का हिन्दी-रूपान्तर तैयार हो रहा है। डा० रघुवीर, राहुल साकृत्यायन आदि विद्वानो ने शब्दकोश-निर्माण का स्तुत्य कार्य किया है। भारत सरकार की ओर से भी शब्द-निर्माण का कार्य उच्च स्तर पर चल रहा है। इस दिशा मे डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा और डॉ० यदुवशी की अमूल्य सेवाएँ उल्लेखनीय हैं।

(७) विश्वविद्यालयो मे पठन-पाठन के उपयुक्त हिन्दी की प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तके निर्मित हो रही हैं।

(८) साहित्य के इन अगो के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से हिन्दी भाषा का प्रचार और प्रसार हो रहा है। पत्रकारिता, विषय-

सामग्री तथा भाषा-शैली की दृष्टि से ये पत्र-पत्रिकाएँ दिन-प्रतिदिन उन्नत होती जा रही है।

आशा है ज्यो-ज्यो हिन्दी-गद्य की विविध शैलियो और रूपो का विकास होगा त्यो-त्यो हिन्दी भाषा और साहित्य का भी प्रचार बढ़ेगा। प्रान्तीय भाषाओ के मुहावरे, शब्द तथा शैलियो के सम्मिश्रण से हिन्दी का क्षेत्र-विस्तार भी सम्भव है।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का नवीन साहित्य न केवल भारत मे निर्मित हो रहा है, अपितु विदेशी सरकारो ने इसका निर्माण प्रारम्भ करके इसके गौरव को प्रकारान्तर से स्वीकृत किया है। इस दिशा मे रूस-सरकार तथा अमेरिका-सरकार का नाम उल्लेख्य है। मौलिक ग्रन्थ-निर्माण के अतिरिक्त उन देशो की भाषा के प्रख्यात ग्रन्थो का हिन्दी भाषा मे तथा प्रख्यात हिन्दी-ग्रन्थो का उन देशो की भाषा मे अनुवाद-कार्य हो रहा है। इधर हिन्दी-रूसी तथा रूसी-हिन्दी शब्द-कोष भी निर्मित हो रहे हैं। यह प्रयास भारत और दूसरे देशो के बीच साहित्यिक मिलन के साथ सास्कृतिक मिलन मे सहायक सिद्ध होगे—इसमे तनिक भी सन्देह नही।

उपसंहार

हिन्दी-भाषा और साहित्य के एक सहस्र वर्ष के इतिहास पर दृष्टि-पात करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपभ्रश के उद्गम स्थान से प्रादुर्भूत पुरानी हिन्दी ने अनेकानेक परिवर्तनो के बीच अपना जो स्वरूप बनाये रखा वह जीवित भाषा का ही रूप है। किसी भी जीवित भाषा को एक सहस्र वर्ष की लम्बी अवधि तक सतत प्रवहमान रहने के लिए परिस्थितियो के सम-विषम दुर्द्धर्ष आघात सहने की क्षमता जुटाना अनिवार्य है। जो भाषा अपनी चेतना को परिस्थिति-जन्य प्रभाव से अक्षुण्ण रखती हुई आगे बढने का मार्ग खोज निकालती है, उसका सहार न तो विदेशी शासन की क्रूरताएँ कर सकती हैं और न विषम

परिस्थितियो के आघात-प्रघात ही उसे नष्ट कर सकते है। जो भाषा महाकवि चन्द से महाकवि पन्त तक अपना अस्तित्व बनाये हुए है वह भाषा, बोली और विभाषा के विविध रूपो मे भी जीवित रहकर अपनी सबल प्राणशक्ति का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

शौरसेनी-अपभ्रशाभास डिगल-पिगल, अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देली, बैसवाडी, राजस्थानी, भोजपुरी आदि विविध रूपो वाली हिन्दी ही आज खडीबोली के परिनिष्ठित रूप मे हमारी राजभाषा बनी है। आज इसके विभिन्न रूप प्रान्तीय सीमाओ मे केवल बोलचाल या काव्य-निर्माण तक सीमित हैं—परन्तु राजभाषा है खडीबोली। खडीबोली का साहित्य जिस द्रुत-गति से आगे बढ रहा है, यह इस बात का प्रमाण है कि हमारी राष्ट्रिय चेतना के पीछे एक-भाषा की चेतना भी काम कर रही है।

वर्तमान युग मे कविता के विविध रूपो—उपन्यास, नाटक और कहानी का विपुल विस्तार, आलोचना और निबन्ध की नूतन शैलियो का आविष्कार, पत्र-पत्रिकाओ द्वारा भावाभिव्यक्ति की अभिनव पद्धतियो का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी भाषा और साहित्य राष्ट्रिय-चेतना का प्रतीक बन रहा है। ज्यो-ज्यो राष्ट्र-भाषा के प्रति जन-जागरण होगा त्यो-त्यो हमारी भाषा भी समृद्ध होती हुई व्यापक रूप धारण करेगी। विगत पच्चीस-तीस वर्षो मे—विशेषत भारत-विभाजन के पश्चात् हिन्दी-साहित्य मे जो सर्जनात्मक तथा अनुसन्धानात्मक विविध नव-निर्माण हुआ है वह उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। हमे उस दिन का मगलस्वरूप देखना चाहिए जब हमारी भव्यरूपान्विता राजभाषा हिन्दी विश्व के रगमच पर भारतीय भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यापक भाषा बन जाएगी।